गद्य-भारती

उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए

'काव्य-भारती' एवं 'गद्य-भारती' के निर्माण में कृपापूर्ण योगदान के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् निम्नलिखित विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती है :

डा० नगेन्द्र, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० विद्यानिवास मिश्र, डा० रामेश्वर लाल खंडेलवाल 'तरुण', डा० रामप्रकाश अग्रवाल, श्री ब्रजभूषण लाल शर्मा, श्री विपिनबिहारी वाजपेयी, श्री रामसंजीवनसिंह, डा० कैलाशचंद्र भाटिया, डा० मिथिलेश कांति, डा० सत्यदेव चौधरी, श्री विष्णुकांत शास्त्री, श्रीमती मन्नू भंडारी, श्री मानसिंह वर्मा, डा० सुरेशचंद्र त्रिपाठी, श्री नंद चतुर्वेदी, श्री नेपालनाथ मिश्र, श्री होतीलाल भारद्वाज, श्री सरोजकुमार, डा० सुरेशचंद्र सेठ, श्री रमापति शुक्ल, श्री सत्यनारायण लाल, श्री निरंजनकुमार सिंह, श्री आनंदप्रकाश व्यास, डा०संकटाप्रसाद उपाध्याय, डा० रामशरण पांडेय, श्री हरिदत्त जोशी, श्री रामप्रकाश वशिष्ठ, डा० बरसाने लाल चतुर्वेदी, डा० हरिप्रसाद राजगुरु, श्री पुरुषोत्तमलाल तिवारी, श्री पुरुषोत्तमलाल गुप्त, श्रीमती सत्या कथूरिया, श्री भगवत रावत, श्री प्रेमदत्त शर्मा, श्री वेदव्यास, श्री जयपाल सिंह तरंग, श्री कौस्तुभ पंत, श्री महानंद वर्मा।

गद्य-भारती

उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्

प्रथम संस्करण
जुलाई १९७३
आषाढ़ १८९५
पुनर्मुद्रण
मार्च १९७४
चैत्र १८९६
P. U. 55 T

मूल्य
रुपये ४.१५ पैसे

प्रकाशन विभाग में, सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् श्री अरविंद मार्ग, नई दिल्ली १६ द्वारा प्रकाशित एवं मॉडर्न ऑफ़सेट प्रिंटर्स, ९/४६, इंडस्ट्रियल एरिया, कीर्तिनगर, नई दिल्ली १५ में मुद्रित ।

प्राक्कथन

विद्यालय स्तर पर शिक्षा में सुधार के लिए राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् ने जो अनेक योजनाएँ चलाई हैं उनमें से एक प्रमुख योजना अच्छी पाठ्यपुस्तकों का निर्माण है। इस योजना के अंतर्गत हिन्दी पाठ्यपुस्तक समिति तथा हमारे विभाग के सहयोग से सात वर्ष पूर्व 'काव्य-संकलन' एवं 'गद्य-संकलन' नामक दो पाठ्यपुस्तकों का निर्माण किया गया था जो तब से अनेक राज्यों में अपने मूल या कुछ परिवर्तित रूप में निर्धारित रही है। इस बीच इन पुस्तकों के विषय में अध्यापकों से प्रतिक्रियाएँ व सुझाव समय-समय पर प्राप्त होते रहे। अनुसंधान संस्था होने के नाते हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम नवीन उपयोगी दृष्टिकोणों से पाठ्यपुस्तकों का निर्माण करते रहें। इसलिए अब से तीन वर्ष पूर्व हमने उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के लिए गद्य और कविता की नई पाठ्यपुस्तकें तैयार करने के उद्देश्य से अनुभवी अध्यापकों, अध्यापक-प्रशिक्षकों एवं विश्व-विद्यालय-प्राध्यापकों की कार्य-गोष्ठियों की एक शृंखला आरंभ की थी। इन गोष्ठियों में नई पाठ्य-पुस्तकों के निकष, पाठ्यवस्तु का स्वरूप व परिमाण, प्रश्न-अभ्यास आदि के स्वरूप पर विस्तारपूर्वक विचार हुआ। तदनुसार पाठ्य-सामग्री का चयन व संपादन किया गया।

गद्य-भारती पाठ्यपुस्तक के निर्माण में प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित रहे हैं:

१. छात्रों को आधुनिक हिन्दी-गद्य की विधाओं—निबंध, कहानी, जीवनी, आत्म-कथा, संस्मरण, पत्र, यात्रा-वर्णन, रिपोर्ताज, रेखाचित्र आदि के कुछ उत्तम अंश अध्ययन के लिए मिल सकें।

२. उन्हें सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक, नैतिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय, प्राकृतिक, कलात्मक क्षेत्रों के विषयों पर ज्ञानवर्धक, विचारोत्तेजक एवं रोचक सामग्री पढ़ने को मिल सके।

३. आधुनिक हिन्दी-गद्य-लेखन की विभिन्न शैलियों से छात्रों का परिचय हो सके।

४. हिन्दी गद्य के प्रमुख लेखकों से छात्रों का परिचय हो सके।

५. छात्रों को भाषा एवं शैली की दृष्टि से प्रभावी लेखन के लिए उपयुक्त नमूने मिल सकें, जिनके अध्ययन से छात्रों की अभिव्यक्ति-क्षमता का विकास हो सके।

६. उनमें सही जीवन-दृष्टि का विकास हो सके और मानव-मूल्यों के संस्कार पड़ सकें।

७. इस पुस्तक के अध्ययन द्वारा छात्र ज्ञान-वृद्धि एवं मनोरंजन के लिए आगे स्वतः पढ़ने में प्रवृत्त हो सकें।

आशा है, यह पुस्तक इन उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकेगी।

गद्य-भारती का संपादन विभाग के श्री अनिल विद्यालंकार एवं श्री शशिकुमार शर्मा ने किया है। इस कार्य में विभाग के ही डा० माणिकलाल चतुर्वेदी एवं प्रकाशन विभाग के संपादक श्री प्रभाकर द्विवेदी ने भी सहायता प्रदान की है। समय-समय पर आयोजित कार्यगोष्ठियों में अनेक विद्वान अध्यापकों, प्राध्यापकों, अध्यापक-प्रशिक्षकों और साहित्यकारों से बहुत उपयोगी परामर्श व सहयोग प्राप्त हुआ है। विभाग की तथा अपनी ओर से इन सभी विद्वानों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने में हमें हार्दिक प्रसन्नता है।

इस पुस्तक को आगामी संस्करणों में और अधिक उपयोगी बनाने के लिए सुझावों का स्वागत करने में हमें हार्दिक प्रसन्नता होगी।

त्रिभुवनशंकर मेहता
प्रभारी अध्यक्ष
सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी विभाग

१ जनवरी, १९७३
नई दिल्ली

विषय-सूची

प्रथम भाग

भूमिका

गद्य का स्वरूप :

साहित्य को रूप और प्रकृति की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है—गद्य और काव्य। इन दोनों प्रकार के साहित्य की भाषाशैली और विषयवस्तु में बहुत अंतर रहता है। गद्य हमारी स्वाभाविक अभिव्यक्ति है, हम अपना दैनिक कार्य-व्यापार इसी के माध्यम से संपन्न करते हैं। निजी जीवन में पत्र, डायरी आदि और साहित्य में कहानी, उपन्यास, निबंध, जीवनी, नाटक, रिपोर्ताज आदि का माध्यम भी गद्य ही है। पर, प्रायः सभी देशों का प्राचीनतम साहित्य पद्य में मिलता है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि पद्य के लयात्मक और प्रायः तुकांत होने के कारण उसे याद रखने में आसानी होती है। लिखित गद्य साहित्य का विकास अपेक्षाकृत बाद में हुआ है। किन्तु आधुनिक काल में गद्य साहित्य की उपयोगिता एवं मात्रा काव्य साहित्य से बहुत ज्यादा बढ़ गई है। आजकल हमारा अधिकांश साहित्य गद्य में ही लिखा जा रहा है।

पद्य में प्रायः कविता लिखी जाती है। पर, यह आवश्यक नहीं है कि छंद में लिखी हुई प्रत्येक चीज़ कविता हो। साथ ही यह भी अनिवार्य नहीं है कि कविता पद्य में ही लिखी जाए। हम अनेक छंदोबद्ध रचनाओं को भी गद्यात्मक कहते हैं, क्योंकि उनमें संवेदनशीलता का नितांत अभाव होता है, और बोधवृत्ति का प्राधान्य रहता है। पद्य में लय और तुक का स्थान प्रमुख होता है जिसके कारण वाक्यगत शब्दों के साधारण क्रम में परिवर्तन भी करना पड़ता है। आधुनिक कविता अधिकतर अतुकांत होती है, पर उसमें भी लय का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इसके विपरीत गद्य की भाषा में लय का स्थान नगण्य है। इसका प्रमुख लक्ष्य सहज, सरल, सीधे और निश्चित प्रयोजनयुक्त शब्दार्थ प्रेषित करना है। मस्तिष्क में जिस क्रम से विचार आते जाते हैं, हम गद्य में उन्हें उसी क्रम से बोलते या लिखते चले जाते हैं, जबकि कविता में संवेदनात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए शब्दों को विशेष सावधानी से चुनकर उनको विशिष्ट क्रम में प्रस्तुत करना पड़ता है।

गद्य के विषय प्रायः वे होते हैं जिनके बारे में हम सोचते अधिक हैं। गद्य प्रायः बोध, व्याख्या,

तर्क, वर्णन एवं कथा के लिए उपयुक्त माध्यम है, क्योंकि इसमें सहजता, सरलता एवं स्पष्टता के अलावा व्याख्या प्रस्तुत करने की भी क्षमता होती है। कविता के विषय प्रायः वे होते हैं जिनके बारे में हम तीव्रता से अनुभव करते हैं। गद्य में हम तर्क-वितर्क करते हैं, कविता में विशेष अनुभूतियाँ जगाने का प्रयत्न करते हैं। इसीलिए प्रायः कहा जाता है कि गद्य मस्तिष्क की भाषा है और कविता हृदय की। मस्तिष्क तर्क-वितर्क, चिन्तन-मनन तथा विवेकपूर्वक निर्णय लेने का कार्य करता है। हृदय नाना भावों-अभावों, रागों-विरागों, संवेगों-आवेगों आदि का क्रीड़ास्थल है। संक्षेप में गद्य लेखन में मुख्य भूमिका मस्तिष्क को निभानी पड़ती है और काव्य में हृदय को।

जब हमारे मस्तिष्क को किसी प्रश्न, समस्या अथवा जिज्ञासा का हल खोजना होता है तब बुद्धि तरह-तरह के तर्क-वितर्कों और सोच-विचारों आदि में उलझ जाती है। इस आंतरिक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति गद्य में ही संभव है। गद्य में तथ्यों एवं सिद्धांतों का विवेचन होता है। लेखक अपनी बात मनवाने के लिए तर्क उपस्थित करता है, समझाता है, उदाहरण देता है तथा विश्लेषण प्रस्तुत करता है। विचारों में यदि कोई व्यवस्था न हो, क्रम न हो, तर्क-शृंखला न हो तो हल खोज पाना सरल नहीं होता। इसलिए चिन्तन की लिखित अभिव्यक्ति में शब्दों को नियमों की मर्यादा एवं व्यवस्था में बाँधना पड़ता है। इससे गद्य में अपेक्षाकृत अधिक गंभीरता एवं स्पष्टता आ जाती है, यद्यपि इससे अभिव्यक्ति की सरसता में कुछ कमी हो जाती है।

गद्य इस दृष्टि से भी सरल होता है कि वह व्याकरण के नियमों और प्रयोगों को ग्रहण करके ही विचारों को व्यक्त करता है, और उसमें कलात्मकता का आग्रह भी कम होता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अच्छा गद्य लिखना आसान काम है। गद्य-लेखक को एक साथ दो बातें निभानी पड़ती हैं—तर्कपूर्णता एवं स्पष्टता। गद्य में विचार की क्रमबद्ध शृंखला एवं भाषा की स्पष्टता आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। पद्य को विचार की क्रमबद्ध स्पष्टता से छुटकारा मिल जाता है। कविता संकेतों में बात करती है, जबकि गद्य व्याख्यात्मक होता है। कवि अपनी अनुभूतियों और भावों की ओर संकेत करके ही संतुष्ट हो जाता है। किन्तु गद्य लेखक हमेशा ही सावधान रहता है कि वह अपनी बात इतनी स्पष्टता से कहे कि पाठक उसे उसके यथार्थ रूप में ग्रहण कर सके।

निश्चित, विशिष्ट एवं स्पष्ट अर्थवाले शब्द गद्य के लिए विशेष उपयोगी हैं। काव्य में संश्लिष्ट और अस्पष्ट अर्थवाले शब्दों का प्रयोग अधिक होता है।

कविता में अलंकारों का काफ़ी प्रयोग होता है, जबकि गद्य की भाषा में अलंकार कहीं-कहीं ही दिखाई देते हैं।

गद्य में प्राय: शाब्दिक अर्थग्रहण से काम चल जाता है, जबकि काव्य में शाब्दिक अर्थ के ऊपर उठकर व्यंग्यार्थ को भी समझना होता है।

इस प्रकार गद्य और कविता की आत्मा और बाह्य शरीर दोनों में ही काफ़ी अंतर है।

प्रयोग और प्रयोजन की दृष्टि से गद्य की भाषा तीन प्रकार की होती है—दैनिक कार्यकलाप की भाषा, शास्त्र या तर्क भाषा और साहित्यिक भाषा। पहले प्रकार में दो या अधिक व्यक्तियों के बीच चलनेवाला साधारण वार्तालाप और लिखित रूप में मित्र, संबंधी आदि के साथ किए जानेवाले पत्राचार आदि आते हैं। दूसरे प्रकार में शास्त्रीय तथा वैज्ञानिक विषयों के विवेचन, विश्लेषण, अनुशीलन आदि की भाषा आती है जिसमें परिभाषित शब्दावली का प्रयोग होता है और शब्दों का केवल निश्चित अर्थ में प्रयोग होता है। इन दोनों प्रकार की गद्य-शैलियों का प्रयोजन सर्वथा व्यावहारिक है।

निबंध, कथा-साहित्य आदि की भाषा तीसरे प्रकार के अंतर्गत आती है। इस प्रकार का गद्य साहित्यिकता से ओत-प्रोत होता है, सौन्दर्य-समन्वित होता है। इस प्रकार की शैली अलंकारयुक्त होती है जिसके फलस्वरूप इसकी प्रेषणीय क्षमता बढ़ जाती है। इसी प्रकार के गद्य-साहित्य के नमूने इस पुस्तक में संगृहीत हैं।

गद्य की विधाएँ

आज लिखित गद्य अनेक रूपों में उपलब्ध है: कहानी, उपन्यास, निबंध, जीवनी, आत्मकथा, संस्मरण, रेखाचित्र, पत्र, डायरी, नाटक, एकांकी, रिपोर्ताज, आदि। इनमें से कहानी गद्य की सबसे प्राचीन विधा है और कदाचित् सबसे समृद्ध भी। शेष विधाओं का विकास अपेक्षाकृत बाद में हुआ है। प्रत्येक विधा विषय-प्रतिपादन, प्रस्तुतीकरण भाषा-शैली, आदि की दृष्टि भिन्न होती है।

नीचे गद्य की प्रमुख विधाओं का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है—

निबंध

हिन्दी में निबंध का विकास आधुनिक काल में ही हुआ है। निबंध शब्द 'लेख' और 'प्रस्ताव' का पर्याय है, किन्तु साहित्यिक जगत में इसका प्रयोग एक विशेष प्रकार की गद्य रचना के लिए रूढ़ हो गया है जिसमें लेखक का व्यक्तित्व न्यूनाधिक मात्रा में अवश्य प्रतिबिम्बित हो। 'निबंध' शब्द नि+बंध से बना है जिसका अर्थ भली प्रकार से बंधी हुई रचना होता है। किन्तु वास्तविकता यह है कि यह अपने शाब्दिक अर्थ के विपरीत बंधन-हीन-सा होता है। इसमें किसी विशेष विषय, विधि या

प्रस्तुतीकरण का एक सीमा तक तो आग्रह रहता है, किन्तु निबंधकार इस बात के लिए स्वतंत्र है कि वह किसी भी बात को सर्वथा नए ढंग से प्रस्तुत कर सकता है। उसपर वह अपनी सर्वथा मौलिक प्रतिक्रिया व्यक्त कर सकता है। फलतः निबंध एक ऐसी कलाकृति बन जाता है जिसके नियम प्रायः लेखक द्वारा ही आविष्कृत होते हैं। इस प्रकार निबंधकार का व्यक्तित्व निबंध का प्रमुख तत्त्व होता है। उसे अपना जीवन-अनुभव को बड़ी आत्मीयता से प्रस्तुत करना होता है। निबंध किस विषय पर लिखा जाए, इस संबंध में किसी प्रकार की सीमा नहीं है। निबंध किसी भी विषय पर लिखा जा सकता है, और अपने अभीष्ट विषय के संबंध में विचार व्यक्त करने की लेखक को पूरी स्वतंत्रता रहती है। निबंधों की भाषा-शैली भी तभी प्रभावशाली होता है जबकि उसपर लेखक के व्यक्तित्व की छाप हो।

निबंध सामान्यतः चार प्रकार के होते हैं (१) कथात्मक (२) वर्णनात्मक (३) विचारात्मक और (४) भावात्मक। प्रथम प्रकार के निबंधों में काल्पनिक वृत्त, आत्मचरितात्मक प्रसंग, पौराणिक आख्यान आदि का प्रयोग किया जाता है, जैसे, दिनकर का 'कबीर साहब से भेंट।' वर्णनात्मक निबंधों में प्रकृति या मनुष्य-जीवन की घटनाओं का वर्णन होता है, यथा, डा० विद्यानिवास मिश्र का 'रुपहला धुआँ'। चिन्तन-प्रधान या विचारात्मक निबंधों में लेखक किसी विषय पर अपने विचार सुसंबद्ध रीति से अपने विशेष दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत करता है। गुलाब राय जी का 'भारत की सांस्कृतिक एकता' या विनोबा जी का 'जीवन और शिक्षण' विचारात्मक निबंध के सुंदर उदाहरण हैं। भावात्मक निबंधों में लेखक के हृदय से निस्सृत भावधारा ही विचारसूत्र का नियंत्रण करती है। लेखक का उद्देश्य अपनी किसी सरस अनुभूति को पाठक के हृदय तक पहुँचाना होता है। ऐसा निबंध अनुभूति की दृष्टि से कविता के निकट पहुँच जाता है। इस संकलन में डा० भगवतशरण उपाध्याय का 'मैं मजदूर हूँ' और डा० रघुबीर सिंह का 'फतहपुर सीकरी' भावात्मक निबंधों के उदाहरण हैं।

नाटक

साहित्य को एक अन्य दृष्टिकोण से दो भागों में बाँटा जाता है—श्रव्य और दृश्य। जो साहित्य केवल पढ़ा या सुना जा सके उसे श्रव्य, और जो देखा भी जा सके उसे दृश्य साहित्य कहते हैं। नाटक दृश्य काव्य के अंतर्गत आता है, क्योंकि उसका प्रदर्शन रंगमंच पर हो सकता है जिसे देखकर दर्शक संपूर्णतः आनंद उठा सकते हैं। नाटक एक ऐसा साहित्यरूप है जिसमें रंगमंच पर पात्रों के द्वारा किसी कथा का प्रदर्शन होता है। यह प्रदर्शन अभिनय, दृश्यसज्जा, संवाद, नृत्य, गीत आदि के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व स्वीकार किए हैं(१) वस्तु, (२) नायक और (३) रस। किन्तु अब नाटक के निम्नांकित छह तत्त्व माने जाते हैं:—(१) कथावस्तु, (२) पात्र, (३) कथोपकथन, (४) देशकाल, (५) उद्देश्य और (६) शैली।

भारत में नाटक साहित्य की बहुत ही समृद्ध एवं प्राचीन परंपरा है।

इस पुस्तक में संकलित 'कोणार्क' प्रसिद्ध नाटककार जगदीशचंद्र माथुर की कृति 'कोणार्क' के प्रथम अंक का संपादित रूप है।

एकांकी

जैसा कि एकांकी नाम से ही स्पष्ट है, यह एक अंक का नाटक होता है जिसमें एक से अधिक दृश्य हो सकते हैं। एकांकी आधुनिक युग की व्यस्तता की देन है। कलेवर आदि की दृष्टि से जो संबंध कहानी और उपन्यास में है लगभग वही संबंध एकांकी और नाटक में है। जिस प्रकार कहानी कथा-रस में उपन्यास से संबंधित होते हुए भी अपना अलग अस्तित्व रखती है और उसकी कथा-वस्तु, शैली तथा चरम सीमा अपनी होती है उसी प्रकार एकांकी नाटक से संबंधित होते हुए भी अपना अलग अस्तित्व रखता है। इस प्रकार एकांकी नाटक का लघु संस्करण मात्र नहीं है, बल्कि यह अपनी निजी सत्ता रखनेवाली साहित्य की एक स्वतंत्र विधा है। इसमें केवल एक ही घटना, परिस्थिति या समस्या प्रमुख होती है। प्रसिद्ध नाटककार एवं आलोचक डा० रामकुमार वर्मा ने इसके स्वरूप का विशद रेखांकन किया है—"एकांकी नाटकों में एक ही घटना होती है, और वह घटना नाटकीय कौशल से कौतूहल का संचय करते हुए चरम सीमा तक पहुँचती है। उसमें कोई गौण प्रसंग नहीं रहता। एक-एक वाक्य और एक-एक शब्द प्राण की तरह आवश्यक रहते हैं। पात्र चार या पाँच ही होते हैं, जिनका संबंध नाटक की घटना से संपूर्णतया संबद्ध रहता है। वहाँ केवल मनोरंजन के लिए अनावश्यक पात्र की गुंजाइश नहीं। प्रत्येक व्यक्ति की रूप-रेखा पत्थर पर खिंची हुई रेखा की भाँति स्पष्ट और गहरी होती है।···कथा-वस्तु भी स्पष्ट और कौतूहल से युक्त रहती है और उसमें वर्णनात्मक की अपेक्षा अभिनयात्मक तत्त्व की प्रधानता रहती है। उसमें विस्तार के लिए अवकाश ही नहीं।"

उपन्यास

प्रेमचंद ने उपन्यास के संबंध में लिखा है, "मैं उपन्यास को मानव-जीवन का चित्रमात्र समझता

हूँ। मानव-चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्त्व है।" वस्तुतः उपन्यास में एक ऐसी विस्तृत कथा होती है जो अपने भीतर अन्य गौण कथाएँ समेटे रहती है। इस कथा के भीतर समाज और व्यक्ति की विविध अनुभूतियाँ और संवेदनाएँ, नाना प्रकार के दृश्य और घटनाएँ तथा बहुत प्रकार के चरित्र हो सकते हैं और यह कथा विभिन्न शैलियों में कही जा सकती है।

सामान्यतः उपन्यास के छह तत्त्व माने जाते हैं—कथावस्तु, चरित्रचित्रण, संवाद, वातावरण, शैली एवं उद्देश्य। उपन्यास की कथावस्तु मुख्य घटना, प्रासंगिक घटनाओं तथा अंतःसूत्र आदि से मिलकर बनती है। कथावस्तु का विन्यास एवं चरित्रचित्रण उपन्यास की प्रमुख आवश्यकताएँ हैं और इन दोनों में संवाद का बड़ा महत्त्व होता है। एक विशेष प्रकार के परिवेश में ही प्रत्येक घटना घटित होती है या प्रत्येक पात्र व्यवहार करता है। इस परिवेश को ही उपन्यास का वातावरण कहा जाता है। ऐतिहासिक या आंचलिक उपन्यासों में तो यह कथावस्तु का प्रधान अंग बन जाता है।

उपन्यास को घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान दो मुख्य वर्गों में बाँटा जा सकता है। जासूसी, तिलस्मी, ऐयारी तथा साहसिक कथानक वाले उपन्यास घटना-प्रधान होते हैं। मानव-चरित्र की अनंत संभावनाओं के कारण चरित्र-प्रधान उपन्यासों में विषयों की विविधता भी अनंत हो सकती है। स्थूल रूप से इन्हें ऐतिहासिक, सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक तीन प्रकारों में बाँटा जा सकता है। किसी प्रदेश या क्षेत्र-विशेष पर आधृत आंचलिक उपन्यास भी सामाजिक उपन्यासों के अंतर्गत ही आते हैं। कथा-सामग्री के मूल स्रोतों के आधार पर भी सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, पौराणिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक आदि अनेक भेद उपन्यासों के किए जा सकते हैं।

कहानी

कहानी यद्यपि साहित्य की सबसे प्राचीन विधा है पर पिछली दो शताब्दियों में उसके रूप में बहुत अधिक अंतर आ गया है। 'पंचतंत्र' की या 'बैताल पचीसी' की कहानियों और आधुनिक कहानियों को पढ़कर यह अंतर आसानी से देखा जा सकता है।

मानव-जीवन के किसी एक पहलू, भावना या घटना पर कथा के माध्यम से प्रकाश डालना ही कहानी का मूल उद्देश्य रहता है। कहानी और उपन्यास के तत्त्व तो एक ही हैं, पर उपन्यास में जीवन और जगत का जितना विस्तार होता है उतना कहानी में संभव नहीं है। इसी कारण कहानी का आकार उपन्यास की अपेक्षा काफ़ी संक्षिप्त होता है और संपूर्ण प्रकृति एवं गठन में भी वह

उपन्यास से भिन्न हो जाती है। आधुनिक व्यस्त जीवन में पढ़ने के लिए उपलब्ध समय की कमी ने उपन्यास की तुलना में कहानी को अधिक प्रोत्साहित किया है। एकता और प्रभाव की तीव्रता कहानी-कला की विशेषताएँ हैं।

कहानी-कला के विभिन्न तत्वों के आधार पर कहानी के सामान्यतः चार भेद किए जाते हैं—(१) घटनाप्रधान, (२) चरित्रप्रधान, (३) वातावरणप्रधान एवं (४) भावप्रधान। प्रतीकवादी या सांकेतिक कहानियों का एक वर्ग और भी हो सकता है। विषय की दृष्टि से कहानी के सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक, साहसिक आदि अनेक भेद किए जा सकते हैं। इस पुस्तक में संकलित 'बूढ़ी काकी' घटना-प्रधान है, 'ममता' चरित्र प्रधान और 'गुलाम' प्रतीकवादी।

जीवनी

जीवनी किसी व्यक्ति के जीवन का लिखित या वर्णित वृत्तांत है। उसे किसी सीमा तक व्यक्ति का इतिहास भी कहा जा सकता है। इतिहास-लेखक की भाँति जीवनी-लेखक भी अपने चरितनायक के जीवन का वर्णन सत्य घटनाओं के आधार पर ही करता है। इस प्रकार जीवनी और इतिहास सत्य घटनाओं पर आधारित रहने के कारण एक ही स्वभाव के हैं। उनमें विशेष अंतर यह है कि जहाँ इतिहास सामूहिक जीवन को लेता है वहाँ जीवनी में व्यक्तिगत जीवन का ही महत्त्व है। वह व्यक्ति के कार्यों का लेखा-जोखा है। इतिहास-लेखक घटनाओं का विवरण देता है और विश्लेषण करता है जबकि जीवनी-लेखक घटनाओं के विवरण से आगे बढ़कर अपने चरितनायक के जीवन का रोचक ढंग से चित्रण भी प्रस्तुत करता है। वह उन घटनाओं के प्रकाश में उसके व्यक्तित्व को उभारता है, उसकी पुनः सृष्टि करता है और पाठक पर भावात्मक प्रभाव डालना चाहता है।

जीवनी-लेखक किसी व्यक्ति विशेष के संबंध में बिखरी पड़ी विशाल सामग्री का चयन कर इस प्रकार सजाता है कि व्यक्ति का व्यक्तित्व उभर जाता है ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार चित्रकार चित्रफलक पर विभिन्न रंगों से सजीव चित्र की सृष्टि करता है।

वास्तव में जीवनी-लेखक की कला का रहस्य चरितनायक के जीवन की घटनाओं की सत्यता की रक्षा करते हुए उनके आधार पर उसके व्यक्तित्व की पुनः सृष्टि करना ही है। यहाँ जीवनी इतिहास की सीमा लाँघकर कथा की परिधि में प्रवेश कर जाती है। कथा-लेखक अपने नायक अथवा नायिका के व्यक्तित्व को उभारने के लिए घटनाओं के संयोजन में कल्पना-शक्ति का आश्रय लेता

है। इससे कथा में रोचकता आ जाती है। जीवनी-लेखक भी अपने चरित-नायक के जीवन की विविध घटनाओं में से आवश्यक घटनाओं को चुनकर उनका विवरण ऐसी शैली में प्रस्तुत करता है कि जीवनी कथा जैसी ही रोचक हो उठती है। लेकिन, फिर भी जीवनी और कथा एक नहीं हैं। कारण, कथा में जहाँ नायक अथवा नायिका के व्यक्तित्व का निर्माण करनेवाली घटनाएँ कल्पित होती है वहाँ जीवनी में सच्ची घटनाओं का ही महत्त्व है। किसी भी कल्पित घटना को जीवनी में स्थान नहीं दिया जा सकता।

इस प्रकार जीवनी-लेखक को सत्य की रक्षा के लिए तो इतिहास का आश्रय लेना पड़ता है और अपने कथ्य को रोचक बनाने के लिए उपन्यास की शैली को ग्रहण करना पड़ता है। यही कारण है कि आज तक जितने महान जीवनी-लेखक हुए है उन्होंने अपने चरितनायकों को उसी रूप में प्रस्तुत किया है जैसे कि वे अपने वास्तविक जीवन में थे, लेकिन उनके व्यक्तित्व को सजीव बनाने के लिए उन्होंने उनकी जीवन-घटनाओं को कलात्मक ढंग से सजाया भी है। 'गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर' उपर्युक्त दृष्टि से एक सफल लघु जीवनी है।

आत्मकथा

आत्मकथा किसी व्यक्ति की स्वलिखित जीवनगाथा है। इसमें वह अपनी दृष्टि से अपने जीवन का वर्णन और उसकी व्याख्या करता है। बहुधा होता यह है कि जैसे जीवनी-लेखक अपने चरित-नायक के गुणों की अत्यधिक प्रशंसा करने की प्रवृत्ति को नहीं छोड़ पाता वैसे ही आत्मकथा-लेखक भी अपने जीवन का सिंहावलोकन करते समय प्रायः अपने गुणों पर ही बल देने लगता है, जबकि अच्छी जीवनी की भाँति आदर्श आत्मकथा में भी जीवन के अच्छे और बुरे दोनों पक्षों का समावेश होना चाहिए। लेकिन अपनी कमियों को अपने-आप खोलकर रखना बड़े साहस का काम है। यह आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी और महात्मा गांधी जैसे विरले लोग ही कर सकते हैं। इस बारे में उनकी आत्मकथा आदर्श हैं।

आत्मकथा लिखकर लेखक आत्म-परीक्षण एवं आत्म-परिष्कार करना चाहता है। इसके अतिरिक्त वह यह भी चाहता है कि उसके अनुभवों का लाभ संसार के अन्य लोग उठा सकें। साथ ही जिस युग में उसका जीवन बीता है उसका प्रामाणिक चित्रण भी उसकी आत्मकथा में अनायास मिल जाता है जो तत्कालीन गतिविधियों को समझने में सहायक होता है। 'मेरी जीवन-गाथा' आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की आत्मकथा का संक्षिप्त रूप है जिसमें आत्मकथा की बहुत-सी विशेषताएँ

सन्निहित हैं।

संस्मरण

लेखक के स्मृति-पटल पर अंकित किसी विशेष व्यक्ति के जीवन की कुछ घटनाओं का रोचक विवरण संस्मरण कहलाता है। इसमें लेखक केवल उसी का वर्णन करता है जो उसने स्वयं देखा या अनुभव किया है। प्रायः इसमें कल्पना की उड़ान के लिए बहुत कम अवकाश रहता है। संस्मरण निकटता से देखे गए व्यक्तियों से संबंधित होता है, अतः इसका विवरण सर्वथा प्रामाणिक होता है किन्तु प्रस्तुतीकरण में संस्मरण-लेखक स्वतंत्र होता है। वह अपने दृष्टिकोण से घटना तथा पात्रों का विश्लेषण करता चलता है। संस्मरण-लेखक जब अपने विषय में लिखता है तो उसकी रचना आत्मकथा के निकट होती है और जब दूसरे के विषय में लिखता है तो जीवनी के। क्योंकि दोनों ही रूपों में लेखक का अपना जीवन वर्णित घटनाओं से जुड़ा रहता है, इससे उनके वर्णन में विशेष सजीवता आ जाती है। डा० रामविलास शर्मा द्वारा लिखित 'महामानव' अपने में संस्मरण के प्रमुख गुणों और आदर्शों को समाहित किए हुए हैं।

रेखाचित्र

'रेखाचित्र' शब्द चित्रकला का है जिसका अर्थ है ऐसा खाका जिसमें क्रमबद्ध ब्यौरे न दिए गए हों। इसी के अनुकरण पर लिखने की इस विधा को रेखाचित्र कहते हैं जिसमें क्रमबद्धता का ध्यान न रखकर किसी व्यक्ति की आकृति, उसकी चाल-ढाल या स्वभाव की किन्हीं विशेषताओं का शब्दों द्वारा सजीव-चित्रण किया जाता है। किसी स्थान का संक्षिप्त पर सजीव वर्णन भी रेखाचित्र में आ सकता है। थोड़ी-सी रेखाओं के द्वारा एक सजीव चित्र की सृष्टि करना किसी कुशल कलाकार का काम है। इसी प्रकार थोड़े-से शब्दों में किसी व्यक्ति, घटना, स्थान या वस्तु को चित्रित कर देना कुशल रेखाचित्रकार का ही काम है। रेखाचित्र को शब्द-चित्र और स्केच भी कहते हैं।

संक्षिप्तता और सजीवता रेखाचित्र के प्राण हैं। एक रेखाचित्र को पढ़ने से वर्णित व्यक्ति या स्थान का पूर्ण चित्र-सा पाठक की आँखों के आगे उपस्थित हो जाता है। यदि रेखाचित्र में घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन आ जाए तो वह रिपोतार्ज हो जाता है। किसी व्यक्ति के रेखाचित्र में उसकी विशिष्ट मुद्राएँ, चेष्टाएँ, शारीरिक बनावट आदि को चित्र में ज्यों का त्यों उभार दिया जाता है। इसका प्रभावशाली निर्देशन वहाँ होता है जहाँ किसी व्यक्ति के कार्य-व्यापार द्वारा उसकी विशेष-

ताओं का विवरण दिया जाता है। रेखाचित्रकार कम से कम शब्दों में सजीवता भर देने का प्रयत्न करता है और उसके छोटे-छोटे पैने वाक्य तीव्र एवं मर्मस्पर्शी होते हैं। रेखाचित्रों में यदि रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'माटी की मूरतें' गढ़ी हैं तो महादेवी वर्मा ने अपने आश्रित सेवकों और चाकरों को ही नहीं बल्कि पालतू पशुओं को भी अमर बना दिया है। इस पुस्तक में संकलित 'सोना' रेखाचित्र का एक सुंदर उदाहरण है।

रिपोतार्ज

'रिपोतार्ज' फ्रांसीसी भाषा का शब्द है और अँगरेजी शब्द 'रिपोर्ट' से इसका निकट संबंध है। रिपोर्ट समाचार-पत्र के लिए लिखी जाती है और उसमें साहित्यिक तत्त्व प्रायः नहीं होते। रिपोर्ट के कलात्मक और साहित्य रूप को ही रिपोतार्ज कहते हैं। इसमें किसी घटना या दृश्य का पूर्ण, सूक्ष्म और मर्मस्पर्शी वर्णन किया जाता है। रिपोतार्ज वास्तव में तीव्र भावना में साहित्यिक रिपोर्ट होता है। आँखों देखी घटनाओं पर ही रिपातार्ज लिखा जा सकता है, केवल कल्पना के आधार पर नहीं। रिपोतार्ज का विषय कभी कल्पित नहीं होता। हाँ, तथ्य को रोचकता प्रदान करने के लिए इसमें कल्पना की सहायता अवश्य ली जाती है। रिपोतार्जलेखक को पत्रकार तथा कलाकार दोनों की ही जिम्मेदारी निभानी पड़ती है।

पिछले विश्व-युद्ध में इस विधा का जन्म हुआ। साहित्यिक प्रतिभा से संपन्न पत्रकार युद्ध-क्षेत्र में घटित घटनाओं का मर्मस्पर्शी वर्णन अपने पत्रों को भेजते थे, जो पाठकों में खूब लोकप्रिय हुए। धीरे-धीरे समाचार-पत्रों की यह विधा स्वतंत्र साहित्यिक विधा के रूप में प्रसिद्ध हुई। यह विधा पत्रकारिता और साहित्यिकता का संगम है। समाचारपत्र को भेजी जानेवाली रिपोर्ट साहित्यिकता से युक्त होने पर रिपोतार्ज बन जाती है। बंगलादेश के स्वतंत्रता-आंदोलन को और उसमें भारतीय सेना के शौर्य को अति निकट से देखकर उसका सजीव और सच्चा वर्णन प्रस्तुत करने का डा० भारती ने बहुत सफल प्रयास किया है। 'ब्रह्मपुत्र की मोर्चेबंदी' उसी शृंखला की एक कड़ी है।

गद्यकाव्य

गद्यकाव्य, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, गद्य एवं काव्य की मध्यवर्तिनी भूमि पर अवस्थित है। इसमें गद्य एवं काव्य दोनों के ही प्रमुख गुण समाहित होते हैं। इसकी आत्मा काव्य के निकट है एवं बाह्य शरीर गद्य के। इसमें कविता जैसी संवेदनशीलता एवं रसात्मकता होती है। संकुल भावना

के अलावा इसमें कल्पना और अनुभूति की प्रधानता होती है। साधारण गद्य की अपेक्षा यह अधिक दीप्त, लययुक्त, अलंकृत एवं काव्यमय होता है। इसके वाक्य सरस और प्रवाहपूर्ण होते हैं और अनुच्छेद अपेक्षाकृत छोटे। इसमें विचारों की सूत्रबद्धता कम होती है। भावनाओं की अभिव्यक्ति के समय इसकी भाषा स्वयं प्रवाहमयी हो जाती है। इसमें कल्पना की ऊँची उड़ान के लिए काफ़ी अवकाश रहता है। 'नीव की ईंट' गद्यकाव्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

आलोचना

आलोचना का अर्थ है किसी साहित्यिक रचना को पूरी तरह से देखना-परखना। इस प्रकार रचना का प्रत्येक दृष्टि से विश्लेषण और मूल्यांकन कर पाठकों को उस रचना की तह तक पहुँचाने में सहायता करना आलोचना का मुख्य उद्देश्य है। आलोचना, रचना और पाठक के मध्य सेतु का कार्य करती है। बाबू श्यामसुंदरदास के शब्दों में 'यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या मानें तो आलोचना को उस व्याख्या की व्याख्या मानना पड़ेगा।' पाश्चात्य विचारों के अनुसार आलोचक का कर्त्तव्य यह पता लगाना है कि (१) लेखक ने क्या अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है और (२) वह उसे अभिव्यक्त करने में कहाँ तक सफल हुआ है। आलोचना वस्तुतः रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या है।

इस पुस्तक के संबंध में

यह संकलन उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के उन छात्रों के लिए तैयार किया गया है जिनकी मातृभाषा हिन्दी है और जो आठवीं कक्षा तक हिन्दी का विधिवत् अध्ययन प्रथम भाषा के रूप में करते आए हैं। इस पुस्तक की संकल्पना वास्तव में एक अन्विति के रूप में ही की गई है, किन्तु सुविधा के लिए पाठों का संयोजन कक्षावार भी किया गया है ताकि विभिन्न राज्य प्रचलित शैक्षिक व्यवस्था के अनुसार इनका उपयोग कर सकें। इसका एक अनुषंगी लाभ यह भी है कि पाठों की प्रगति पर एक दृष्टि रहेगी और उनका समय के साथ संतुलन बना रहेगा।

पाठों का संयोजन न तो कालक्रम से किया गया है न ही विधावार, बल्कि उनके समायोजन का मुख्य आधार रहा है सरलता से कठिनता की ओर। साथ ही विषयों, विधाओं और शैलियों की विविधताओं के ताने-बाने द्वारा इसे जीवंत बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया है ताकि छात्रों की रुचियों और योग्यताओं का संतुलित विकास हो सके। इस प्रकार इस पुस्तक का प्रस्तावित क्रम विशुद्ध शिक्षण

की दृष्टि से तैयार किया गया है।

यह संकलन एक गुलदस्ता जैसा है जिसमें विभिन्न रूप, रंग और गंध के फूल सजे हैं। इसमें निबंध, कहानी, एकांकी, संस्मरण, रेखाचित्र, यात्रा-वर्णन, जीवनी, रिपोतार्ज आदि विधाओं की रचनाएँ संगृहीत हैं। विधाओं की विविधता से विषय-वस्तु के वर्णन, प्रभाव, लक्ष्य, प्रस्तुतीकरण और भाषा-शैली में भी अंतर आ जाता है। ये सभी तत्त्व रुचिवर्धक तो होते ही हैं, साथ ही छात्रों के अनुभव, जानकारी और अभिव्यक्ति को भी समृद्ध करते हैं।

इस पुस्तक के निर्माण में छात्रों के मानसिक, भावात्मक और भाषायी स्तर तथा उनकी रुचियों को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है, ताकि वे पाठ्य-विषय का आसानी से बोध कर सकें, उसपर मुक्त रूप से विचार कर सकें और विवेकपूर्वक हृदयंगम कर सकें। आशा है कि यह रुचिकर साहित्य उन्हें स्फूर्ति प्रदान करेगा, बार-बार पढ़ने के लिए आकर्षित करेगा और प्रकारांतर से उनकी रुचियों का परिष्कार भी करेगा। हम यह मानकर चलते हैं कि इस पुस्तक में संकलित सामग्री छात्रों की पठन संबंधी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकेगी। इनकी पूर्ति तो द्रुत पठन की पुस्तकें भी नहीं कर सकेंगी। एक समृद्ध पुस्तकालय का नियमित उपयोग ही इनकी पूर्ति का एक एकमात्र साधन है।

हिन्दी के सभी प्रतिष्ठित लेखकों को किसी पाठ्यपुस्तक में स्थान देना असंभव है, इसलिए इसमें केवल चुने हुए लेखकों को ही स्थान दिया जा सका है। हमारा प्रयत्न रहा है कि हिन्दी गद्य-साहित्य की समृद्धि और शक्ति दोनों की ही एक झलक हमारे किशोर पाठकों को मिल सके।

विविध विधाओं के पाठों की संख्या निर्धारण में उनकी सापेक्षिक महत्ता, लिखित साहित्य की उपलब्धि, भाषा-शिक्षण के मूल लक्ष्यों की पूर्ति में उनकी उपयोगिता आदि पर प्रभूत विचार किया गया है। जैसे, निबंधों को इसमें इसलिए अधिक स्थान दिया गया है कि ये गहन अध्ययन के लिए विशेष उपयोगी होते हैं, क्योंकि इनकी विषय-वस्तु और अभिव्यक्ति में गहरा पैठने के लिए विशेष प्रयास करना पड़ता है। इसी प्रकार विविध विधाओं की रचनाओं का चयन करते समय स्वयं उनकी विविधता पर भी यथेष्ट ध्यान दिया गया है। कहानियाँ और जीवनियाँ इस पुस्तक में इसलिए कम संख्या में है क्योंकि इन विधाओं की प्रायः स्वतंत्र पुस्तकें पाठ्यक्रम में निर्धारित रहती हैं।

इस सब कुछ के बावजूद यह पुस्तक एक साधन मात्र है, साध्य है भाषा की प्रकृति को समझना, कथ्य और अभिव्यक्ति के संबंधों को खोज निकालना तथा सुनने-बोलने, पढ़ने और लिखने में अपेक्षित कुशलताएँ प्राप्त करना। इसे आधार बनाकर सभी भाषा-योग्यताएँ सरलता से विकसित की जा सकती हैं और मूर्त से अमूर्त की ओर निरंतर बढ़ने के नियम का भली प्रकार पालन भी किया

जा सकता है।

पठन-पाठन के संबंध में

प्रस्तावित पुस्तक गहन एवं विशद अध्ययन के लिए है, अर्थात् इस पुस्तक को पंक्तिशः पढ़ना है और बार-बार पढ़ना है। पंक्तिशः अध्ययन द्वारा छात्र अभिव्यक्ति और कथ्य के पारस्परिक संबंधों से भली प्रकार अवगत हो सकेंगे, जिससे लेखक का मंतव्य अधिक स्पष्ट हो सकेगा और बार-बार की आवृत्ति से भाषा की सभी संरचनाएँ उनके मन-मस्तिष्क में बैठ ही नहीं जाएँगी बल्कि उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग बन जाएँगी। हम जानते हैं कि भाषा प्रयोग और अभ्यास से आती है। भाषा का जितना ही प्रयोग और अभ्यास किया जाता है, अर्थग्रहण एवं अभिव्यक्ति में उतनी ही सुविधा होती है। इनमें जितनी ही अनायासता की स्थिति आती जाती है, व्यक्ति भाषा-प्रयोग में उतना ही सक्षम और कुशल होता जाता है। सारांश यह है कि विचारों और भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा उसी प्रकार उपलब्ध रहे जिस प्रकार साँस लेने के लिए हवा। भाषा-शिक्षण के ये दोनों चरम लक्ष्य हैं, जिनकी संप्राप्ति के लिए इस पुस्तक का भली प्रकार अध्ययन सहायक हो सकेगा।

सहायक पुस्तकों की अपेक्षा इस पुस्तक को पढ़ाने में अध्यापक निश्चय ही अधिक क्रियाशील रहेंगे, फिर भी हम चाहते हैं कि वे उतना ही मार्गदर्शन करें जितना अनिवार्य हो। छात्र जितना स्वयं पढ़कर सीखते हैं उतना अध्यापक द्वारा पढ़ाए जाकर नहीं। अतएव छात्र जितना ही अधिक क्रियाशील और तत्पर रहेंगे उतना ही अच्छा रहेगा। इस पुस्तक का एक लक्ष्य यह भी है कि जहाँ तक संभव हो सके छात्र स्वयं पढ़कर इतर साहित्य को समझने और आनंद लेने में तथा पठित वस्तु का अधिकाधिक उपयोग करने में स्वाश्रयी बनें।

भाषा की वास्तविक शक्ति साहित्य में ही देखने को मिलती है। भाषा के प्रयोग में जितनी विविधता, गहराई और प्रभावशीलता साहित्य में होती है उतनी अन्यत्र नहीं। इसीलिए प्रभावशाली भाषा को सीखने में साहित्यानुशीलन अन्यतम साधन है। भाषा की उपर्युक्त सभी विशेषताओं से युक्त पाठों का ही संकलन इस पुस्तक में इसलिए किया गया है कि छात्र इनका बार-बार अनुशीलन करके अपनी भाषा-शैली का परिष्कार कर सकेंगे।

उच्चतर माध्यमिक स्तर पर पढ़ना छात्र-जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि इसी कार्य पर समस्त विषयों का ज्ञानार्जन निर्भर है। बोलने और लिखने की योग्यताएँ भी मुख्य रूपसे पढ़ने पर ही आधारित हैं। जो व्यक्ति जितना ही विवेकपूर्वक पढ़ता है और पठित वस्तु का मनन

करता है, वह उतना ही अच्छा वक्ता और लेखक बनता है।

किसी पाठ्यपुस्तक का पठन-पाठन तभी रुचिकर हो सकता है, जब इस प्रक्रिया में सृजनात्मकता एवं मौलिकता लाई जाए और जहाँ तक संभव हो, एकरसता एवं यांत्रिकता को तिलांजलि दे दी जाए। कहना नहीं होगा कि अभी तक अध्यापक कक्षा में अपनी सूझ-बूझ और क्रियाशीलता के द्वारा अध्यापन में रोचकता लाने के लिए विशेष उत्साह नहीं दिखाते। वे नई-नई शिक्षण विधियों के अनुसंधान एवं आविष्कार के लिए प्रयत्नशील नहीं होते। निश्चय ही इसके लिए केवल अध्यापकवर्ग दोषी नहीं है। इसके लिए विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय तक की शिक्षा-पद्धति दोषी है और विशेष रूप से दोषी है प्रशिक्षण महाविद्यालय, जहाँ उसे नई-नई विधियों से न तो अवगत कराया जाता है, न ही नित्य नवीन विधियों के अन्वेषण के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। फलतः कक्षाध्यापन मुखर वाचन से प्रारंभ होकर शब्दार्थ आदि की यांत्रिक शृंखलाओं से गुजरता हुआ अर्थायन, व्याख्या, गृहपाठ तक सीमित रहता है। साहित्य जैसी मौलिक सृष्टि के अध्यापन के लिए मौलिक विधियों का अनुशीलन बहुत आवश्यक है। अतएव अध्यापकों से विशेष अनुरोध है कि वे अपने छात्रों की यांत्रिकता से रक्षा करें और उनके भाव-सुमनों के प्रस्फुटन में आवश्यक साहाय्य प्रदान करें। इस पुस्तक के सभी पाठ भिन्न-भिन्न पाठन-शैलियों में अध्यापन की अपेक्षा करते है। साहित्य की विविध विधाओं का अस्तित्व जब उनके प्रस्तुतीकरण एवं भाषा-शैलियों की भिन्नता के कारण है तो उनको एक ही ढंग से पढ़ाना उचित नहीं। दूसरी बात यह भी है कि एक विधा की विभिन्न रचनाओं को भी एक निश्चित ढर्रे पर पढ़ाना संभव नहीं है। जैसे, संकलित तीनों कहानियों—बूढ़ी काकी, ममता और गुलाम—को एक ही विधि से पढ़ाना न्यायसंगत नहीं है। किसी भी नए पाठ को पुरानी शैली पर पढ़ाने का सर्वथा बहिष्कार करने का निश्चय लेकर ही अध्यापक इस दिशा में क्रियाशील हो सकते हैं और केवल इसी प्रकार अपने अध्यापन में मौलिकता एवं सृजनात्मकता ला सकते हैं।

इस कार्य के लिए सबसे पहले वे यह देखें कि किस पाठ का मौन वाचन कराना उचित होगा और किसका मुखर वाचन। साथ ही वे यह भी देखें कि कौन-सा पाठ अध्यापन के बाद मुखर वाचन की अपेक्षा रखता है। कुछ गंभीर और प्रांजल एवं अलंकृत भाषा वाले पाठ अध्यापन-कार्य की परिसमाप्ति के बाद मुखर वाचन के लिए उपयुक्त होते हैं, क्योंकि ऐसे पाठों का सुंदर मुखर वाचन तब तक संभव नहीं है जब तक छात्र उसके विचारों और अलंकृत भाषा-शैलियों का बोधपूर्वक ग्रहण नहीं कर लेते, उनका भलीभाँति रसास्वादन नहीं कर लेते।

वाचन के बाद पाठों की विस्तृत विवेचना अपेक्षित है। इसके अंतर्गत सबसे पहले वैचारिक, भाषायी और विधायी मुख्य पाठ्य विन्दुओं का निर्धारण कर लेना चाहिए। पहले वैचारिक पाठ्यबिन्दुओं को लेना चाहिए और उनका स्पष्टीकरण जहाँ तक संभव हो छात्रों से ही कराना चाहिए। हाँ, जो तथ्य छात्रों के सहज बोध से ऊपर प्रतीत हो उसकी व्याख्या प्रभूत उदाहरण, दृष्टांत तुलना आदि देकर उनका अध्यापक करें। और, जिन तथ्यों का संकेत भर ही हो, उनका स्पष्टीकरण भी अध्यापक ही करें। भाषायी पाठ्य विन्दुओं का विवेचन अंत में किया जाए। उनका विश्लेषण प्रस्तुत करने के बाद छात्रों से उपयुक्त अभ्यास अवश्य कराया जाए।

इसी भूमिका में संकलिन पाठों की सभी विधाओं का संक्षिप्त परिचय एवं उनकी विशेषताएँ दी हुई हैं। पाठों के साहित्यिक तत्त्वों के विश्लेषण में उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाया जाए। उच्चतर माध्यमिक स्तर पर छात्रों को साहित्य बोध की सामान्य जानकारी आवश्यक है।

पठन के तीन स्तर होते हैं—अर्थग्रहण, आलोचनात्मक चिन्तन एवं सृजनात्मक पठन। अर्थ-ग्रहण के अंतर्गत निबंध पाठों के विचारों की परिच्छिन्नता, चिन्तन और तर्क शृंखला, तत्त्व तथा तथ्य को भली भाँति समझना पड़ता है। और, कथा-साहित्य में कथा-प्रवाह, घटना-क्रम, पात्रों के विविध कार्यकलापों एवं घात-प्रतिघातों को समझकर कथा-सूत्र को पकड़ना होता है। आलोचनात्मक चिन्तन के अंतर्गत इनसे आगे बढ़कर उपर्युक्त वर्णित तथ्यों की तुलना करनी पड़ती है, उनकी तर्क-संगतता परखनी पड़ती है, उनमें कार्य-कारण संबंध देखना होता है और अंत में मूल्यांकन आदि युक्तियों का सहारा लेकर एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना होता है। किन्तु सृजनात्मक पठन में पाठों में वर्णित तथ्यों या घटनाओं की भाषिक अभिव्यक्तियों से परे जाकर उनकी वास्तविक प्रतीति करनी होती है। साहित्यिक कृतियों में प्रायः सभी बातें तथ्यात्मक रूप में उक्त नहीं होतीं, बल्कि संकेतित रहती हैं। इन संकेतों को भली प्रकार पकड़े बिना लेखक के मंतव्य को समझना प्रायः कठिन होता है। इस प्रकार अध्यापक का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह अपने छात्रों को पठन के इस अंतिम चरण तक पहुँचने में यथावश्यक मार्गदर्शन प्रदान करे।

इस कार्य में कदाचित् इस पुस्तक के प्रश्न-अभ्यासों से प्रभूत सहायता मिल सकती है। प्रत्येक पाठ में लगभग चार-पाँच प्रश्न अर्थग्रहण के लिए दिए गए हैं, दो-तीन आलोचनात्मक चिन्तन के लिए और दो-तीन सृजनात्मक पठन के लिए। पाठ की संरचना, विधा, प्रस्तुतीकरण और भाषा-शैली संबंधी प्रश्न-अभ्यास निश्चय ही छात्रों को सृजनात्मक पठन की ओर ले जाएँगे। पाठ पर जितने प्रश्न दिए गए हैं वे पर्याप्त नहीं हैं। अध्यापकों को अपनी ओर से भी प्रश्न पूछने चाहिए।

अंत में पठन-पाठन के लिए कतिपय संस्तुतियों के परिपालन के लिए विशेष रूप से अनुरोध है। १. किसी पाठ का अध्यापन प्रारंभ करने से पूर्व छात्रों को निर्णय लेने दीजिए कि उसका मौन वाचन करना उचित होगा अथवा मुखर वाचन। इस संबंध में उनके तर्कों और तथ्यों के गुण-दोषों के आधार पर ही निर्णय दीजिए। २. पाठ को समझाने के लिए आप विशेष प्रयत्नशील न हों। आपके अध्यापन की सफलता इस बात पर निर्भर है कि आपके छात्र किसी पाठ को अपने से पढ़कर कहाँ तक समझ पाते हैं। ३. पहले पूरे पाठ की संरचना को समझने दीजिए उसके बाद अनुच्छेद को और तब वाक्यों को। यानी, संपूर्ण से अंश की ओर के सिद्धांत का पालन कीजिए। ४. कुछ विशिष्ट संरचनावाले अथवा जटिल वाक्यों का अर्थान्वियन (पैराफ्रेज़) छात्रों से ही कराइए। ५. कुछ विशिष्ट पाठों पर विज्ञान के छात्रों की भाँति विभिन्न प्रकार के प्रयोग कराइए। यानी, अपनी कुछ कक्षाओं को प्रयोगशाला का रूप दीजिए जिनमें विचारों और भाषा के संबंधों, भाषा-कौशलों, मौलिक अभिव्यक्तियों को विशेष रूप से छात्रों द्वारा ही उद्‌घाटित कराइए। ६. किसी पाठ के प्रति छात्रों की रुचि जाग्रत करने तथा उन्हें क्रियाशील रखने का सबसे सुगम उपाय है उस पाठ को सहपाठ्यक्रमी क्रियाओं से जोड़ देना। सहपाठ्यक्रमी क्रियाएँ अनेक हैं और प्रत्येक पाठ के लिए थोड़े-से प्रयत्न से उपयुक्त क्रियाशीलन मिल सकता है। ७. और, अंत में छात्रों को भी पाठ संबंधी कुछ प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित कीजिए। स्मरण रहे, कोई छात्र तभी अच्छे प्रश्न कर सकता है जब वह पाठ को पढ़कर भली प्रकार समझ गया होता है और इससे छात्रों के बोध के स्तर की सही जानकारी संभव है।

हमारा विश्वास है कि उपर्युक्त पाठन-प्रक्रियाएँ न केवल आपके अध्यापन को रुचिकर बनाएँगी, बल्कि छात्रों में भी किसी पाठ को पढ़कर स्वयं समझने के कौशल को उत्पन्न करेंगी। और, सबसे बड़ी बात यह होगी कि आपका अध्यापन प्रजातंत्रीकरण को भी बढ़ावा देगा, जिसकी आजकल अपने देश में बड़ी आवश्यकता है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १८६४ ई० में ज़िला रायबरेली (उत्तर प्रदेश) के दौलतपुर ग्राम में हुआ था। स्कूल की शिक्षा समाप्त कर आपने रेल-विभाग में नौकरी कर ली। उस समय भी आपका स्वाध्याय बराबर चलता रहा और आपने हिन्दी, उर्दू, अँगरेज़ी, बंगला, गुजराती तथा मराठी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। कुछ समय बाद रेलवे की नौकरी छोड़कर सन् १९०३ ई० से आप 'सरस्वती' नामक मासिक पत्रिका का संपादन करने लगे। सत्रह वर्ष के संपादन-काल में आपने हिन्दी को नई गति तथा नई शक्ति दी। अनेक कवियों एवं लेखकों को आपसे प्रोत्साहन मिला। वास्तव में द्विवेदी जी व्यक्ति न होकर एक संस्था थे। समकालीन लेखकों एवं कवियों को सही मार्गदर्शन प्रदान करके हिन्दी भाषा एवं साहित्य को समृद्ध एवं जीवंत बनाकर आपने स्तुत्य कार्य किया। सन् १९३८ ई० में आपकी मृत्यु हुई।

द्विवेदी जी मुख्यतः निबंधकार और समालोचक थे। आपने साहित्यिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, वैज्ञानिक आदि अनेक विषयों पर निबंध लिखे। आप कठिन-से-कठिन विषय को भी सरल बना देते थे। संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ अरबी और फ़ारसी के 'शान-शौकत', 'असर' जैसे प्रचलित शब्दों का प्रयोग आपने बिना किसी संकोच के किया है। मुहावरों के प्रयोग की ओर भी आपकी रुचि थी।

द्विवेदी जी हिन्दी-साहित्य के इतिहास में युगप्रवर्तक के रूप में विख्यात हैं। आपने गद्य की भाषा का परिष्कार किया और लेखकों की सुविधा के लिए व्याकरण और वर्तनी के नियम स्थिर किए। कविता में उस समय प्रायः व्रज-भाषा का ही प्रयोग होता था। आपने गद्य की भाँति कविता में भी खड़ी बोली का प्रयोग किया। और, अन्य कवियों को खड़ी बोली में ही कविता करने की प्रेरणा दी। इन्हीं साहित्यिक सेवाओं के फलस्वरूप विद्वानों ने आपको 'आचार्य' पद से सम्मानित किया।

'रसज्ञ रंजन', 'साहित्य-सीकर', 'साहित्य-संदर्भ', 'अद्भुत आलाप', 'संचयन' आपके प्रसिद्ध निबंध-संग्रह हैं। 'द्विवेदी-काव्यमाला' में कविताएँ संगृहीत हैं।

'मेरी जीवन-गाथा' आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की 'आत्मकथा' का एक अंश है जिसमें निष्कपट आत्म-प्रकाशन के गुण विद्यमान हैं। इसके पूर्वार्द्ध में आपकी पारिवारिक स्थिति का वर्णन है और उत्तरार्द्ध में आपकी चारित्रिक दृढ़ता एवं घोर अध्यवसाय का। अपनी विश्वसनीयता के कारण संपूर्ण पाठ उत्प्रेरक है। विचार और भाषा की सादगी विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

मेरी जीवन-गाथा

मैं एक ऐसे देहाती का एकमात्र आत्मज हूँ जिसका मासिक वेतन सिर्फ़ दस रुपया था। अपने गाँव के देहाती मदरसे में थोड़ी-सी उर्दू और घर पर थोड़ी-सी संस्कृत पढ़कर तेरह वर्ष की उम्र में मैं ३६ मील दूर रायबरेली के ज़िला-स्कूल में अँगरेज़ी पढ़ने गया। आटा-दाल घर से पीठ पर लादकर ले जाता था। दो आना महीना फ़ीस देता था। दाल ही में आटे के पेठे या टिकियाँ पकाकर पेटपूजा करता था। रोटी बनाना तब मुझे आता ही न था। एक वर्ष किसी तरह वहाँ काटा। फिर पुरवा, फतेहपुर और उन्नाव के स्कूलों में चार वर्ष काटे। कौटुंबिक दुरवस्था के कारण मैं उससे आगे न बढ़ सका, मेरी स्कूल-शिक्षा की वहीं समाप्ति हो गई।

एक साल अजमेर में पंद्रह रुपया महीने पर नौकरी करके पिताजी के पास बंबई जा पहुँचा और तार का काम सीखकर जी० आई० पी० रेलवे में पचास रुपया महीने पर तारबाबू बना। बचपन ही से मेरी प्रवृत्ति सुशिक्षित जनों की संगति करने की ओर थी। दैवयोग से हारद और हुशंगाबाद में मुझे ऐसी संगति सुलभ रही। फल यह हुआ कि मैंने अपने लिए चार सिद्धांत या आदर्श निश्चित किए। यथा, (१) वक्त की पाबंदी करना, (२) रिश्वत न लेना, (३) अपना काम ईमानदारी से करना, और (४) ज्ञानवृद्धि के लिए सतत प्रयत्न करते रहना। पहले तीन सिद्धांतों के अनुकूल आचरण करना तो सहज था, पर चौथे के अनुकूल सचेष्ट रहना कठिन था। तथापि सतत अभ्यास से उसमें भी सफलता होती गई। तारबाबू होकर भी टिकटबाबू स्टेशन-मास्टर यहाँ तक कि रेलवे में रेल की पटरियाँ बिछाने और उसकी सड़क की निगरानी करनेवाले 'स्थायीपथ निरीक्षक' तक का भी काम सीख लिया। फल अच्छा

ही हुआ। अधिकारियों की नज़र मुझपर पड़ी। मेरी तरक्की होती गई। वह इस तरह कि एक दफ़ा छोड़कर मुझे कभी तरक्की के लिए दरखास्त नहीं देनी पड़ी। जब भारतीय मध्य रेलवे बनी और उसके दफ़्तर झाँसी में खुले, तब जी०आई०पी० रेलवे के अधिकारी जो वहाँ के जनरल मैनेजर नियुक्त हुए, वे मुझे भी अपने साथ झाँसी लाए, और नए-नए काम मुझसे लेकर मेरी पदोन्नति करते गए। इस उन्नति का प्रधान कारण मेरी ज्ञान-लिप्सा और गौण कारण उन साहब बहादुर की कृपा या गुण-ग्राहकता थी। दस-बारह वर्ष बाद मेरी मासिक आय मेरी योग्यता से कई गुनी अधिक हो गई।

जब भारतीय मध्य रेलवे जी० आई० पी० रेलवे से मिला दी गई, तब कुछ दिन बंबई में रहकर मैंने अपना तबादला झाँसी करा दिया। वहीं रहना मुझे अधिक पसंद था। पाँच वर्ष मैं यहाँ ज़िला यातायात अधीक्षक कार्यालय में रहा। वे दिन मेरे अच्छे नहीं कटे। लार्ड कर्ज़न का दिल्ली दरबार उसी ज़माने में हुआ था। मेरे गौरांग प्रभु अपनी रातें अपने बंगलों या क्लब में बिताते थे, मैं दिन-भर कार्यालय का काम करके रात-भर अपनी कुटिया में पड़ा हुआ उसके नाम आए तार लेता और उनके जवाब देता था। ये तार उन विशेष रेलगाड़ियों के संबंध में होते थे जो दक्षिण से देहली की ओर दौड़ा करती थीं। उन चाँदी के टुकड़ों की बदौलत, जो मुझे हर महीने मिलते थे, मैंने अपने ऊपर किए गए इस अत्याचार को महीनों बर्दाश्त किया।

मैं यदि किसी के अत्याचार को सह लूं तो उससे मेरी सहनशीलता तो अवश्य सूचित होती है, पर उससे मुझे औरों पर अत्याचार करने का अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता। परंतु कुछ समय बाद कुछ ऐसा बना कि मेरे प्रभु ने मेरे द्वारा औरों पर भी अत्याचार करना चाहा। हुक्म हुआ कि तुम इतने कर्मचारियों को लेकर रोज़ सुबह आठ बजे दफ़्तर में आया करो और ठीक दस बजे मेरे कागज़ मेरी मेज़ पर रखे मिलें। मैंने कहा—मैं आऊँगा पर औरों को आने के लिए लाचार न करूँगा। उन्हें हुक्म देना हुज़ूर का काम है। बस, बात बढ़ी और बिना किसी सोच-विचार के मैंने इस्तीफ़ा दे दिया। बाद को उसे वापस लेने के लिए इशारे ही नहीं, सिफ़ारिशें तक की गईं, पर सब

व्यर्थ हुआ। क्या इस्तीफ़ा वापस लेना चाहिए, यह पूछने पर मेरी पत्नी ने विषण्ण होकर कहा—क्या थूककर भी कोई उसे चाटता है ? मैं बोला—नहीं, ऐसा कभी न होगा, तुम धन्य हो। तब उसने तो आठ आने रोज तक की आमदनी से भी मुझे खिलाने-पिलाने और गृह-कार्य चलाने का दृढ़ संकल्प प्रकट किया और मैंने "सरस्वती" की सेवा से मुझे हर महीने जो २० रुपए उजरत और ३ रुपए डाकखर्च की आमदनी होती थी, उसी से संतुष्ट रहने का निश्चय किया। मैंने सोचा—किसी समय तो मुझे महीने में १५ रुपए ही मिलते थे, २३ रुपए तो उसके ड्योढ़े से भी अधिक हैं। इतनी आमदनी मुझ देहाती के लिए कम नहीं।

नहीं कह सकता, शिक्षा-प्राप्ति की तरफ़ प्रवृत्ति होने का संस्कार मुझे किससे मिला—पिता से या पितामह से या अपने ही किसी पूर्व जन्म के कृत कर्म से। बचपन से ही मेरा अनुराग तुलसीदास की 'रामायण' और ब्रजवासीदास के 'ब्रज-विलास' पर हो गया था। फुटकर कवित्त भी मैंने सैंकड़ों कंठ कर लिए थे। हुशंगाबाद में रहते समय भारतेन्दु हरिश्चंद्र की 'कवि-वचनसुधा' और गोस्वामी राधाचरण के एक मासिक पत्र ने मेरे उस अनुराग की वृद्धि कर दी। वहीं मैंने बाबू हरिश्चंद्र कुलश्रेष्ठ नाम के एक सज्जन से, जो वहाँ कचहरी में मुलाज़िम थे, पिंगल का पाठ पढ़ा। फिर क्या था, मैं अपने को कवि ही नहीं, महाकवि समझने लगा। मेरा यह रोग बहुत समय तक ज्यों-का-त्यों बना रहा। झाँसी आने पर जब मैंने पंडितों की कृपा से प्रकृत कवियों के काव्यों का अनुशीलन किया, तब मुझे अपनी भूल मालूम हो गई और छंदोबद्ध प्रलापों के जाल से मैंने सदा के लिए छुट्टी ले ली। पर गद्य में कुछ-न-कुछ लिखना जारी रखा। संस्कृत और अँगरेजी पुस्तकों के कुछ अनुवाद भी मैंने किए।

जब मैं झाँसी में था तब वहाँ के तहसीली स्कूल के एक अध्यापक ने मुझे कोर्स की एक पुस्तक दिखाई। नाम था 'तृतीय रीडर'। उसने उसमें बहुत-से दोष दिखाए। उस समय तक मेरी लिखी हुई कुछ समालोचनाएँ प्रकाशित हो चुकी थीं। इससे उस अध्यापक ने मुझसे उस रीडर की भी आलोचना लिखकर प्रकाशित कराने का आग्रह

किया। मैंने रीडर पढ़ी और अध्यापक महाशय की शिकायत को ठीक पाया। नतीजा यह हुआ कि समालोचना मैंने पुस्तकाकार में प्रकाशित की। इस रीडर का स्वत्वाधिकारी था प्रयाग का इंडियन प्रेस। अतएव इस समालोचना की बदौलत इंडियन प्रेस से मेरा परिचय हो गया, और कुछ समय बाद उन्होंने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन-कार्य मुझे दे डालने की इच्छा प्रकट की। मैंने उसे स्वीकार कर लिया। यह घटना रेल की नौकरी छोड़ने के एक साल पहले की है।

नौकरी छोड़ने पर मेरे मित्रों ने कई प्रकार से मेरी सहायता करने की इच्छा प्रकट की। किसी ने कहा—आओ, मैं तुम्हें अपना प्राइवेट सेक्रेटरी बनाऊँगा। किसी ने लिखा—मैं तुम्हारे साथ बैठकर संस्कृत पढ़ूँगा। किसी ने कहा—मैं तुम्हारे लिए एक छापाखाना खुलवा दूँगा इत्यादि। पर मैंने सबको अपनी कृतज्ञता की सूचना दे दी और लिख दिया कि अभी मुझे आपकी सहायता की विशेष आवश्यकता नहीं। मैंने सोचा—अव्यवस्थित चित्तवाले मनुष्य की सफलता में सदा संदेह रहता है। क्यों न मैं अंगीकृत कार्य ही में अपनी सारी शक्ति लगा दूँ। प्रयत्न और परिश्रम की बड़ी महिमा है। अतएव 'सब तज हरि भज' की मसल को चरितार्थ करता हुआ, इंडियन प्रेस के प्रदत्त काम ही में मैं अपनी शक्ति खर्च करने लगा। हाँ, जो थोड़ा-बहुत अवकाश कभी मिलता तो मैं उसमें अनुवाद आदि का कुछ काम और भी करता। समय की कमी के कारण मैं विशेष अध्ययन न कर सका। इसीसे 'संपत्ति-शास्त्र' नामक पुस्तक को छोड़कर और किसी अच्छे विषय पर मैं कोई नई पुस्तक न लिख सका।

उस समय तक मैंने जो कुछ लिखा था, उससे मुझे टकों की प्राप्ति तो कुछ हुई ही न थी। हाँ, ग्रंथकार, लेखक, समालोचक और कवि की जो पदवियाँ मैंने स्वयं अपने ऊपर लाद ली थीं, उनसे मेरे गर्व की मात्रा में बहुत-कुछ इज़ाफा ज़रूर हो गया। मेरे तत्कालीन मित्रों और सलाहकारों ने उसे पर्याप्त न समझा। उन्होंने कहा—"अजी। कोई ऐसी किताब लिखो जिससे टके सीधे हों।" रुपए का लोभ चाहे जो कराए। मैं उनके चकमें में आ गया। यूरोप और अमरीका तक में प्रकाशित पुस्तकें मँगाकर पढ़ीं।

संस्कृत भाषा में प्राप्त सामग्री से भी लाभ उठाया। बहुत परिश्रम करके कोई दो सौ सफ़े की एक पुस्तक लिख डाली। नाम उसका रखा—'तरणोपदेश'। मित्रों ने देखा, कहा, "अच्छी तो है, पर इसमें सरसता नहीं। पुस्तक ऐसी होनी चाहिए जिसका नाम सुनकर और विज्ञापन-मात्र पढ़कर ही खरीददार पाठक उसपर इस तरह टूटे जिस तरह गुड़ पर मक्खियों के झुंड-के-झुंड टूटते हैं।" मैं सोच-विचार में पड़ गया। बहुत दिनों तक चित्त चलायमान रहा। अंत में जीत मेरे मित्रों की ही रही। उनके प्रस्तावित नाम मुझे पसंद न आए। मैं उनसे भी बाँसभर आगे बढ़ गया। कवि तो मैं था ही, मैंने चार-चार चरण वाले लंबे छंदों में एक पद्यात्मक पुस्तक लिख डाली। ऐसी पुस्तक जिसके प्रत्येक पद्य से रस की नदी नहीं तो बरसाती नाला ज़रूर वह रहा था।

मेरे मित्रों ने पिछली पुस्तक को बहुत पसंद किया, उसे बहुत सरस पाया। अतएव उन्होंने मेरी पीठ खूब ठोंकी। मैंने भी अपना परिश्रम सफल समझा। अब लगा मैं हवाई किले बनाने। पुस्तक प्रकाशित होने पर उसे युक्तिपूर्वक बेचूंगा, मेरे घर रुपयों की वृष्टि होने लगी। शीघ्र ही मैं मोटर नहीं, तो एक विक्टोरिया खरीदकर उसपर हवा खाने निकला करूँगा। देहात छोड़कर दशाश्वमेध घाट पर कोई तिमंजिला मकान बनाकर या मोल लेकर वहीं काशी-वास करूँगा। कई कर्मचारी रखूंगा। अन्यथा हज़ारों की वी० पी० पी० कौन रवाना करेगा!

परंतु अभागों के सुख-स्वप्न सच्चे नहीं निकलते। मेरे हवाई किले एक पल में ढह पड़े। मेरी पत्नी कुछ पढ़ी-लिखी थी। उससे छिपाकर ये दोनों पुस्तकें मैंने लिखी थीं। दुर्घटना कुछ ऐसी हुई कि उसने ये पुस्तकें देख लीं। देखी ही नहीं उलट-पलट कर उसने पढ़ी भी। फिर क्या था, उसके शरीर में कराल काली का आवेश हो आया। उसने मुझपर वचन-विन्यास रूपी इतने कड़े कशाघात किए कि मैं तिलमिला उठा। उसने उन दोनों पुस्तकों की कापियों को आजन्म कारावास या काले-पानी की सजा दे दी। वे उसके संदूक में बंद हो गईं। उसके मरने पर ही उनका छुटकारा उस आजन्म कारावास से हुआ। छूटने पर मैंने उन्हें एकांत सेवन की आज्ञा दे दी, क्योंकि सती

की आज्ञा का उल्लंघन करने की शक्ति मुझमें नहीं। इस तरह मेरी पत्नी ने मुझे साहित्य के उस पंक-पयोधि में डूबने से बचा लिया।

'सरस्वती' के संपादन का भार उठाने पर मैंने अपने लिए कुछ आदर्श निश्चय किए। मैंने संकल्प किया कि (१) वक्त की पाबंदी करूंगा; (२) मालिकों का विश्वास-पात्र बनने की चेष्टा करूंगा; (३) अपने हानि-लाभ की परवाह न करके पाठकों के हानि-लाभ का सदा ख्याल रखूंगा; और (४) न्याय-पथ से कभी विचलित न हूंगा। इसका पालन कहाँ तक मुझसे हो सका, संक्षेप में सुन लीजिए—

(१) संपादक जी बीमार हो गए, इस कारण 'स्वर्ण समाचार' दो हफ्ते बंद रहा। मैनेजर महाशय के मामा परलोक प्रस्थान कर गए, लाचार 'विश्व-मोहनी' देर से निकली। 'प्रलयंकारी' पत्रिका के विधाता का फाउंटेनपेन टूट गया। उसके मातम में १३ दिन काम बंद रहा और इसी से पत्रिका के प्रकटन में विलंब हो गया। प्रेस की मशीन नाराज़ हो गई, क्या किया जाता? 'त्रिलोक मित्र' का यह अंक इसी से समय पर न छप सका। इस तरह की घोषणाएँ मेरी दृष्टि में बहुत पड़ चुकी थीं। मैंने कहा—मैं इन बातों का कायल नहीं, प्रेस की मशीन टूट जाए, तो उसका ज़िम्मेदार मैं नहीं। और कापी समय पर न पहुँचे तो उसका ज़िम्मेदार मैं हूँ। मैंने अपनी इस ज़िम्मेदारी का निर्वाह जी-जान होम करके किया। चाहे पूरा-का-पूरा अंक मुझे ही क्यों न लिखना पड़ा हो, कापी समय पर ही मैंने भेजी। मैंने तो यहाँ तक किया कि कम-से-कम छह महीने आगे की सामग्री सदा अपने पास प्रस्तुत रखी। सोचा कि यदि मैं महीनों बीमार पड़ जाऊँ तो क्या हो? 'सरस्वती' का प्रकाशन तब तक बंद रखना क्या ग्राहकों के साथ न्याय करना होगा? अस्तु, मेरे कारण सोलह-सहस्र वर्ष के दीर्घ काल में एक बार भी 'सरस्वती' का प्रकाशन नहीं रुका। जब मैंने अपना काम छोड़ा तब भी मैंने नए संपादक को बहुत-से बचे हुए लेख अर्पित किए। उस समय के उपार्जित और अपनें लिखे हुए कुछ लेख अब भी मेरे संग्रह में सुरक्षित हैं।

(२) मालिकों का विश्वास-भाजन बनने की चेष्टा में मैं यहाँ तक सचेत

रहा कि मेरे कारण उन्हें कभी उलझन में पड़ने की नौबत नहीं आई। 'सरस्वती' के जो उद्देश्य थे, उनकी रक्षा मैंने दृढ़ता से की। एक दफ़ा अलबत्ता मुझे इलाहबाद में डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट के बँगले पर हाज़िर होना पड़ा। पर मैं भूल से तलब किया गया था। उसी के संबंध में मजिस्ट्रेट को चेतावनी देनी थी। वह और किसी को मिली, क्योंकि विज्ञापनों की छपाई से मेरा कोई सरोकार न था।

मेरी सेवा से 'सरस्वती' का प्रचार जैसे-जैसे बढ़ता गया, और मालिकों का मैं जैसे-जैसे अधिकाधिक विश्वास-भाजन होता गया, वैसे-ही-वैसे मेरी सेवा का बदला भी मिलता गया, और मेरी आर्थिक स्थिति प्रायः वैसी ही हो गई जैसी कि रेलवे की नौकरी छोड़ने के समय थी। इसमें मेरी कारगुजारी कम, दिवंगत बाबू चिन्तामणि घोष की उदारता ही अधिकारणीभूत थी। उन्होंने मेरे संपादन-स्वातंत्र्य में कभी बाधा नहीं डाली। वे मुझे अपना कुटुंबी-सा समझते रहे, और उनके उत्तराधिकारी अब तक भी मुझे वैसा ही समझते हैं।

(३) इस समय तो कितनी ही महारानियाँ हिन्दी का गौरव बढ़ा रही हैं, पर उस समय एकमात्र 'सरस्वती' ही पत्रिकाओं की रानी नहीं, पाठकों की सेविका थी। तब उसमें कुछ छापना या किसी के जीवन-चरित्र आदि प्रकाशित करना जरा बड़ी बात समझी जाती थी। दशा ऐसी होने के कारण मुझे कभी-कभी बड़े-बड़े प्रलोभन दिए जाते थे। कोई कहता—मेरी मौसी का मरसिया छाप दो, मैं तुम्हें निहाल कर दूँगा। कोई लिखता—अमुक सभा में दिया था, अमुक सभापति का भाषण छाप दो, मैं तुम्हारे गले में बनारसी दुपट्टा डाल दूँगा। कोई आज्ञा देता—मेरे प्रभु का सचित्र जीवन-चरित्र निकाल दो, तो तुम्हें एक बढ़िया घड़ी या पैरगाड़ी नज़र की जाएगी। इस प्रलोभनों का विचार करके मैं अपने दुर्भाग्य को कोसता और कहता कि जब मेरे आकाश-महलों को खुद मेरी ही पत्नी ने गिराकर चूर कर दिया, तब भला ये घड़ियाँ और गाड़ियाँ मैं कैसे हज़म कर सकूँगा। नतीजा यह होता कि मैं बहरा और गूँगा बन जाता, और 'सरस्वती' में वही सामग्री जाने देता जिसमें मैं पाठकों का लाभ समझता। मैं उनकी

रुचि का सदैव ख्याल रखता, और यह देखता रहता कि मेरे किसी काम से उनको सत्पथ से विचलित होने का साधन न प्राप्त हो। संशोधन द्वारा लेखों की भाषा बहुसंख्यक पाठकों को समझ में आने लायक कर देता। यह न देखता कि यह शब्द अरबी का या फ़ारसी का या तुर्की का है। देखता सिर्फ़ यह कि इस शब्द, वाक्य या उल्लेख का आशय अधिकतर पाठक समझ लेंगे या नहीं। अल्पज्ञ होकर भी किसी पर अपनी विद्वता की झूठी छाप लगाने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक की पारिवारिक स्थिति और उसके बचपन का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।
२. लेखक की उत्तरोत्तर उन्नति का मुख्य कारण क्या था?
३. छंद-रचना की ओर आचार्य द्विवेदी की प्रवृत्ति कैसे हुई और इस ओर से वे बाद में उदास क्यों हो गए?
४. नौकरी छोड़ने के बाद द्विवेदी जी के मित्रों ने किस-किस प्रकार से उनकी सहायता करने के प्रस्ताव रखे? उन्होंने उनके प्रस्तावों को स्वीकार क्यों नहीं किया?
५. कर्त्तव्य-पालन की किन-किन अड़चनों का लेखक ने उल्लेख किया है? वह उनसे अपने किन गुणों के कारण बचा रह सका?
६. 'सरस्वती' के संपादन का भार उठाने पर लेखक ने अपने लिए कौन-कौन-से आदर्श निश्चित किए? वह उनका पालन कहाँ तक कर सका?
७. इस आत्मकथा के आधार पर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का चरितांकन कीजिए।
८. 'देखता सिर्फ़ यह कि इस शब्द, वाक्य या उल्लेख का आशय अधिकतर पाठक समझ लेंगे या नहीं' सोदाहरण बताइए कि द्विवेदी जी ने इस कथन का पालन 'मेरी जीवन-गाथा' में कहाँ तक किया है?
९. लेखक की 'आत्मकथा' पुस्तकालय से लेकर पढ़िए।

श्रीनिधि सिद्धांतालंकार

श्रीनिधि सिदधांतालंकार का जन्म ८ मार्च १६०१ ई० में मध्य प्रदेश के नरवरगढ़ में हुआ। १६२१ में आपने गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार से 'सिद्धांतालंकार' की उपाधि प्राप्त की। नागरिक जीवन की तुलना में आपको वन-भूमियों के सौन्दर्य तथा उनकी भीषणता ने ही अधिक आकर्षित किया और आपके लगभग ५० वर्ष उन्हीं में पर्यटन करते व्यतीत हुए। इन प्रयत्नों में आपको जंगल के मुक्त हरिन, शेर, तेन्दुआ, भालू, हाथी आदि वनचरों से भेंट करने तथा अनेक बार उनसे मुठभेड़ हो जाने के जो अवसर मिले उन्हीं को आपने अपनी शिवालक की घाटियों में,' 'मालिनी के वनों में', 'मचान पर उन्नचास दिन' तथा 'सूखे सुनसान नालों में' नामक पुस्तकों में सरस साहित्यिक शैली में सजाकर रख दिया। वन-जीवन के संबंध में आपके विवरण ताजे, सजीव एवं रोचक हैं और उन्हें अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए आपने जो भाषा-शैली अपनाई है उसकी अपनी विशिष्ट छटाएँ एवं भंगिमाएँ हैं। आप जहाँ कहीं वन-भूमियों के सौन्दर्य को देखकर संवेदनशील हो गए हैं, वहाँ-वहाँ आपके वर्णन में काव्यात्मकता अनायास आ गई है। ऐसे स्थल रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि से अलंकृत हैं और ये एक नए रहस्य का उद्घाटन करते हैं कि गद्य साहित्य में भी अलंकारों का सफलतापूर्वक विनियोग हो सकता है।

'मचान पर' शीर्षक पाठ आपकी पुस्तक 'शिवालक की घाटियों में' से संकलित है जिसमें एक यथार्थ घटना का बड़ा ही विशद वर्णन प्रस्तुत है। इस पाठ को पढ़ते हुए लगता है कि लेखक के अनुभवों में से स्वयं पाठक गुजर रहा है, इसलिए उसे भय, रोमांच आदि मनोभावों की अनुभूति होने लगती है। इस पाठ की वर्णन-पद्धति एवं भाषा-शैली को बड़ी बारीकी से हृदयंगम करने की आवश्यकता है।

२. मचान पर

वह वटवृक्ष बहुत पुराना था। सारे जंगल में वैसा विशाल और गंभीर वृक्ष शायद ही कोई और रहा हो। ऊँचे एक टीले पर—साधक तपस्वी की तरह अकेला वह एक पग पर खड़ा था। वन्य वराहों और मस्त हाथियों की तो बिसात ही क्या, बड़ी-बड़ी आँधियाँ और भूकंप भी उसके उस एक पग को विचलित न कर सके थे।

मैं दिनभर से उसकी शाखा पर बैठा मचान बाँध रहा था। बड़े सबेरे ही जंगल से पाढर के तीन मोटे लट्ठे काट लाया था। वे इतने भारी थे कि उन्हें उठाकर पेड़ पर चढ़ाना असंभव जान पड़ा। परंतु जल्दी ही इसका उपाय कर लिया गया। तीन मज़बूत रस्सियाँ मेरे पास थीं। तीनों के एक-एक सिरे में एक-एक लट्ठा बाँध दिया और रस्सियों के दूसरे सिरों को पकड़ कर मैं वृक्ष पर चढ़ गया। एक चिकनी डाल को घिरनी बना मैंने डोल की तरह उन तीनों को एक-एक कर ऊपर खींच लिया और बाद में दो सुदृढ़ शाखाओं में अच्छी तरह जमा दिया। इससे मेरी मचान के लिए पाँच हाथ चौड़ा छह हाथ लंबा एक त्रिभुज तैयार हो गया। इस त्रिभुज पर कितने ही मज़बूत लट्ठे बिठा मैंने एक विश्राम-योग्य पक्का धरातल तैयार कर लिया और उसपर एक-एक फुट ऊँचे पत्ते और कुशा घास बिछाकर एक कोमल और गुदगुदा बिस्तर भी बिछा डाला।

मचान तैयार थी। परंतु अभिलाषा और भी आगे बढ़ रही थी। मचान को कुटिया का रूप दिया जाने लगा। इसके लिए बाँसों की आवश्यकता पड़ी। हाथ-पाँव थक चुके थे। शरीर विश्राम माँग रहा था मगर अभी विश्राम कहाँ? वृक्ष से उतरकर एक बार फिर जंगल में पहुँचा।

देखा, वहाँ एक ही पहर में भारी परिवर्तन हो चुका है। बाँस काटने योग्य अनुकूल वातावरण नहीं दिखाई पड़ रहा।

कहाँ वह चहल-पहल से भरी हुई प्रातः काल की वनभूमि, कहाँ यह निस्तब्धता से भरा हुआ तीसरे पहर का महारण्य। दूर तक वन-घाटियों में अभेद्य सन्नाटा छाया हुआ है। स्थान-स्थान पर विरल छाया-द्रुमों के नीचे छन-छनकर आती हुई धूप निरानंद, कटुता और निराशा के अजस्र वातावरण का सृजन कर रही है। जैसे, किसी बस्ती को सूना छोड़ उसके सारे ही निवासी कहीं भाग गए हों और उसकी वीथियों, गलियों, मकानों और चौराहों में सर्वत्र प्रेतलोक का-सा सन्नाटा छा रहा हो, वनभूमि की भी कुछ वैसी ही अवस्था इस समय दीख पड़ रही है। कहाँ गए इसके वे असंख्य पक्षीगण, जो अभी प्रभात में ही तरह-तरह की बोलियाँ बोलते हुए चहचहा रहे थे? कहाँ गईं वे नीलगाएँ, वे बारहसिंगे, वे मृगयूथ, वे वराह, वे शृगाल, वे शशक, जो अभी चार ही घंटे पहले यहाँ जीवन का स्रोत बहा रहे थे? इतनी ही देर में वे सब कहाँ भाग गए? कोई भी तो नहीं दीख पड़ रहा। केवल, कहीं-कहीं कोई इक्का-दुक्का बंदर वृक्ष के तने के सहारे बैठा दिवानिद्रा का आनंद लेता दीख पड़ रहा है। बीच-बीच में वह जब बेचैनी से करवट बदलने लगता है, या किसी दूसरे निकटवर्ती छायादार वृक्ष की खोज में सूखे पत्तों पर पैर रखता हुआ अलसाया-सा चलने लगता है, तब उसका हलका-सा मर-मर शब्द एक विचित्र तरह की गंभीरता उत्पन्न कर देता है। मैं तो जानता हूँ कि यह बंदर के चलने का ही पद-शब्द है। मगर दूसरे आदमी के लिए, जिसे पता न हो, यह शब्द अनेक प्रकार के संशय उत्पन्न कर देता है। सहसा उसका हृदय धड़कने लगता है, और कोई उसके कानों में कह उठता है—"क्या कहते हो? उसका पदशब्द भी तो ऐसा ही होता है जी! यदि कदाचित् यह वही हो, तब?"

ऐसे संदिग्ध एकांत में बाँस काटने के लिए कुल्हाड़ी चलाने में भी हिचक हो रही है। केवल भय या संशय के कारण ही नहीं, ऐसा लग रहा है, जैसे मैं वनवासियों

की किसी सर्वमान्य प्रथा के उल्लंघन करने का महापराध करने जा रहा हूँ। जानता हूँ, यह तीसरा पहर वनचरों के विश्राम का समय है। इस समय सहस्रों पखेरू द्रुमशाखाओं और निकुंजों में पड़े दिवानिद्रा का आनंद ले रहे हैं। सहस्रों वनचर शीतल झाड़ियों और छिपे आवास-स्थानों में पड़े विश्राम पा रहे हैं। वनवासियों की चिर पुरातन प्रथा के अनुसार इस समय कोई किसी से वार्तालाप नहीं कर सकता, गा नहीं सकता, चिल्ला नहीं सकता, अत्यंत आवश्यकता के बिना पर्यटन नहीं कर सकता और किसी पर आक्रमण भी नहीं कर सकता। भक्ष्य और भक्षक के बीच में इस समय जो अनाक्रमण संधि बनी हुई है, उसका भंग भी नहीं किया जा सका। तब मैं भी इस प्रथा की अवहेलना क्यों करूँ ?

परंतु घड़ी ने बताया साढ़े तीन बज चुके हैं। अधूरी मचान को बनाते-बनाते ही सायंकाल का अँधेरा उतर आएगा। फिर समय ही कहाँ रहेगा ? मन-ही-मन वन-देवता से क्षमा माँग कितने ही बाँस काटकर धरती पर गिरा दिए और उन्हें जैसे-तैसे घसीट-घसाटकर वटदादा के नीचे पहुँचा दिया। पहले की ही तरह उन्हें भी वृक्ष पर चढ़ा लगभग डढ़-डेढ़ फुट ऊँचा एक सुंदर घेरा और चार-पाँच फुट ऊँची एक छत तैयार कर डाली, और बाद में उसे कुशा और पत्तों से छाकर शीघ्र ही एक पर्णशाला बना डाली।

एक ही काम अब और शेष था। पर्णशाला कैसी बनी है, वृक्ष के नीचे से वह कैसी दीखती है, देर से यह जानने की उत्सुकता मुझे हो रही थी। सो, वटदादा के केश पकड़ फिर नीचे उतरा और एक निकटवर्ती शिला पर बैठ निश्चिन्त हृदय से अपनी अभिलाषा को तृप्त करने लगा। अपनी वस्तु चाहे कितनी ही कलाशून्य और फीकी क्यों न हो, ममता की आँखें उसे सुंदर के अतिरिक्त दूसरे किसी भी रूप में नहीं देखना चाहतीं। यही हाल मेरा था। वास्तव में पर्णकुटी चाहे कैसी ही रही हो, मगर मुझे वह बहुत सुंदर जान पड़ रही थी। तिस पर पवित्र कुशा और वटवृक्ष की भावना ने उसे योगाश्रम की किसी दिव्य कल्पना के क्षेत्र में ला खड़ा किया था। चिन्तामय

नागरिक वातावरण से दूर, सिंह-व्याघ्र-रक्षिणी उस पर्णकुटी को देख मेरा अंतस्तल पुलकित हो उठा। वटदादा की अनेक भुजाओं ने उसे चारों तरफ़ से घेरकर अपनी गोद में सुरक्षित बैठाया हुआ था।

हठात दाईं ओर के किसी जंगल में काकड़ बोल उठा। मैं थोड़ा घबराया और चारों तरफ़ देखने लगा। इस असमय में काकड़ की आवाज़! ······अभी तो शेर के निकलने का समय भी नहीं हुआ। आज उसे कहीं भ्रम तो नही हो गया? मगर दिन तो ढल ही चुका है। सूर्यास्त होने में भी अब देर नहीं है। ऐसे में मृत्यु के अदृश्य दूत अँधेरी गुफ़ाओं में से निकल यदि समय से पहले ही वनभूमियों में पद-संचार करने लग पड़े हों तो आश्चर्य भी क्या है?

थोड़ी ही दूर पर पहाड़ी नाला बह रहा था। उसके किनारे पहुँच, हाथ-मुँह धो, ढक्कनदार लोटे में पानी भर जल्दी ही लौट आया और सीधा मचान पर पहुँचा। भूख ज़ोरों से लग रही थी। दिनभर कड़ी मेहनत जो की थी। पके हुए बेलों और आधा सेर फालसों के अतिरिक्त सेरभर सत्तू और आधा सेर भुने हुए चने भी थे। सबसे पहले पावभर सत्तू में कानपुरी बूरा और थोड़ा-सा जल मिलाकर आहारयज्ञ का श्रीगणेश किया। फिर तीन बेलफल, बाद में थोड़े-से चने और अंत में फालसों की पूर्णाहुति। इस तरह दिनभर की कसर निकाल कुशा के बिस्तर पर चुपचाप लेट गया। कुछ देर तक तो जागता रहा, मगर बाद में कब नींद आ गई, पता न चला।

जब आँख खुली, शायद आधी रात बीत चुकी थी। कब्रिस्तान का-सा भीषण सन्नाटा चारों तरफ़ छाया हुआ था। कुछ भी नहीं सूझ रहा था। आकाश में तारे तो अवश्य चमक रहे थे, मगर चाँद नहीं था। रात के पहरेदार पक्षी की 'धुक्-धुक्' ध्वनि और सद्योमृत हरिनों के शवों पर 'मरसिया' पढ़ती हुई झिल्लियों की करुणा-भरी पुकार के सिवाय कहीं भी कोई शब्द न सुनाई पड़ रहा था। सारा ही जंगल भय में डूबा हुआ था। स्वयं वटदादा भी इस तरह सन्नाटा ओढ़े खड़े थे, जैसे इस संसार में उनका किसी से भी कुछ वास्ता नहीं है। समूचा वृक्ष गाढ़ी निद्रा में नीरव सो रहा

था । बस, उस पर केवल एक मैं ही साथी-शून्य, अकेला जाग रहा था ।

नाले के किनारे के पत्थरों में से किसी का पदशब्द देर से सुनाई पड़ रहा था । कोई जैसे बहुत ही धीरे-धीरे चल रहा हो । शब्द धीरे-धीरे पास आता जा रहा था । कौन होगा ? मैं सोचने लगा । तभी उसने स्वयं ही उत्तर दिया । एक ऊँची दहाड़ ने आस-पास की घाटियों को गुँजा दिया । झाड़ियाँ, नाले का मैदान, वटदादा की डालियाँ और उनके साथ ही मेरी मचान तक एक साथ काँप उठी । चारों तरफ खलबली-सी मच गई । मचान के नीचे से भागते हुए जानवरों की पगध्वनियाँ एक साथ सुनाई पड़ने लगीं । उनमें कितने ही हरिन रहे होंगे, कितनी ही नीलगाएँ । परंतु चार-पाँच मिनट बाद ही फिर पहले-सा सन्नाटा छा गया, जिससे यह अनुमान लगाना कठिन न रहा कि कि वे किन्हीं सुरक्षित स्थानों में जाकर दुबक गए हैं ।

सहसा मुझे ख्याल हुआ, मेरी मचान भी तो धरती से केवल १५ फुट ऊँची है । उसकी दहाड़ों से स्पष्ट पता चल रहा है कि क्रमशः वह इधर ही आ रहा है । सो, यदि यहाँ आकर उसकी दृष्टि कहीं ऊपर घूम जाए और मचान पर मुझे बैठा देख आज मेरे किकार से भूख मिटाने का संकल्प कर वह इस वृक्ष के नीचे ही डेरा डाल दे—तब उससे बचने का मेरे पास क्या उपाय है ? विशेष अवस्थाओं में उसे १५ फुट से भी ऊँची छलाँग मार लेते हुए देखा गया है । वैसे, निन्यानवे प्रतिशत तो यह एकदम असंभव ही है कि वह मचान पर झपटने का साहस करे । कारण, शेर इस तरह भूख मिटाने के लिए मचानों पर आक्रमण नहीं किया करता । हरिनों और नीलगायों को मार-कर धरती पर से ही वह अपना भोजन प्राप्त किया करता है । मगर तो भी शेर ही तो ठहरा । जो बात उसने पहले कभी न की हो, आगे भी वह उसे न करेगा, ऐसा कोई विशेष बंधन तो उसपर लागू नहीं किया जा सकता । स्वेच्छाचारी तानाशाहों की तरह वह जब जो कुछ भी अपनी स्वेच्छा से कर निकले, उसके जंगल-नियमों के अनुसार वही उसके लिए उचित और वैध है । उसके इस स्वेच्छाचार पर अंकुश लगाने के लिए भारतीय नवविधान में भी तो अब तक किसी धारा का निर्माण नहीं हुआ है । इसीलिए

मेरी आशंका निर्मूल नहीं है।

हृदय धड़कने लगा। क्षण-प्रतिक्षण व्याकुलता बढ़ने लगी। शेर के देखने का जो चाव मेरे मन में बहुधा बना रहता है, वह अब भय में बदलने लगा।

उसी समय मेरी पासवाली डाल पर से "गुटरगूँ-गुटरगूँ" करते हुए दो जंगली कबूतर धीरे-धीरे पंख फड़फड़ाने लगे।

उनकी भाषा का बोध न रहने से मैं यह तो न समझ सका, वे मुझ से क्या कहना चाहते हैं, परंतु इतना अनुभव मैंने अवश्य किया कि उनकी उस ध्वनि में मित्रता, आत्मीयता और पड़ोसीपन की स्निग्ध भावना भरी हुई है। यह जानते हुए भी कि वे अकिंचन पक्षीमात्र हैं, विपत्ति में मेरी कोई भी सहायता नहीं कर सकते, उनकी उपस्थितिमात्र ने अकेलेपन की मेरी भावना को दूर कर दिया। ऐसा अनुभव होने लगा, जैसे मैं अकेला नही हूँ, दो और भी साथी मेरे पास बैठे हुए हैं। मेरी ही तरह उन्हें भी शेर की दहाड़ सुनाई पड़ रही है। वह मचान पर आक्रमण कर सकता है, उन्हें भी ऐसा संदेह है। परिस्थिति चिन्ताजनक है, यह वे भी अनुभव कर रहे हैं।

तीन न होते हुए भी मुझे ऐसा लगने लगा जैसे हम तीन हैं। विचार यद्यपि अवास्तविक था मगर उस समय वह मुझे अत्यंत वास्तविक जान पड़ने लगा और मेरा हृदय एकबार फिर आत्म-विश्वास और धैर्य से भर उठा। एक कुल्हाड़ी के अतिरिक्त जो सदा मित्र की भाँति मेरे हाथ में रहती थी—आत्म-रक्षा के लिए मेरे पास और कोई साधन न था। तब भी मैंने बड़े ही भरोसे के साथ उसे ही उठा लिया और सावधान होकर भविष्य की प्रतीक्षा करने लगा।

मगर देर तक प्रतीक्षा न करनी पड़ी और मेरी धुंधली आशंका को सत्य सिद्ध करते हुए शेर ने मचान के नीचे आकर मुझे चुनौती दी। पहले एक ऊँची दहाड़, फिर उसके बाद होनेवाले छोटे-छोटे गर्जन...रह-रहकर सुनाई पड़ने। एक बार, दो बार, तीन बार। हृदय थामकर मैंने नीचे झाँका। देखा, वह सामने साकार रूप में उपस्थित है। अंधकार रहने से उसका शरीर और- उसकी शक्ल तो स्पष्ट न देखी जा सकी

मगर तब भी उसे पहचान सकने में विशेष कठिनाई न हुई। मचान बाँधते समय बहुत-सी भाभड़ घास वृक्ष के नीचे ही पड़ी रह गई थी, जो अपने विशिष्ट पीले रंग के कारण इस अँधेरे में भी साफ़-सी दिखाई दे रही थी। उसपर खड़े होने के कारण शेर का शरीर भी बहुत कुछ स्पष्ट देखा जा सकता था। दो जलते हुए अंगारों की चमक से मैं यह भी अच्छी तरह समझ गया कि वह ऊपर ही देख रहा है। अर्थात, सब मिलाकर छलाँग में अब देर नहीं है।

तभी एक तड़प उठी—एक झपट, एक दहाड़, एक हलचल, और एक ताकत भरे पंजे की चपेट ने मचान की डाल को झकझोर दिया। शेर उछला तो सही, मगर शायद छलाँग का हिसाब ठीक नहीं बैठा और मचान तक न पहुँच वह फुट-दो फुट नीचे ही रह गया। मेरा अनुमान है कि यदि छलाँग दो फुट के लगभग और ऊँची रही होती तो उसका पंजा ठीक मेरे घुटने पर ही आकर पड़ता। यद्यपि चारों तरफ बने हुए डेढ़ फुट चौड़े घेरे के कारण उससे भी मुझे किसी तरह की विशेष हानि न पहुँचती।

प्रयत्न में असफल होकर वह देखते-ही-देखते ओठों में गुर्राता हुआ, डाल पर पंजों की खरौंच देता हुआ, फिसलता हुआ धरती पर जा गिरा। सारा ही काम इतनी जल्दी और अचानक हो गया कि मैं कुल्हाड़ी संभाले बैठा ही रह गया, उधर घटना का प्रथम अध्याय समाप्त भी हो गया।

धरती पर गिरते ही वह फिर उछला। मगर यह दूसरी छलाँग पहली की अपेक्षा और भी हल्की रही और इस बार वह शायद डाल तक भी नहीं पहुँच सका। मांस-भोजी होने के कारण इससे अधिक श्रम कर सकना उसके लिए कठिन था। जान पड़ता है, पंद्रह-पंद्रह फुट ऊँची दो छलाँगों ने उसे इस तरह थका डाला था कि तीसरी छलाँग उसके लिए असंभव हो उठी थी। नहीं तो दूसरी छलाँग के बाद तीसरी छलाँग लगाकर वह अपने भाग्य की कम-से-कम एक बार और भी परीक्षा कर सकता था।

वृक्ष के नीचे छोटे-छोटे पत्थर और सूखे पत्ते एवं कुशा घास बिछी हुई थी। उन पर चलने के पदशब्द से मैंने अनुमान लगाया कि या तो थकान मिटाने की इच्छा से

धीरे-धीरे टहलता हुआ वह तीसरी छलाँग लगाने की तैयारी कर रहा है, या मचान तक पहुँच सकना असंभव जान विदा होने जा रहा है।

जब १५-२० मिनट तक भी तीसरी छलाँग की नौबत न आई, तो मैंने समझ लिया, मेरे अनुमान का दूसरा पक्ष ही ठीक है—शेर सचमुच विदा हो चुका है। बहुत ही संतुष्ट भाव से नीचे झाँककर देखा, कहीं भी कोई शब्द नहीं सुनाई पड़ रहा। वही पहले का-सा निःशब्द सन्नाटा चारों तरफ़ छाया हुआ है। इतनी भयानक विपत्ति से अपने को यों सहज ही छूटता जाता जान मैं निश्चिन्त होकर फिर मचान पर लेट गया।

मगर न जाने क्यों नींद नहीं आ रही थी। एक हल्का-सा संदेह अब भी मन में बना ही हुआ था। कोई जैसे धीरे-धीरे कान में कह रहा था, "विपत्ति अभी टली नहीं है। किसी भी समय फिर भी आ सकती है! सावधान!!"

आधे ही घंटे में संदेह सत्य हो उठा। शेर वास्तव में ही वृक्ष के नीचे से हटकर कहीं दूर नहीं गया था। अवश्य ही वह पास ही कहीं किसी झाड़ी में बैठा अपनी थकान मिटा रहा था। उसने एक क्षण के लिए भी अपना संकल्प नहीं बदला था। यह सब मुझे तब पता चला जब एक बार फिर मचान के नीचे हलकी-हलकी पदध्वनि सुनाई पड़ने लगी।

वह वटवृक्ष, जिस पर मेरी मचान थी, छह-सात फुट ऊँचे टीले पर खड़ा था, यह पीछे लिख आया हूँ। शेर ने अब तक दो छलाँगें समतल भूमि से ही लगाई थीं, टीले पर चढ़कर नहीं। टीले से मचान केवल आठ-दस फुट ऊँची ही रह जाती थी। मचान बनाने की अपनी इस भयंकर भूल को मैंने तब समझा जब मैंने देखा, वह एक ही छलाँग में टीले पर चढ़ आया है। थोड़ी ही देर बाद वे ही दोनों जलते हुए अंगारे फिर दीख पड़ने लगे—वह ऊपर ताक रहा है, इस बार रक्षा की संभावना बिल्कुल नहीं।

बिजली की तरह मेरे मस्तिष्क में एक विचार आया कि यदि मैं जल्दी ही मचान छोड़ पेड़ की ऊँची डालियों पर चढ़ जाऊँ तो अब भी बच सकता हूँ। मगर शेर ने मुझे ऐसा करने का अवसर ही न दिया। मैं जैसे ही मचान से बाहर निकलने लगा,

एक थर्रा देनेवाली दहाड़ ने समूचे वायुमंडल को झकझोर दिया और अगले ही क्षण मचान की छत मचमचा उठी। शेर मचान की छत पर था।

मगर एक तो छत फिसलनी और ढलवान थी, दूसरे बाँस की पतली खपच्चियों से बने रहने के कारण शेर का बोझ भी नहीं संभाल पा रही थी, और लगातार मच-मचा रही थी। कब टूट-टाटकर गिर जाए, पता नहीं था। लेकिन इस मचमचाने ने ही मेरे सामने आत्मरक्षा की एक सफल योजना रखी। यदि छत तोड़ दी जाए तो कैसा रहे? परिणाम अनुकूल भी हो सकता है, प्रतिकूल भी, मगर इतने विस्तार के साथ सोचने का तब समय ही कहाँ था? शेर ऊपर चढ़ चुका था और किसी भी क्षण उसके मचान में घुस आने का भय था। नीचे-ही-नीचे से कुल्हाड़ी के आठ-दस भरपूर हाथ मार मैंने छत को तोड़ डाला और भड़-भड़ाकर जैसे ही वह गिरने लगी, चौंके हुए शेर को, मुझपर आक्रमण करना छोड़, पहले अपनी रक्षा की चिन्ता करनी पड़ गई। भूकंप आने पर जैसे लोग सब कुछ भूलकर मकान से बाहर निकल भागने की कोशिश करते हैं, उसे भी मेरा ख्याल छोड़, भाग उठने के लिए बाध्य होना पड़ा। देखते-ही-देखते छत गिर पड़ी और उसके बाँस, भाभड़ और पत्ते कुछ मचान पर, कुछ मुझ पर और कुछ नीचे की धरती पर बिखर गए।

एक क्षण की भी देर न लगी, मैं उछलकर एक ऊँची शाखा पर जा चढ़ा। संभव है, मामले को समझ चुकने के बाद शेर ने बाद में भी कुछ छलाँगें मारी हों, मगर शिकार हाथ से निकल जाने के बाद अपने आपको व्यर्थ ही थकाने के अतिरिक्त अब उन छलाँगों का कोई लाभ न था।

दिन निकलने की तैयारी करने लगा। पूर्व में प्रभात का अरुण पक्षी चहचहा उठा। शिरीष फूलों की मादक गंध घाटी में महक उठी। सामने पहाड़ी नाले के कगार पर खड़े होकर सकुशल रात बीत जाने की प्रसन्नता में बारहसिंगा अपनी सहचरी को पुकारने लगा। मैंने देखा, एक छोटे-से कोटर में से वे ही दोनों कबूतर—शायद पति-पत्नी—अपनी गर्दनें बाहर निकाले मेरी ओर भोली नज़र से ताक रहे हैं। "बधाइयाँ,

परदेशी ! सैकड़ों बधाइयाँ ! ! " यही शायद वे कहना चाह रहे हैं। मुझे ऐसा लगा, जैसे दो स्वर्गभ्रष्ट देवमिथुन कपोत-रूप धारण कर इस तपस्वी वटवृक्ष में निवास कर रहे हैं। मार्गभ्रष्ट, असहाय और दीनों को सहायता देने के लिए ही उन्होंने विहंगम रूप धारण किया है। मेरा विचार है, रात की विपत्ति से मैं उन्हींके आशीर्वाद से बच सका। नहीं तो विपत्ति जिस तरह की थी, उससे बच निकलना किसी-किसी भाग्यशाली का ही काम था। माथा नवाकर मैंने दूर से ही उन दोनों देवताओं को प्रणाम किया।

—श्रीनिधि सिद्धांतालंकार

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक ने किस उद्देश्य से मचान बाँधी ?
   (क) शेर का शिकार करने के लिए।
   (ख) हिंस्र जंतुओं से अपनी रक्षा करने के लिए।
   (ग) रात्रि-विश्राम के लिए।
   (घ) शेर का प्रत्यक्ष दर्शन करने के लिए।

२. "देखा, वहाँ एक ही पहर में भारी परिवर्तन हो चुका है।" इसमें संकेतित परिवर्तन का वर्णन कीजिए।

३. "अपनी वस्तु चाहे कितनी ही कलाशून्य और फीकी क्यों न हो, ममता की आँखें उसे सुंदर के अतिरिक्त दूसरे किसी रूप में नहीं देखना चाहतीं।" प्रसंग उल्लेख करते हुए टिप्पणी कीजिए।

४. अपनी मचान के संबंध में लेखक ने जो-जो कल्पनाएँ की हैं, उनका उल्लेख कीजिए।

५. कपोत युगल की 'गुटरगूँ' सुनकर लेखक के मन में क्या-क्या भावनाएँ उठीं ? उसने उन्हें किस भाव से प्रणाम किया ?

६. इस पाठ से अन्य वन्य जंतुओं के संबंध में क्या-क्या जानकारी प्राप्त होती है ?

७. इस पाठ के उन कथनों का चयन कीजिए जिनमें अलंकार हों।

८. इस पाठ के छोटे-छोटे और बड़े-बड़े वाक्यों को ध्यानपूर्वक पढ़िए और बताइए कि लेखक ने उनका प्रयोग किस दृष्टि से किया है ?

प्रेमचंद

मुंशी प्रेमचंद का जन्म १८८० ई० में वाराणसी जिले के लमही ग्राम में हुआ था। आप साहित्य में प्रेमचंद के नाम से प्रसिद्ध हैं, पर आपका वास्तविक नाम धनपतराय था। शिक्षा-काल में आपने अँगरेजी के साथ उर्दू का भी अध्ययन किया था। प्रारंभ में आप कुछ वर्षों तक स्कूल में अध्यापक रहे, और फिर शिक्षा विभाग में सब-डिप्टी इंसपैक्टर हो गए। कुछ दिनों बाद असहयोग आंदोलन से सहानुभूति रखने के कारण आपने सरकारी नौकरी से त्याग-पत्र दे दिया और आजीवन साहित्य-सेवा करते रहे। आपकी मृत्यु सन् १९३६ में हुई।

प्रेमचंद के प्रसिद्ध उपन्यास 'सेवासदन', 'निर्मला, 'रंगभूमि' 'कर्मभूमि', 'गबन', 'गोदान' आदि हैं। आपकी कहानियों के विशाल संग्रह आठ भागों में 'मानसरोवर' नाम से प्रकाशित हैं, जिनमें लगभग तीन सौ कहानियाँ संकलित हैं। 'कर्बला', 'संग्राम' और 'प्रेम की वेदी' आपके नाटक हैं। साहित्यक निबंध 'कुछ विचार' नाम से प्रकाशित हैं।

प्रेमचंद का साहित्य समाजसुधार और राष्ट्रीय भावना से अनुप्रेरित है। वह अपने समय की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों का पूरा प्रतिनिधित्व करता है। उसमें किसानों की दशा, सामाजिक बंधनों में तड़पती नारियों की वेदना और वर्णव्यवस्था की कठोरता के भीतर संत्रस्त हरिजनों की पीड़ा का मार्मिक चित्रण मिलता है। सामयिकता के साथ ही आपके साहित्य में ऐसे तत्त्व भी विद्यमान हैं जो उसे शाश्वत और स्थायी बनाते हैं। प्रेमचंद अपने युग के उन सिद्ध कलाकारों में थे, जिन्होंने हिन्दी को नवीन युग की आशा-आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बनाया।

आपकी भाषा सहज, प्रवाहपूर्ण, मुहावरेदार और प्रभावशाली है और उसमें अद्‌भुत व्यंजना-शक्ति विद्यमान है।

प्रेमचंद की कतिपय प्रसिद्ध कहानियों में से 'बूढ़ी काकी' एक है जिसमें आदर्शोन्मुख यथार्थवादी प्रवृत्ति की झलक मिलती है। इसमें मानव-मन का सफल चित्रण हुआ है और कई मानवीय कमजोरियों को लेखक ने बखूबी उद्‌घाटित किया है। बालिका, प्रौढ़ और वृद्धा का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है वह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। बूढ़ी काकी का चित्र अत्यंत करुण और मर्मस्पर्शी है।

३. बूढ़ी काकी

बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन हुआ करता है। बूढ़ी काकी में जिह्वा-स्वाद के सिवा और कोई चेष्टा शेष न थी, और न अपने कष्टों की ओर आकर्षित करने का, रोने के अतिरिक्त दूसरा सहारा ही। समस्त इन्द्रियाँ—नेत्र, हाथ और पैर जवाब दे चुके थे। पृथ्वी पर पड़ी रहतीं और घरवाले कोई बात उनकी इच्छा के प्रतिकूल करते, भोजन का समय टल जाता या उसका परिणाम पूर्ण न होता, अथवा बाज़ार से कोई वस्तु आती और उन्हें न मिलती तो वे रोने लगती थीं। उनका रोना-सिसकना साधारण रोना न था, वे गला फाड़-फाड़कर रोती थीं।

उनके पतिदेव को स्वर्ग सिधारे कालांतर हो चुका था। बेटे तरुण हो-होकर चल बसे थे। बस एक भतीजे के सिवाय और कोई न था। उसी भतीजे के नाम उन्होंने अपनी सारी संपत्ति लिख दी। भतीजे ने संपत्ति लिखाते समय खूब लंबे-चौड़े वायदे किए, किन्तु वे सब वायदे केवल सब्ज़बाग थे। यद्यपि उस संपत्ति की वार्षिक आय डेढ़-दो सौ रुपए से कम न थी, तथापि बूढ़ी काकी को पेटभर भोजन भी कठिनाई से मिलता था। इसमें उनके भतीजे पंडित बुद्धिराम का अपराध था अथवा उनकी अर्धांगिनी श्रीमती रूपा का, इसका निर्णय करना सहज नहीं। बुद्धिराम स्वभाव के सज्जन थे, किन्तु उसी समय तक जब तक कि उनके कोष पर कोई आँच न आए। रूपा स्वभाव से तीव्र थी सही, पर ईश्वर से डरती थी। अतएव बूढ़ी काकी को उसकी तीव्रता इतनी न खलती थी जितनी बुद्धिराम की भलमनसाहत।

बुद्धिराम को कभी-कभी अपने अत्याचार का खेद होता था। विचारते कि इसी

संपत्ति के कारण मैं इस समय भलामानुष बना बैठा हूँ। यदि मौखिक आश्वासन और सूखी सहानुभूति से स्थिति में सुधार हो सकता तो उन्हें कदाचित् कोई आपत्ति न होती, परंतु विशेष व्यय का भय उनकी सत्चेष्टा को दबाए रखता था। यहाँ तक कि यदि द्वार पर कोई भला आदमी बैठा होता और बूढ़ी काकी उस समय अपना राग अलापने लगतीं तो वे आग हो जाते और घर में आकर उन्हें जोर से डाँटते। लड़कों को बुड्ढों से स्वाभाविक विद्वेष होता ही है, और फिर जब माता-पिता का यह रंग देखते तो वे बूढ़ी काकी को और भी सताया करते। कोई चुटकी काटकर भागता, कोई उनपर पानी की कुल्ली कर देता। काकी चीख मारकर रोतीं, पर यह बात प्रसिद्ध थी कि वे केवल खाने के लिए रोती हैं, अतएव उनके संताप और आर्तनाद पर कोई ध्यान नहीं देता था। हाँ, काकी क्रोधातुर होकर बच्चों को गालियाँ देने लगतीं तो रूपा घटनास्थल पर आ पहुँचती। इस भय से काकी अपनी जिह्वा-कृपाण का कदाचित ही प्रयोग करती थीं, यद्यपि उपद्रव-शांति का यह उपाय रोने से कहीं अधिक उपयुक्त था।

संपूर्ण परिवार में यदि काकी से किसी को अनुराग था तो वह बुद्धिराम की छोटी लड़की लाडली थी। लाडली अपने दोनों भाइयों के भय से अपने हिस्से का मिठाई-चबेना बूढ़ी काकी के पास बैठकर खाया करती थी। यह उसका रक्षागार था, और यद्यपि काकी की शरण उनकी लोलुपता के कारण बहुत महँगी पड़ती थी, तथापि भाइयों के अन्याय से कहीं सुलभ थी। इसी स्वार्थानुकूलता ने उन दोनों में सहानुभूति का आरोपण कर दिया था।

२

रात का समय था। बुद्धिराम के द्वार पर शहनाई बज रही थी और गाँव के बच्चों का झुंड विस्मयपूर्ण नेत्रों से गाने का रसास्वादन कर रहा था। चारपाइयों पर विश्राम करते हुए मेहमान नाइयों से मुक्कियाँ लगवा रहे थे। समीप ही खड़ा हुआ भाट विरदावली सुना रहा था। दो-एक अँगरेजी पढ़े हुए नवयुवक इन व्यवहारों से

उदासीन थे। वे इस गँवार मंडली में बोलना अथवा सम्मिलित होना अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल समझते थे।

आज बुद्धिराम के बड़े लड़के का तिलक आया है। यह उसी का उत्सव है। घर के भीतर स्त्रियाँ गा रही थीं और रूपा मेहमानों के लिए भोजन के प्रबंध में व्यस्त थी। भट्ठियों पर कड़ाह चढ़ रहे थे। एक में पूड़ी-कचौड़ी निकल रही थी। दूसरे में अन्य पकवान बनते थे। एक बड़े हंडे में मसालेदार तरकारी पक रही थी। घी और मसाले की क्षुधावर्धक सुगंधि चारों ओर फैली हुई थी।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में शोकमय विचार की भाँति बैठी हुई थीं। यह स्वादमिश्रित सुगंधि उन्हें बेचैन कर रही थी। वे मन-ही-मन विचार कर रही थीं, संभवतः मुझे पूड़ियाँ न मिलेंगी। इतनी देर हो गई, कोई भोजन लेकर नहीं आया। मालूम होता है, सब लोग भोजन कर चुके हैं। मेरे लिए कुछ न बचा। यह सोचकर उन्हें रोना आया परंतु अपशकुन के भय से वे रो न सकीं।

"अहा! कैसी सुगंधि है! अब मुझे कौन पूछता है! जब रोटियों के ही लाले पड़े हैं तब ऐसे भाग्य कहाँ कि भरपेट पूड़ियाँ मिलें!" यह विचार कर उन्हें रोना आया, कलेजे में हूक-सी उठने लगी। परंतु रूपा के भय से उन्होंने फिर मौन धारण कर लिया।

बूढ़ी काकी देर तक इन्हीं दुखदायक विचारों में डूबी रहीं। घी और मसालों की सुगंधि रह-रह कर आपे से बाहर किए देती थी। मुँह में पानी भर-भर आता था। पूड़ियों का स्वाद स्मरण करके हृदय में गुदगुदी होने लगती थी। किसे पुकारूँ, आज लाडली बेटी भी नहीं आई। दोनों छोकरे सदा दिक किया करते हैं। आज उनका भी कहीं पता नहीं। कुछ मालूम तो होता कि क्या बन रहा है।

बूढ़ी काकी की कल्पना में पूड़ियों की तस्वीर नाचने लगी। खूब लाल-लाल, फूली-फूली, नरम-नरम होंगी। रूपा ने भली भाँति मोयन दिया होगा। कचौड़ियों में अजवाइन और इलायची की महक आ रही होगी। एक पूड़ी मिलती तो जरा हाथ में

लेकर देखती। क्यों न चलकर कड़ाह के सामने ही बैठूँ। पूड़ियाँ छन-छनकर तैयार होंगी। कड़ाह से गरम-गरम निकाल कर थाल में रखी जाती होंगी। फूल हम घर में भी सूँघ सकते हैं; परंतु वाटिका में कुछ और ही बात होती है। इस प्रकार निर्णय कर बूढ़ी काकी उकड़ूँ बैठकर हाथों के बल सरकती हुई बड़ी कठिनाई से चौखट से उतरीं और धीरे-धीरे रेंगती हुई कड़ाह के पास आ बैठीं। यहाँ आने पर उन्हें उतना ही धैर्य हुआ जितना भूखे कुत्ते को खानेवाले के सम्मुख बैठने में होता है।

रूपा उस समय कार्य-भार से उद्विग्न हो रही थी। कभी इस कोठे में जाती, कभी उस कोठे में, कभी कड़ाह के पास जाती, कभी भंडार में जाती। किसी ने बाहर से आकर कहा—"महाराज ठंडाई माँग रहे हैं।" ठंडाई देने लगी। इतने में फिर किसी ने आकर कहा—"भाट आया है, उसे कुछ दे दो।" भाट के लिए सीधा निकाल रही थी कि एक तीसरे आदमी ने आकर पूछा—"अभी भोजन तैयार होने में कितना बिलंब है? ज़रा ढोल मजीरा उतार दो।" बेचारी अकेली स्त्री दौड़ते-दौड़ते व्याकुल हो रही थी। झुँझलाती थी, कुढ़ती थी, परंतु क्रोध प्रकट करने का अवसर न पाती थी। भय होता, कहीं पड़ोसिनें यह न कहने लगें कि इतने में उबल पड़ी। प्यास से कंठ सूख रहा था। गरमी के मारे फुँकी जाती थी, परंतु इतना अवकाश भी नहीं था कि ज़रा पानी पी ले अथवा पंखा लेकर झले। यह भी खटका था कि ज़रा आँख हटी और चीज़ों की लूट मची। इस अवस्था में उसने बूढ़ी काकी को कड़ाह के पास बैठी देखा तो जल गई। क्रोध न रुक सका। इसका भी ध्यान न रहा कि पड़ोसिनें बैठी हुई हैं, मन में क्या कहेंगी; पुरुष सुनेंगे तो क्या कहेंगे। जिस प्रकार मेंढक केंचुए पर झपटता है, उसी प्रकार वह बूढ़ी काकी पर झपटी और उन्हें दोनों हाथों से झटककर बोली—ऐसे पेट में आग लगे। पेट है या भाड़? कोठरी में बैठते हुए क्या दम घुटता था; अभी मेहमानों ने नहीं खाया, भगवान को भोग नहीं लगा। तब तक धैर्य न हो सका? आकर छाती पर सवार हो गई। जल जाए ऐसी जीभ। दिनभर खाती न होती तो न जाने किसकी हाँड़ी में मुँह डालती? गाँव देखेगा तो कहेगा बुढ़िया भरपेट खाने को

नहीं पाती, तभी तो इस तरह मुँह बाए फिरती है। नाम बेचने पर लगी है। नाक कटवाकर ही दम लेगी। इतना ठूँसती है, न जाने कहाँ भस्म हो जाता है। भला चाहती हो तो जाकर कोठरी में बैठो, जब घर के लोग खाने लगेंगे तब तुमको भी मिलेगा। तुम कोई देवी नहीं हो कि चाहे किसी के मुँह में पानी न जाए, परंतु तुम्हारी पूजा पहले हो जाए।

बूढ़ी काकी ने सिर न उठाया; न रोईं न बोलीं, चुपचाप रेंगती हुई अपनी कोठरी में चली गईं। आवाज़ ऐसी कठोर थी कि हृदय और मस्तिष्क की सारी शक्तियां, संपूर्ण विचार और संपूर्ण भार उसी ओर आकर्षित हो गए थे। नदी में जब करार का कोई बृहद् खंड कटकर गिरता है तो आस-पास का जल-समूह चारों ओर से उसी स्थान को पूरा करने के लिए दौड़ता है।

३

भोजन तैयार हो गया। आँगन में पत्तलें पड़ गईं, मेहमान खाने लगे। स्त्रियों ने जेवनार-गीत गाना आरंभ कर दिया। मेहमानों के नाई और सेवकगण भी उसी मंडली के साथ, किन्तु कुछ हटकर भोजन करने बैठे थे, परंतु सभ्यतानुसार जब तक सब-के-सब खा न चुकें, कोई उठ नहीं सकता था। दो-एक मेहमान जो कुछ पढ़े-लिखे थे, सेवकों के दीर्घाहार पर झुंझला रहे थे। वे इस बंधन को व्यर्थ और बेसिर-पैर की की बात समझते थे।

बूढ़ी काकी अपनी कोठरी में जाकर पश्चात्ताप कर रही थीं कि मैं कहाँ से कहाँ गई। उन्हें रूपा पर क्रोध नहीं था। अपनी जल्दबाजी पर दुख था। सच ही तो, जब तक मेहमान लोग भोजन कर न चुकेंगे, घरवाले कैसे खाएँगे। मुझसे इतनी देर भी न रहा गया। सबके सामने पानी उतर गया। अब जब तक कोई बुलाने न आएगा, न जाऊँगी।

मन ही मन इसी प्रकार का विचार कर वे बुलावे की प्रतीक्षा करने लगीं।

परन्तु घी की रुचिकर सुवास बड़ी ही धैर्य-परीक्षक प्रतीत हो रही थी। उन्हें एक-एक पल एक-एक युग के समान मालूम होता था। अब पत्तल बिछ गई होंगी। अब मेहमान आ गए होंगे। लोग हाथ-पैर धो रहे हैं, नाई पानी दे रहा है। मालूम होता है लोग खाने बैठ गए। जेवनार गाया जा रहा है, यह विचार कर वे मन को बहलाने के लिए लेट गईं। धीरे-धीरे एक गीत गुनगुनाने लगीं? उन्हें मालूम हुआ कि मुझे गाते देर हो गई। क्या इतनी देर तक लोग भोजन कर ही रहे होंगे। किसी की आवाज़ सुनाई नहीं देती। अवश्य ही लोग खा-पीकर चले गए। मुझे कोई बुलाने नहीं आया। रूपा चिढ़ गई है, क्या जाने न बुलाए। सोचती हो कि आप ही आएंगी। वे कोई मेहमान तो नहीं जो उन्हें बुलाऊं। बूढ़ी काकी चलने के लिए तैयार हुईं। यह विश्वास कि एक मिनट में पूड़ियां और मसालेदार तरकारियां सामने आएंगी, उनकी स्वादेन्द्रिय को गुदगुदाने लगा। उन्होंने मन में तरह-तरह के मनसूबे बांधे—पहले तरकारी से पूड़ियां खाऊंगी, फिर दही और शक्कर से, कचौरियां रायते के साथ मज़ेदार मालूम होंगी। चाहे कोई बुरा माने चाहे भला, मैं तो मांग-मांग कर खाऊंगी। यही न लोग कहेंगे कि इन्हें विचार नहीं? कहा करें, इतने दिन के बाद पूड़ियां मिल रही हैं तो मुंह जूठा करके थोड़े ही उठ जाऊंगी।

वे उकड़ूं बैठ कर हाथों के बल सरकती हुई आँगन में आईं। परन्तु हाय दुर्भाग्य! अभिलाषा ने अपने पुराने स्वभाव के अनुसार समय की मिथ्या कल्पना की थी। मेहमान-मंडली अभी बैठी हुई थी। कोई खाकर उंगलियां चाटता था, कोई तिरछे नेत्रों से देखता था कि और लोग अभी खा रहे हैं या नहीं। कोई इस चिन्ता में था कि पत्तल पर पूड़ियां छूटी जाती हैं किसी तरह इन्हें भीतर रख लेता। कोई दही खाकर जीभ चटकारता था, परन्तु दूसरा दोना मांगते संकोच करता था कि इतने में बूढ़ी काकी रेंगती हुई उनके बीच में जा पहुंची। कई आदमी चौंककर उठ खड़े हुए। पुकारने लगे—अरे यह बुढ़िया कौन है? यह कहां से आ गई? देखो किसी को छू न दे।

पं० बुद्धिराम काकी को देखते ही क्रोध से तिलमला गए। पूड़ियों का थाल लिए खड़े थे। थाल को ज़मीन पर पटक दिया और जिस प्रकार निर्दयी महाजन अपने किसी बेईमान और भगोड़े कर्ज़दार को देखते ही झपटकर उसका टेंटुआ पकड़ लेता है उसी तरह लपककर उन्होंने बूढ़ी काकी के दोनों हाथ पकड़े और घसीटते हुए लाकर उन्हें अंधेरी कोठरी में धम से पटक दिया। आशारूपी वाटिका लू के एक ही झोंके में विनष्ट हो गई।

मेहमानों ने भोजन किया। घरवालों ने भोजन किया। बाजेवाले भी भोजन कर चुके, परंतु बूढ़ी काकी को किसी ने नहीं पूछा। बुद्धिराम और रूपा दोनों ही बूढ़ी काकी को उनकी निर्लज्जता के लिए दंड देने का निश्चय कर चुके थे। उनके बुढ़ापे पर, दीनता पर किसी को करुणा न आती थी। अकेली लाडली उनके लिए कुढ़ रही थी।

लाडली को काकी से अत्यंत प्रेम था। बेचारी भोली लड़की थी। बाल-विनोद और चंचलता की उसमें गंध तक न थी। दोनों बार जब उसके माता-पिता ने काकी को निर्दयता से घसीटा तो लाडली का हृदय ऐंठ कर रह गया। वह झुँझला रही थी कि ये लोग काकी को क्यों बहुत-सी पूड़ियाँ नहीं देते? क्या मेहमान सब-की-सब खा जाएँगे? और यदि काकी ने मेहमानों के पहले खा लिया तो क्या बिगड़ जाएगा? वह काकी के पास जाकर उन्हें धैर्य देना चाहती थी, किन्तु माता के भय से न जाती थी। उसने अपने हिस्से की पूड़ियाँ बिलकुल न खाई थीं। अपनी गुड़ियों की पिटारी में बंद कर रखी थीं। वह उन पुड़ियों को काकी के पास ले जाना चाहती थी। उसका हृदय अधीर हो रहा रहा था। बूढ़ी काकी मेरी बात सुनते ही उठ बैठेंगी। पूड़ियाँ देख कर कैसी प्रसन्न होंगी। मुझे खूब प्यार करेंगी।

४

रात के ग्यारह बज गये थे। रूपा आँगन में पड़ी सो रही थी। लाड़ली की

आँखों में नींद न आती थी। काकी को पूड़ियाँ खिलाने की खुशी उसे सोने न देती थी। उसने गुड़ियों की पिटारी सामने ही रखी थी। जब विश्वास हो गया कि अम्माँ सो रही हैं तो वह चुपके से उठी और विचारने लगी, कैसे चलूं? चारों ओर अंधेरा था। केवल चूल्हों में आग चमक रही थी, और चूल्हों के पास एक कुत्ता लेटा हुआ था। लाडली की दृष्टि द्वार के सामने वाले नीम की ओर गई। उसे मालूम हुआ कि उस पर हनुमान जी बैठे हुए हैं। उनकी पूंछ, उनकी गदा, सब स्पष्ट दिखलाई दे रहा है। मारे भय के उसने आँखें बंद करलीं। इतने में कुत्ता उठ बैठा। लाडली को ढाढस हुआ। कई सोए हुए मनुष्यों के बदले एक भागता हुआ कुत्ता उसके लिए अधिक धैर्य का कारण हुआ। उसने पिटारी उठाई और बूढ़ी काकी की कोठरी की ओर चली।

५

बूढ़ी काकी को केवल इतना स्मरण था कि किसी ने मेरे हाथ पकड़ कर घसीटे, फिर ऐसा मालूम हुआ कि जैसे कोई पहाड़ पर उड़ाए लिए जाता है। उनके पैर बार-बार पत्थरों से टकराए तब किसी ने उन्हें पहाड़ पर से पटका; वे मूर्छित हो गईं।

जब वे सचेत हुईं तो किसी की ज़रा भी आहट न मिलती थी। समझीं कि सब लोग खा-पीकर सो गए और उनके साथ मेरी तकदीर भी सो गई। रात कैसे कटेगी? राम! क्या खाऊँ? पेट में अग्नि धधक रही है? हा! किसी ने मेरी सुधि न ली! क्या मेरा पेट काटने से धन जुड़ जाएगा? इन लोगों को इतनी भी दया नहीं आती कि न जाने बुढ़िया कब मर जाए? उसका जी क्यों दुखाएँ? मैं पेट की रोटियाँ ही खाती हूँ कि और कुछ? इस पर यह हाल! मैं अंधी अपाहिज ठहरी, न कुछ सुनूं न बूझूं। यदि आँगन में चली तो क्या बुद्धिराम से इतना कहते नहीं बनता था कि काकी, अभी लोग खा रहे हैं, फिर आना। मुझे घसीटा, पटका। उन्हीं पूड़ियों के लिए रूपा ने सबके साँमने गालिय दीं। उन्हीं पूड़ियों के लिए इतनी दुर्गति करने पर भी उनका पत्थर का कलेजा न पसीजा। सबको खिलाया, मेरी बात तक न पूछी। जब तब ही न दीं,

तो अब क्या देंगे ?

यह विचार कर काकी निराशामय सन्तोष के साथ लेट गईं। ग्लानि से गला भर-भर आता था, परन्तु मेहमानों के भय से रोती न थी।

सहसा उनके कानों में आवाज आई—"काकी उठो, मैं पूड़ियां लाई हूं।" काकी ने लाडली की बोली पहचानी। चटपट उठ बैठीं। दोनों हाथों से लाडली को टटोला और उसे गोद में बैठा लिया। लाडली ने पूड़ियां निकाल कर दीं। काकी ने पूछा—क्या तुम्हारी अम्मा ने दी हैं ?

लाडली ने कहा—नहीं, यह मेरे हिस्से की हैं।

काकी पूड़ियों पर टूट पड़ीं। पांच मिनट में ही पिटारी खाली हो गई। लाडली ने पूछा—काकी पेट भर गया ?

जैसे थोड़ी-सी वर्षा ठंडक के स्थान पर गर्मी पैदा कर देती है, उसी भांति इन थोड़ी-सी पूड़ियों ने काकी की क्षुधा और इच्छा को और उत्तेजित कर दिया था। बोली—नहीं बेटी, जाकर अम्मा से और मांग लाओ।

लाडली ने कहा अम्मा सोती हैं, जगाऊंगी तो मारेंगी।

काकी ने पिटारी को फिर टटोला। उसमें कुछ खुर्चन गिरे थे। उन्हें निकाल कर वे खा गईं। बार-बार होंठ चाटती थीं। चटखारें भरती थीं।

हृदय मसोस रहा था कि और पूड़ियां कैसे पाऊं। सन्तोष-सेतु जब टूट जाता है तब इच्छा का बहाव अपरिमित हो जाता है। काकी का अधीर मन इच्छा के प्रबल प्रवाह में बह गया। उचित और अनुचित का विचार जाता रहा। वे कुछ देर इच्छा को रोकती रहीं। सहसा लाडली से बोलीं—मेरा हाथ पकड़ कर वहां ले चलो जहां मेहमानों ने बैठ कर भोजन किया है।

लाडली उनका अभिप्राय समझ न सकी। उसने काकी का हाथ पकड़ा और ले जाकर जूठी पत्तलों के पास बैठा दिया। दीन, क्षुधातुर, हतज्ञान बुढ़िया पत्तलों से पूड़ियों के टुकड़े चुन-चुनकर भक्षण करने लगीं। ओह दही कितना स्वादिष्ट था,

कचौड़ियां कितनी सलोनी, खस्ता, कितनी सुकोमल। काकी बुद्धिहीन होते हुए भी इतना जानती थीं कि मैं वह काम कर रही हूं जो मुझे कदापि न करना चाहिए। मैं दूसरों की जूठी पत्तल चाट रही हूं। परन्तु बुढ़ापा तृष्णा रोग का अन्तिम समय है, जब सम्पूर्ण इच्छाएं एक ही केन्द्र पर आ लगती हैं। बूढ़ी काकी में यह केन्द्र उनकी स्वादेन्द्रिय थी।

ठीक उसी समय रूपा की आंखें खुलीं। उसे मालूम हुआ कि लाडली मेरे पास नहीं है। वह चौंकी, चारपाई के इधर-उधर ताकने लगी कि कहीं नीचे तो नहीं गिर पड़ी। उसे वहां न पाकर बैठी तो क्या देखती है कि लाडली जूठे पत्तलों के पास चुपचाप खड़ी है और बूढ़ी काकी पत्तलों पर से पूड़ियों के टुकड़े उठा-उठा कर खा रही हैं। रूपा का हृदय सन्न हो गया। किसी गाय की गर्दन पर छुरी चलते देखकर जो अवस्था उसकी होती, वही उस समय हुई। इससे अधिक शोकमय दृश्य असम्भव था। पूड़ियों के कुछ ग्रासों के लिए उसकी चचेरी सास ऐसा पतित और निकृष्ट कर्म कर रही है। यह वह दृश्य था जिसे देखनेवालों के हृदय कांप उठते हैं। ऐसा प्रतीत हुआ मानो ज़मीन रुक गई, आसमान चक्कर खा रहा है। संसार पर कोई विपत्ति आने वाली है। रूपा को क्रोध न आया। शोक के सम्मुख क्रोध कहां? करुणा और भय से उसकी आंखें भर आईं। इस अधर्म के पाप का भागी कौन है? उसने सच्चे हृदय से गगन-मंडल की ओर हाथ उठाकर कहा—"परमात्मा, मेरे बच्चों पर दया करो। इस अधर्म का दण्ड मुझे मत दो, नहीं तो मेरा सत्यानाश हो जाएगा।"

रूपा को अपनी स्वार्थपरता और अन्याय इस प्रकार प्रत्यक्ष रूप में कभी न देख पड़े थे। वह सोचने लगी—हाय! मैं कितनी निर्दयी हूं। जिसकी सम्पत्ति से मुझे दो सौ रुपया वार्षिक आय हो रही है, उसकी यह दुर्गति! और मेरे कारण! हे दयामय भगवान्! मुझसे बड़ी भारी चूक हुई है, मुझे क्षमा करो। आज मेरे बेटे का तिलक था। सैकड़ों मनुष्यों ने भोजन किया। मैं उनके इशारों की दासी बनी रही। अपने नाम के लिए सैकड़ों रुपए व्यय कर दिए। परन्तु जिसकी बदौलत हज़ारों रुपए

खाए, उसे इस उत्सव में भी भर पेट भोजन न दे सकी। केवल इसी कारण तो कि वह वृद्धा असहाय है।

रूपा ने दिया जलाया, अपने भंडार का द्वार खोला और एक थाली में संपूर्ण सामग्रियाँ सजाकर लिए बूढ़ी काकी की ओर चली।

आधी रात जा चुकी थी, आकाश पर तारों के थाल सजे हुए थे और उनपर देवगण स्वर्गीय पदार्थ सजा रहे थे; परंतु उनमें से किसी को वह परमानंद प्राप्त न हो सका था जो बूढ़ी काकी को अपने सम्मुख थाल देखकर प्राप्त हुआ। रूपा ने कंठावरुद्ध स्वर में कहा—"काकी उठो, भोजन कर लो। मुझसे आज बड़ी भूल हुई, उसका बुरा न मानना। परमात्मा से प्रार्थना करो कि वे मेरा अपराध क्षमा कर दें।"

भोले-भाले बच्चों की भाँति, जो मिठाइयाँ पाकर मार और तिरस्कार सब भूल जाते हैं, बूढ़ी काकी वैसे ही सब भुला कर बैठी हुई खाना खा रही थीं। उनके एक-एक रोएँ से सच्ची सदिच्छाएँ निकल रही थीं और रूपा बैठी इस स्वर्गीय दृश्य का आनंद लेने में निमग्न थी।

—प्रेमचन्द

प्रश्न-अभ्यास

१. "बुढ़ापा बहुधा बचपन का पुनरागमन होता है।" इस कथन का समर्थन 'बूढ़ी काकी' के वर्णनों के आधार पर कीजिए।

२. "अतएव बूढ़ी काकी को उसकी (रूपा की) तीव्रता उतनी न खलती थी, जितनी बुद्धिराम की भलमनसाहत।" क्यों?

३. काकी और लाडली में किस कारण से पारस्परिक सहानुभूति थी?

४. जबकि सारे घर में उत्साह और प्रसन्नता की लहर व्याप्त थी, काकी अपनी कोठरी में शोक-मग्न क्यों बैठी थीं?

५. "नदी में जब करार का कोई बृहत् खंड कटकर गिरता है तो आसपास का जलसमूह चारों ओर से उसी स्थान को पूरा करने के लिए दौड़ता है।" व्याख्या करते हुए बताइए कि लेखक ने यह वाक्य किस घटना के स्पष्टीकरण के लिए लिखा है।

६. भोजन न मिलने पर भी काकी रूपा पर क्रोध न करके कमरे में जाकर स्वयं पश्चाताप क्यों करने लगीं?

७. "परंतु बुढ़ापा तृष्णा-रोग का अंतिम समय है, जब संपूर्ण इच्छाएँ एक ही केन्द्र पर आ लगती हैं।" लेखक की इस उक्ति की समीक्षा काकी के साथ घटी घटना के आधार पर कीजिए।

८. इस कहानी के सर्वाधिक मार्मिक स्थल का चयन कीजिए और उसमें निहित मार्मिकता को उद्घाटित कीजिए।

९. यदि जूठी पत्तलें चाटती हुई काकी को पंडित बुद्धिराम देख लेते तो वे काकी के साथ क्या बर्ताव करते, अपनी कल्पना से बताइए।

१०. प्रेमचंद अर्थपूर्ण और प्रभावशाली सूक्तियाँ कहने में अपना सानी नहीं रखते। इस कहानी की सूक्तियाँ चुनकर उपयुक्त कथन की समीक्षा कीजिए।

११. इस कहानी की रूपरेखा तिहाई पृष्ठ में लिखिए।

श्रीराम शर्मा

पं० श्रीराम शर्मा का जन्म जिला मैनपुरी, उत्तर प्रदेश के किरथरा नामक गांव में सन् १८९६ ई० में हुआ था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से आपने बी० ए० की परीक्षा पास की। प्रारंभ में आपने अध्यापन-कार्य किया। इसके बाद बहुत समय तक आप स्वतंत्र रूप से राष्ट्र और साहित्य की सेवा करते रहे। साहित्य के क्षेत्र में 'विशाल भारत' के संपादक-रूप में आपने विशेष ख्याति अर्जित की। लंबी बीमारी के बाद १९६७ ई० में आपका देहांत हो गया।

शर्मा जी एक सफल शिकारी थे और लेखनी द्वारा शिकार के आनंद को अपने पाठकों तक पहुँचाते रहे थे। हिन्दी में आप शिकार-साहित्य के अग्रणी लेखक माने गए हैं। आपने ज्ञानवर्द्धक एवं विचारोत्तेजक लेख भी लिखे थे, जो अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। आपकी भाषा प्रवाहपूर्ण और मुहावरेदार है। तद्भव शब्दों के प्रयोग से आपकी भाषा में विशेष सजीवता आ गई है।

'शिकार', 'बोलती प्रतिमा' एवं 'जंगल के जीव' आपकी शिकार-संबंधी पुस्तकों के नाम हैं। इनके अतिरिक्त 'सेवाग्राम की डायरी', 'सन् बयालीस के संस्मरण' आदि आपकी अन्य पुस्तकें हैं।

'स्मृति' में लेखक ने बाल्यावस्था की एक घटना का चित्रण किया है। बड़ी रोमांचक शैली में प्रत्येक क्षण एवं प्रत्येक परिस्थिति की गंभीरता तथा खतरे को आपने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि पाठक का कुतूहल आदि से अंत तक बराबर बना रहता है।

४. स्मृति

सन् १६०८ ई० की बात है। दिसंबर का आखीर या जनवरी का प्रारंभ होगा। चिल्ला जाड़ा पड़ रहा था। दो-चार दिन पूर्व कुछ बूंदा-बाँदी हो गई थी, इसलिए शीत की भंयकरता और भी बढ़ गई थी। सायंकाल के साढ़े तीन या चार बजे होंगे। कई साथियों के साथ मैं झरबेरी के बेर तोड़-तोड़कर खा रहा था कि गाँव के पास से एक आदमी ने जोर से पुकारा कि तुम्हारे भाई बुला रहे हैं, शीघ्र ही घर लौट जाओ। मैं घर को चलने लगा। साथ में छोटा भाई भी था। भाई साहब की मार का डर था, इसलिए सहमा हुआ चला जाता था। समझ में नहीं आता था कि कौन-सा कसूर बन पड़ा। डरते-डरते घर में घुसा। आशंका थी कि बेर खाने के अपराध में ही तो पेशी न हो। पर आँगन में भाई साहब को पत्र लिखते पाया। अब पिटने का भय दूर हुआ। हमें देखकर भाई साहब ने कहा—"इन पत्रों को ले जाकर मक्खनपुर डाकखाने में डाल आओ। तेजी से जाना, जिससे शाम की डाक में चिट्ठियाँ निकल जाएँ। ये बड़ी ज़रूरी हैं।

जाड़े के दिन थे ही, तिस पर हवा के प्रकोप से कँप-कँपी लग रही थी। हवा मज्जा तक ठिठुरा रही थी, इसलिए हमने कानों को धोती से बाँधा। माँ ने भुँजाने के लिए थोड़े चने एक धोती में बाँध दिए। हम दोनों भाई अपना-अपना डंडा लेकर घर से निकल पड़े। उस समय उस बबूल के डंडे से जितना मोह था, उतना इस उमर में रायफल से नहीं। मेरा डंडा अनेक साँपों के लिए नारायण-वाहन हो चुका था। मक्खन पुर के स्कूल और गाँव के बीच पड़नेवाले आम के पेड़ों से प्रतिवर्ष उससे आम झूरे

जाते थे। इस कारण वह मूक डंडा सजीव-सा प्रतीत होता था। प्रसन्नवदन हम दोनों मक्खनपुर की ओर तेज़ी से बढ़ने लगे। चिट्ठियों को मैंने टोपी में रख लिया, क्योंकि कुर्ते में जेबें न थीं।

हम दोनों उछलते-कूदते, एक ही साँस में गाँव से चार फर्लांग दूर उस कुएँ के पास आ गए जिसमें एक अति भयंकर काला साँप पड़ा हुआ था। कुआँ कच्चा था, और चौबीस हाथ गहरा था। उसमें पानी न था। उसमें न जाने साँप कैसे गिर गया था? कारण कुछ भी हो, हमारा उसके कुएँ में होने का ज्ञान केवल दो महीने का था। बच्चे नटखट होते ही हैं। मक्खनपुर पढ़ने जानेवाली हमारी टोली पूरी बानर-टोली थी। एक दिन हम लोग स्कूल से लौट रहे थे कि हमको कुएँ में उझकने की सूझी। सबसे पहले उझकनेवाला मैं ही था। कुएँ में झाँककर एक ढेला फेंका कि उसकी आवाज़ कैसी होती है। उसके सुनने के बाद अपनी बोली की प्रतिध्वनि सुनने की इच्छा थी, पर कुएँ में ज्योंही ढेला गिरा, त्योंही एक फुसकार सुनाई पड़ी। कुएँ के किनारे खड़े हुए हम सब बालक पहले तो उस फुसकार से ऐसे चकित हो गए जैसे किलोलें करता हुआ मृगसमूह अति समीप के कुत्ते की भौंक से चकित हो जाता है। उसके उपरांत सभी ने उछल-उछलकर एक-एक ढेला फेंका और कुएँ से आनेवाली क्रोधपूर्ण फुसकार पर कहकहे लगाए।

गाँव से मक्खनपुर जाते और मक्खनपुर से लौटते समय प्रायः प्रतिदिन ही कुएँ में ढेले डाले जाते थे। मैं तो आगे भागकर आ जाता था और टोपी को एक हाथ से पकड़कर दूसरे हाथ से ढेला फेंकता था। यह रोज़ाना की आदत-सी हो गई थी। साँप से फुसकार करवा लेना मैं उस समय बड़ा काम समझता था। इसलिए जैसे ही हम दोनों उस कुएँ की ओर से निकले, कुएँ में ढेला फेंककर फुसकार सुनने की प्रवृत्ति जाग्रत हो गई। मैं कुएँ की ओर बढ़ा। छोटा भाई मेरे पीछे ऐसे हो लिया जैसे बड़े मृगशावक के पीछे छोटा मृगशावक हो लेता है। कुएँ के किनारे से एक ढेला उठाया और उछलकर एक हाथ से टोपी उतारते हुए साँप पर ढेला गिरा दिया, पर मुझपर

तो बिजली-सी गिर पड़ी। साँप ने फुसकार मारी या नहीं, ढेला उसे लगा या नहीं यह बात अब तक स्मरण नहीं। टोपी के हाथ में लेते ही तीनों चिट्ठियाँ चक्कर काटती हुई कुएँ में गिर रही थीं। अकस्मात् जैसे घास चरते हुए हिरन की आत्मा गोली से हत होने पर निकल जाती है और वह तड़पता रह जाता है, उसी भाँति वे चिट्ठियाँ क्या टोपी से निकल गईं, मेरी तो जान निकल गई। उनके गिरते ही मैंने उनको पकड़ने के लिए एक झपट्टा भी मारा; ठीक वैसे जैसे घायल शेर शिकारी को पेड़ पर चढ़ते देख उसपर हमला करता है। पर वे तो पहुँच से बाहर हो चुकी थीं। उनको पकड़ने की घबराहट में मैं स्वयं झटके के कारण कुएँ में गिर गया होता।

कुएँ की पाट पर बैठे हम रो रहे थे—छोटा भाई ढाढ़ें मारकर और मैं चुपचाप आँखें डबडबाकर। पतीली में उफान आने से ढकना ऊपर उठ जाता है और पानी बाहर टपक जाता है। निराशा, पिटने के भय और उद्वेग से रोने का उफान आता था। पलकों के ढकने भीतरी भावों को रोकने का प्रयत्न करते थे, पर कपोलों पर आँसू ढलक ही जाते थे। माँ की गोद की याद आती थी। जी चाहता था कि माँ आकर छाती से लगा ले और लाड़-प्यार करके कह दे कि कोई बात नहीं, चिट्ठियाँ फिर लिख लीं जाएँगी। तबीयत करती थी कि कुएँ में बहुत-सी मिट्टी डाल दी जाए और घर जाकर कह दिया जाए कि चिट्ठी डाल आए, पर उस समय मैं झूठ बोलना जानता ही न था। घर लौटकर सच बोलने पर रूई की तरह धुनाई होती। मार के खयाल से शरीर ही नहीं मन भी काँप जाता था। सच बोलकर पिटने के भावी भय और झूठ बोलकर चिट्ठियों के न पहुँचने की ज़िम्मेदारी के बोझ से दबा मैं बैठा सिसक रहा था। इसी सोच-विचार में पंद्रह मिनट होने को आए। देर हो रही थी, और उधर दिन का बुढ़ापा बढ़ता जाता था। कहीं भाग जाने को तबीयत करती थी, पर पिटने का भय और ज़िम्मेदारी की दुधारी तलवार कलेजे पर फिर रही थी।

दृढ़ संकल्प से दुविधा की बेड़ियाँ कट जाती हैं। मेरी दुविधा भी दूर हो गई। कुएँ में घुसकर चिट्ठियों को निकालने का निश्चय किया। कितना भयंकर निर्णय था!

पर जो मरने को तैयार हो, उसे क्या ? मूर्खता अथवा बुद्धिमत्ता से किसी काम को करने के लिए कोई मौत का मार्ग ही स्वीकार कर ले, और वह भी जानबूझकर, तो फिर वह अकेला संसार से भिड़ने को तैयार हो जाता है। और फल ? उसे फल की क्या चिन्ता। फल तो किसी दूसरी शक्ति पर निर्भर है। उस समय चिट्ठियाँ निकालने के लिए मैं विषधर से भिड़ने को तैयार हो गया। पासा फेंक दिया था। मौत का आलिंगन हो अथवा साँप से बचकर दूसरा जन्म—इसकी कोई चिन्ता न थी। पर विश्वास यह था कि डंडे से साँप को पहले मार दूँगा, तब फिर चिट्ठियाँ उठा लूँगा। बस इसी दृढ़ विश्वास के बूते पर मैंने कुएँ में घुसने की ठानी।

छोटा भाई रोता था और उसके रोने का तात्पर्य था कि मेरी मौत मुझे नीचे बुला रही है, यद्यपि वह शब्दों से न कहता था। वास्तव में मौत सजीव और नग्न रूप में कुएँ में बैठी थी, पर उस नग्न मौत से मुठभेड़ के लिए मुझे भी नग्न होना पड़ा। छोटा भाई भी नंगा हुआ। एक धोती मेरी, एक छोटे भाई की, एक चनेवाली, दो कानों से बँधी हुई धोतियाँ—पाँच धोतियाँ और कुछ रस्सी मिलाकर कुएँ की गहराई के लिए काफ़ी हुईं। हम लोगों ने धोतियाँ एक-दूसरी से बाँधी और खूब खींच-खींचकर आज़मा लिया कि गाँठें कड़ी हैं या नहीं। अपनी ओर से कोई धोखे का काम न रखा। धोती के एक सिरे पर डंडा बाँधा और उसे कुएँ में डाल दिया। दूसरे सिरे को डेंग (वह लकड़ी जिसपर चरस—पुर टिकता है) के चारों ओर एक चक्कर देकर और एक गाँठ लगाकर छोटे भाई को दे दिया। छोटा भाई केवल आठ वर्ष का था, इसीलिए धोती को डेंग से कड़ी करके बाँध दिया और तब उसे खूब मज़बूती से पकड़ने के लिए कहा। मैं कुएँ में धोती के सहारे घुसने लगा। छोटा भाई रोने लगा। मैंने उसे आश्वासन दिलाया कि मैं कुएँ के नीचे पहुँचते ही साँप को मार दूँगा और मेरा विश्वास भी ऐसा ही था। कारण यह था कि इससे पहले मैंने अनेक साँप मारे थे। इसलिए कुएँ में घुसते समय मुझे साँप का तनिक भी भय न था। उसको मारना मैं बाएँ हाथ का खेल समझता था।

कुएँ के धरातल से जब चार-पाँच गज़ रहा हूँगा, तब ध्यान से नीचे को देखा। अक्ल चकरा गई। साँप फन फैलाए धरातल से एक हाथ ऊपर उठा हुआ लहरा रहा था। पूँछ और पूँछ के समीप का भाग पृथ्वी पर था, आधा अग्र भाग ऊपर उठा हुआ मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। नीचे डंडा बँधा था, मेरे उतरने की गति से जो इधर-उधर हिलता था। उसी के कारण शायद मुझे उतरते देख साँप घातक चोट के आसन पर बैठा था। सँपेरा जैसे बीन बजाकर काले साँप को खिलाता है और साँप क्रोधित हो फन फलाकर खड़ा होता और फुंकार मारकर चोट करता है, ठीक उसी प्रकार साँप तैयार था। उसका प्रतिद्वंद्वी—मैं—उससे कुछ हाथ ऊपर धोती पकड़े लटक रहा था। धोती डंग से बँधी होने के कारण कुएँ के बीचोबीच लटक रही थी और मुझे कुएँ के धरातल की परिधि के बीचोबीच ही उतरना था। इसके माने थे साँप से डेढ़-दो फुट—गज़ नहीं—की दूरी पर पैर रखना, और इतनी दूरी पर साँप पैर रखते ही चोट करता। स्मरण रहे, कच्चे कुएँ का व्यास बहुत कम होता है। नीचे तो वह डेढ़ गज़ से अधिक होता ही नहीं। ऐसी दशा में कुएँ में मैं साँप से अधिक से-अधिक चार फुट की दूरी पर रह सकता था, वह भी उस दशा में जब साँप मुझसे दूर रहने का प्रयत्न करता, पर उतरना तो था कुएँ के बीच में, क्योंकि मेरा साधन बीचोबीच लटक रहा था। ऊपर से लटककर तो साँप नहीं मारा जा सकता था। उतरना तो था ही। थकावट से ऊपर चढ़ भी नहीं सकता था। अब तक अपने प्रति-द्वंद्वी को पीठ दिखाने का निश्चय नहीं किया था। यदि ऐसा करता भी तो कुएँ के धरातल पर उतरे बिना क्या मैं ऊपर चढ़ सकता था—धीरे-धीरे उतरने लगा। एक-एक इंच ज्यों-ज्यों मैं नीचे उतरता जाता था, त्यों-त्यों मेरी एकाग्रचित्तता बढ़ती जाती थी। मुझे एक सूझ सूझी। दोनों हाथों से धोती पकड़े हुए मैंने अपने पैर कुएँ की बगल में लगा दिए। दीवार से पैर लगाते ही कुछ मिट्टी नीचे गिरी और साँप ने फू करके उस पर मुँह मारा। मेरे पैर भी दीवार से हट गए, और मेरी टाँगें कमर से समकोण बनाती हुई लटकती रहीं, पर इससे साँप से दूरी और कुएँ की परिधि पर उतरने का ढंग मालूम

हो गया। तनिक भूलकर मैंने अपने पैर कुएँ की बगल से सटाए, और कुछ धक्के के साथ अपने प्रतिद्वंद्वी के सम्मुख कुएँ की दूसरी ओर डेढ़ गज पर—कुएँ के धरातल पर खड़ा हो गया। आँखें चार हुईं। शायद एक दूसरे ने पहचाना। साँप को चक्षु:श्रवा कहते है। मैं स्वयं चक्षु:श्रवा हो रहा था। अन्य इंद्रियों ने मानो सहानुभूति से अपनी शक्ति आँखों को दे दी हो। साँप के फन की ओर मेरी आँखें लगी हुई थीं कि वह कब किस ओर को आक्रमण करता है। साँप ने मोहनी-सी डाल दी थी। शायद वह मेरे आक्रमण की प्रतीक्षा में था, पर जिस विचार और आशा को लेकर मैंने कुएँ में घुसने की ठानी थी, वह तो आकाश-कुसुम था। मनुष्य का अनुमान और भावी योजनाएँ कभी-कभी कितनी मिथ्या और उल्टी निकलती हैं। मुझे साँप का साक्षात् होते ही अपनी योजना और आशा की असंभवता प्रतीत हो गई। डंडा चलाने के लिए स्थान ही न था। लाठी या डंडा चलाने के लिए काफ़ी स्थान चाहिए जिसमें वे घुमाए जा सकें। साँप को डंडे से दबाया जा सकता था, पर ऐसा करना मानो तोप के मुहरे पर खड़ा होना था। यदि फन या उसके समीप का भाग न दबा, तो फिर वह पलटकर जरूर काटता, और फन के पास दबाने की कोई संभावना भी होती तो फिर उसके पास पड़ी हुई दो चिट्ठियों को कैसे उठाता ? दो चिट्ठियाँ उसके पास उससे सटी हुई पड़ी थीं और एक मेरी ओर थी। मैं तो चिट्ठियाँ लेने ही उतरा था। हम दोनों अपने पैंतरों पर डटे थे। उस आसन पर खड़े-खड़े मुझे चार-पाँच मिनट हो गए। दोनों ओर से मोरचे पड़े हुए थे, पर मेरा मोरचा कमजोर था। कहीं साँप मुझपर झपट पड़ता तो मैं—यदि बहुत करता तो—उसे पकड़कर, कुचलकर मार देता, पर वह तो अचूक तरल विष मेरे शरीर में पहुँचा ही देता और अपने साथ-साथ मुझे भी ले जाता। अब तक साँप ने वार न किया था, इसलिए मैंने भी उसे डंडे से दबाने का ख्याल छोड़ दिया। ऐसा करना उचित भी न था। अब प्रश्न था कि चिट्ठियाँ कैसे उठाई जाएँ। बस, एक सूरत थी। डंडे से साँप की ओर से चिट्ठियों को सरकाया जाए। यदि साँप टूट पड़ा, तो कोई चारा न था। कुर्ता था, और कोई कपड़ा न था जिससे साँप के मुँह

की ओर करके उसके फन को पकड़ लूँ। मारना या बिल्कुल छेड़खानी न करना—ये दो मार्ग थे। सो पहला मेरी शक्ति के बाहर था। बाध्य होकर दूसरे मार्ग का अवलंबन करना पड़ा।

डंडे को लेकर ज्यों ही मैंने साँप की दाईं ओर पड़ी चिट्ठी की ओर उसे बढ़ाया कि साँप का फन पीछे की ओर हुआ। धीरे-धीरे डंडा चिट्ठी की ओर बढ़ा और ज्योंही चिट्ठी के पास पहुँचा कि फुंकार के साथ काली बिजली तड़पी और डंडे पर गिरी। हृदय में कंप हुआ, और हाथों ने आज्ञा न मानी। डंडा छूट पड़ा। मैं तो न मालूम कितना ऊपर उछल गया। जान-बूझकर नहीं, यों ही बिदककर। उछलकर जो खड़ा हुआ, तो देखा डंडे के सिर पर तीन-चार स्थानों पर पीव-सा कुछ लगा हुआ है। वह विष था। साँप ने मानो अपनी शक्ति का सर्टीफ़िकेट सामने रख दिया था, पर मैं तो उसकी योग्यता का पहले ही से कायल था। उस सर्टीफ़िकेट की जरूरत न थी। साँप ने लगातार फूं-फूं करके डंडे पर तीन-चार चोटें कीं। वह डंडा पहली बार इस भाँति अपमानित हुआ था, या शायद वह साँप का उपहास कर रहा था।

उधर ऊपर फूँ-फूँ और मेरे उछलने और फिर वहीं धमाके से खड़े होने से छोटे भाई ने समझा कि मेरा कार्य समाप्त हो गया और बंधुत्व का नाता फूँ-फूँ और धमाके में टूट गया। उसने ख्याल किया कि साँप के काटने से मैं गिर गया। मेरे कष्ट और विरह के ख्याल से उसके कोमल हृदय को धक्का लगा। भ्रातृ-स्नेह के ताने-बाने को चोट लगी। उसकी चीख निकल गई।

छोटे भाई की आशंका बेजा न थी, पर उस फूँ और धमाके से मेरा साहस कुछ बढ़ गया। दुबारा फिर उसी प्रकार लिफ़ाफ़े को उठाने की चेष्टा की। अब की बार साँप ने वार भी किया और डंडे से चिपट भी गया। डंडा हाथ से छूटा तो नहीं पर झिझक, सहम अथवा आतंक से अपनी ओर को खिंच गया और गुंजलक मारता हुआ साँप का पिछला भाग मेरे हाथों से छू गया। उफ, कितना ठंडा था! डंडे को मैंने एक ओर पटक दिया। यदि कहीं उसका दूसरा वार पहले होता, तो उछलकर मैं साँप पर

गिरता और न बचता, लेकिन जब जीवन होता है, तब हज़ारों ढंग बचने के निकल आते हैं। वह दैवी कृपा थी। डंडे के मेरी ओर खिच आने से मेरे और साँप के आसन बदल गए। मैंने तुरंत ही लिफ़ाफ़े और पोस्टकार्ड चुन लिए। चिट्ठियों को धोती के छोर में बाँध दिया, और छोटे भाई ने उन्हें ऊपर खींच लिया।

डंडे को साँप के पास से उठाने में भी बड़ी कठिनाई पड़ी। साँप उससे खुलकर उसपर धरना देकर बैठा था। जीत तो मेरी हो चुकी थी, पर अपना निशान गँवा चुका था। आगे हाथ बढ़ाता तो साँप हाथ पर वार करता, इसलिए कुएँ की बगल से एक मुट्ठी मिट्टी लेकर मैंने उसकी दाईं ओर फेंकी कि वह उसपर झपटा, और मैंने दूसरे हाथ से उसकी बाईं ओर से डंडा खींच लिया, पर बात-की-बात में उसने दूसरी ओर भी वार किया। यदि बीच में डंडा न होता, तो पैर में उसके दाँत गढ़ गए होते।

अब ऊपर चढ़ना कोई कठिन काम न था। केवल हाथों के सहारे, पैरों को बिना कहीं लगाए हुए ३६ फुट ऊपर चढ़ना मुझसे अब नहीं हो सकता। १५-२० फुट बिना पैरों के सहारे, केवल हाथों के बल, चढ़ने की हिम्मत रखता हूँ; कम ही, अधिक नहीं। पर उस ग्यारह वर्ष की अवस्था में मैं ३६ फुट चढ़ा। बाहें भर गई थीं। छाती फूल गई थी। धौंकनी चल रही थी। पर एक-एक इंच सरक-सरककर अपनी भुजाओं के बल मैं ऊपर चढ़ आया। यदि हाथ छूट जाते तो क्या होता इसका अनुमान करना कठिन है। ऊपर आकर, बेहाल होकर, थोड़ी देर तक पड़ा रहा। देह को झार-झूरकर धोती-कुर्ता पहना। फिर किशनपुर के लड़के को, जिसने ऊपर चढ़ने की चेष्टा को देखा था, ताकीद करके कि वह कुएँ वाली घटना किसी से न कहे, हम लोग आगे बढ़े।

सन् १९१५ ई० में मैट्रीक्युलेशन पास करने के उपरांत यह घटना मैंने माँ को सुनाई। सजल नेत्रों से माँ नें मुझे अपनी गोद में ऐसे बिठा लिया जैसे चिड़िया अपने बच्चों को डैने के नीचे छिपा लेती है।

कितने अच्छे थे वे दिन! उस समय रायफल न थी, डंडा था और डंडे का

शिकार—कम-से-कम उस साँप का शिकार—रायफल के शिकार से कम रोचक और भयानक न था।

—श्रीराम शर्मा

प्रश्न-अभ्यास

१. इस पाठ में लेखक ने अपने डंडे का अतिशय गुणगान किस उद्देश्य से किया है? उसने अपनी जान को जोखिम में डालकर भी डंडे को निकाल लाना क्यों आवश्यक समझा?

२. इस पाठ में किन बाल-प्रवृत्तियों का वर्णन है? उनका उल्लेख लेखक ने किस उद्देश्य से किया है?

३. चिट्ठियों के कुएँ में गिर जाने पर लेखक के मन में जो भाव पैदा हुए उनका वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।

४. कुएँ में उतरकर चिट्ठियों को निकालने के निश्चय की साहसिकता और उसके बाद की घटनाओं का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।

५. लेखक ने किस संकल्प के साथ कुएं में घुसने की ठानी? उसके इस कार्य पर टिप्पणी कीजिए और बताइए कि यदि आप उसकी जगह होते तो क्या करते।

६. जब लेखक कुएं में उतरकर साँप के साथ संघर्ष करने में लगा था, उस समय उसके छोटे भाई पर क्या गुजर रही थी, वर्णन कीजिए।

७. इस पाठ में लेखक ने कई स्थलों पर तुलना का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ, 'जैसे बड़े मृगशावक के पीछे छोटा मृगशावक हो लेता है।' ऐसी अन्य तुलनाओं का चयन कीजिए।

८ 'दृढ़ संकल्प से दुविधा की बेड़ियाँ कट जाती हैं।' जैसे अन्य सूक्ति-वाक्यों का चयन कर स्पष्ट कीजिए।

९. इस पाठ की भाषा और वर्णन-शैली के विषय में टिप्पणी लिखिए।

१०. इस पाठ में लेखक ने कैसे वाक्यों का अधिकतर प्रयोग किया है? घटना-प्रवाह को आगे बढ़ाने में उनका क्या योगदान है?

महादेवी वर्मा

श्रीमती महादेवी वर्मा का जन्म फर्रुखाबाद (उत्तर प्रदेश) में सन् १९०७ ई० में हुआ था। सन् १९३३ में प्रयाग विश्वविद्यालय से एम० ए० की उपाधि प्राप्त कर आप प्रयाग महिला विद्यापीठ की आचार्या नियुक्त हुईं और तब से वहीं कार्य कर रही हैं। विविध साहित्यिक, शैक्षिक तथा सामाजिक सेवाओं के लिए भारत सरकार ने आपको 'पद्म भूषण' अलंकार से सम्मानित किया है।

महादेवी जी छायावाद की प्रतिनिधि कलाकार हैं। आपकी कविताओं में वेदना का स्वर प्रधान है और भाव, संगीत तथा चित्र का अपूर्व संयोग है।

'स्मृति की रेखाएँ' 'अतीत के चलचित्र' 'मेरा परिवार' आदि में आपका कविहृदय गद्य के माध्यम से व्यक्त हुआ है। इन ग्रंथों में आपने कुछ उपेक्षित प्राणियों के चित्र अपनी करुणा से रंजित कर इस प्रकार प्रकार प्रस्तुत किए हैं कि हम उनके साथ आत्मीयता का अनुभव करने लगते हैं। 'पथ के साथी' में इस युग के प्रमुख साहित्यिकों के अत्यंत मार्मिक व्यक्ति-चित्र संकलित हैं। 'शृंखला की कड़ियाँ' में आधुनिक नारी की समस्याओं को प्रभावपूर्ण भाषा में प्रस्तुत कर उन्हें सुलझाने के उपायों का निर्देश किया गया है।

आपकी गद्य-शैली प्रभावपूर्ण, चित्रात्मक तथा काव्यमयी है और भाषा संस्कृत-प्रधान। इस शैली के दो स्पष्ट रूप है—विचारात्मक तथा भावात्मक। विचारात्मक गद्य में तर्क और विश्लेषण की प्रधानता है तथा भावात्मक गद्य में कल्पना और अलंकृत वर्णनों की।

'सोना' एक सफल रेखाचित्र है, हिन्दी में अपने प्रकार का अनूठा प्रयोग। इससे लेखिका का पशुओं के प्रति अमित प्रेम ही नहीं प्रकट होता, बल्कि दूसरों को भी उनके प्रति सहृदय व्यवहार करने की प्रेरणा मिलती है। दुधमुँही मातृविहीना सोना का आगमन और युवती सोना का संसार-त्याग दोनों ही अत्यंत करुण हैं। किशोरी सोना का सौन्दर्य और उसके क्रीडा-कौतुक अत्यंत प्रिय हैं। पशु-प्रवृत्ति के संबंध में लेखिका का निरीक्षण सूक्ष्म है और मानव के पशुओं के प्रति क्रूर व्यवहार पर उसकी चोट पैनी है। महादेवी जी की भाषा-शैली की विशेषताएँ पाठक से बार-बार अनुशीलन करने की अपेक्षा रखती हैं।

५. सोना

सोना की आज अचानक स्मृति हो आने का कारण है। मेरे परिचित स्वर्गीय डाक्टर धीरेन्द्रनाथ वसु की पौत्री सुस्मिता ने लिखा है, "गत वर्ष अपने पड़ोसी से मुझे एक हिरन मिला था। बीते कुछ महीनों में हम उससे बहुत स्नेह करने लगे हैं। परंतु अब मैं अनुभव करती हूँ कि सघन जंगल से संबद्ध रहने के कारण तथा अब बड़े हो जाने के कारण उसे घूमने के लिए अधिक विस्तृत स्थान चाहिए।

क्या कृपा करके आप उसे स्वीकार करेंगी? सचमुच मैं आपकी बहुत आभारी हूँगी, क्योंकि आप जानती हैं मैं उसे ऐसे व्यक्ति को नहीं देना चाहती जो उससे बुरा व्यवहार करे। मेरा विश्वास है, आपके यहाँ उसकी भलीभाँति देखभाल हो सकेगी।"

कई वर्ष पूर्व मैंने निश्चय किया था कि अब हिरन नहीं पालूँगी, परंतु आज उस नियम को भंग बिना किए इस कोमलप्राण जीव की रक्षा संभव नहीं है।

सोना भी इसी प्रकार अचानक आई थी, परंतु वह तब तक अपनी शैशवावस्था भी पार नहीं कर सकी थी। सुनहरे रंग के रेशमी लच्छों की गाँठ के समान उसका कोमल लघु शरीर था। छोटा-सा मुँह और बड़ी-बड़ी पानीदार आँखें। देखती थी तो लगता था कि अभी छलक पड़ेंगी। लंबे कान, पतली सुडौल टाँगें, जिन्हें देखते ही उनमें प्रसुप्त गति की बिजली की लहर देखनेवाले की आँखों में कौंध जाती थी। सब उसके सरल शिशु रूप से इतने प्रभावित हुए कि किसी चंपकवर्णा रूपसी के उपयुक्त सोना, सुवर्णा, स्वर्णलेखा आदि नाम उसका परिचय बन गए।

परंतु उस बेचारे हरिण-शावक की कथा तो मिट्टी की ऐसी व्यथा कथा है,

जिसे मनुष्य की निष्ठुरता गढ़ती है। वह न किसी दुर्लभ खान के अमूल्य हीरे की कथा है और न अथाह समुद्र के महार्घ मोती की।

निर्जीव वस्तुओं से मनुष्य अपने शरीर का प्रसाधन मात्र करता है, अतः उनकी स्थिति में परिवर्तन के अतिरिक्त कुछ कथनीय नहीं रहता। परंतु सजीव से उसे शरीर या अहंकार का जैसा पोषण अभीष्ट है, उसमें जीवन-मृत्यु का संघर्ष है जो सारी जीवन-कथा का तत्त्व है।

जिन्होंने हरीतिमा में लहराते हुए मैदान पर छलाँगें भरते हुए हिरनों के झुंड को देखा होगा, वही उस अद्‌भुत, गतिशील सौन्दर्य की कल्पना कर सकता है मानो तरल मरकत के समुद्र में सुनहले फेनवाली लहरों का उद्‌वेलन हो। परंतु जीवन के इस चल सौन्दर्य के प्रति शिकारी का आकर्षण नहीं रहता। मैं प्रायः सोचती हूँ कि मनुष्य, जीवन की ऐसी सुंदर ऊर्जा को निष्क्रिय और जड़ बनाने के कार्य को मनोरंजन कैसे कहता है।

मनुष्य मृत्यु को असुंदर ही नहीं अपवित्र भी मानता है। उसके प्रियतम आत्मीय जन का शव भी उसके निकट अपवित्र, अस्पृश्य तथा भयजनक हो उठता है। जब मृत्यु इतनी अपवित्र और असुंदर है तब उसे बाँटने घूमना क्यों अपवित्र और असुंदर कार्य नहीं है, यह मैं समझ नहीं पाती।

आकाश में रंगबिरंगे फूलों की घटाओं के समान उड़ते हुए और वीणा, वंशी, मुरज, जलतरंग आदि का वृंदवादन बजाते हुए पक्षी कितने सुंदर जान पड़ते हैं। मनुष्य ने बंदूक उठाई, निशाना साधा और कई गाते उड़ते पक्षी धरती पर ढेले के समान आ गिरे। किसी की लाल पीली चोंचवाली गर्दन टूट गई है, किसी के पीले सुंदर पंजे टेढ़े हो गए हैं और किसी के इंद्रधनुषी पंख बिखर गए हैं। क्षत-विक्षत रक्तस्नात उन मृत अर्धमृत लघु गातों में न अब संगीत है न सौन्दर्य, परंतु तब भी मारनेवाला अपनी सफलता पर नाच उठता है।

पक्षीजगत में ही नहीं, पशुजगत में भी मनुष्य की ध्वंसलीला ऐसी ही निष्ठुर है। पशुजगत में हिरन जैसा निरीह और सुंदर दूसरा पशु नहीं है, उसकी आँखें तो मानो

करुणा की चित्रलिपि हैं। परंतु इसका भी गतिमय, सजीव सौन्दर्य मनुष्य का मनोरंजन करने में असमर्थ है। मानव को, जो जीवन का श्रेष्ठतम रूप है, जीवन के अन्य रूपों के प्रति इतनी वितृष्णा और विरक्ति और मृत्यु के प्रति इतना मोह और इतना आकर्षण क्यों ?

बेचारी सोना भी मनुष्य की इसी निष्ठुर मनोरंजनप्रियता के कारण अपने अरण्य परिवेश और स्वजाति से दूर मानव-समाज में आ पड़ी थी।

प्रशांत वनस्थली में जब अलस भाव से रोमंथन करता हुआ मृग-समूह शिकारियों की आहट से चौंककर भागा, तब सोना की माँ सद्य:प्रसूता होने के कारण भागने में असमर्थ रही। सद्य:जात मृगशिशु तो भाग नहीं सकता था, अतः मृगी माँ ने अपनी संतान को अपने शरीर की ओट में सुरक्षित रखने के प्रयास में प्राण दिए।

पता नहीं दया के कारण या कौतुकप्रियता के कारण शिकारी मृत हिरनी के साथ उसके रक्त से सने और ठंडे स्तनों से चिपके हुए शावक को जीवित उठा लाए। उनमें से किसी के परिवार की सदय गृहणी और बच्चों ने उसे पानी मिला दूध पिला-पिलाकर दो-चार दिन जीवित रखा।

सुस्मिता वसु के समान ही किसी बालिका को मेरा स्मरण हो आया और वह उस अनाथ शावक को मुमूर्ष अवस्था में मेरे पास ले आई। शावक अवांछित तो था ही, उसके बचने की आशा भी धूमिल थी, परंतु मैंने उसे स्वीकार कर लिया। स्निग्ध सुनहले रंग के कारण सब उसे सोना कहने लगे। दूध पिलाने की शीशी, ग्लूकोज़, बकरी का दूध आदि सब कुछ एकत्र करके, उसे पालने का कठिन अनुष्ठान आरंभ हुआ।

उसका मुख इतना छोटा-सा था कि उसमें शीशी का निपल समाता ही नहीं था, उसपर उसे पीना भी नहीं आता था। फिर धीरे-धीरे उसे पीना ही नहीं दूध की बोतल पहचानना भी आ गया। आँगन में कूदते-फाँदते हुए भी भक्तिन को बोतल साफ़ करते देखकर वह दौड़ आती और अपनी तरल चकित आँखों से उसे ऐसे देखने लगती

मानो वह कोई सजीव मित्र हो।

उसने रात में मेरे पलंग के पाए से सटकर बैठना सीख लिया था, पर वहाँ गंदा न करने की आदत कुछ दिनों के अभ्यास से पड़ सकी। अँधेरा होते ही वह मेरे पलंग के पास आ बैठती और फिर सबेरा होने पर ही वह बाहर निकलती।

उसका दिनभर का कार्यकलाप भी एक प्रकार से निश्चित था। विद्यालय और छात्रावास की विद्यार्थिनियों के निकट पहले वह कौतुक का कारण रही; परंतु कुछ दिन बीत जाने पर वह उनकी ऐसी प्रिय साथिन बन गई जिसके बिना उनका किसी काम में मन ही नहीं लगता था।

दूध पीकर और भीगे चने खाकर सोना कुछ देर कंपाउंड में चारों पैरों को संतुलित कर चौकड़ी भरती। फिर वह छात्रावास पहुँचती और प्रत्येक कमरे का भीतर-बाहर निरीक्षण करती। सबेरे छात्रावास में विचित्र-सी क्रियाशीलता रहती है, कोई छात्रा हाथ-मुँह धोती है, कोई बालों में कंघी करती है, कोई साड़ी बदलती है, कोई अपनी मेज़ की सफ़ाई करती है, कोई स्नान करके भीगे कपड़े सूखने के लिए फैलाती है और कोई पूजा करती है। सोना के पहुँच जाने पर इस विविध कर्मसंकुलता में एक नया काम और जुड़ जाता था। कोई छात्रा उसके माथे पर कुमकुम का बड़ा-सा टीका लगा देती, कोई पूजा के बताशे खिला देती।

मेस में उसके पहुँचते ही छात्राएँ ही नहीं नौकर-चाकर तक दौड़ आते और सभी उसे कुछ-न-कुछ खिलाने को उतावले रहते, परंतु उसे बिस्कुट को छोड़कर कम खाद्य-पदार्थ पसंद थे।

छात्रावास का जागरण और जलपान अध्याय समाप्त होने पर वह घास के मैदान में कभी दूब चरती और कभी उसपर लोटती रहती। मेरे भोजन का समय वह किस प्रकार जान लेती थी, यह समझने का उपाय नहीं है, परंतु वह ठीक उसी समय भीतर आ जाती और तब तक मुझ से सटी खड़ी रहती जब तक मेरा खाना समाप्त न हो जाता। कुछ चावल, रोटी आदि उसका भी प्राप्य था, परंतु उसे कच्ची सब्ज़ी ही

अधिक भाती थी।

घंटी बजते ही वह फिर प्रार्थना के मैदान में पहुँच जाती और उसके समाप्त होने पर छात्रावास के समान ही कक्षाओं के भीतर-बाहर चक्कर लगाना आरंभ करती।

उसे छोटे बच्चे अधिक प्रिय थे, क्योंकि उनके साथ खेलने का अधिक अवकाश रहता था। वे पंक्तिबद्ध खड़े होकर सोना-सोना पुकारते और वह उनके ऊपर से छलाँग लगाकर एक ओर से दूसरी ओर कूदती रहती। वह सरकस जैसा खेल कभी घंटों चलता, क्योंकि खेल के घंटों में बच्चों की एक कक्षा के उपरांत दूसरी आती रहती।

मेरे प्रति स्नेह-प्रदर्शन के कई प्रकार थे। बाहर खड़े होने पर वह सामने या पीछे से छलाँग लगाती और मेरे सिर के ऊपर से दूसरी ओर निकल जाती। प्रायः देखनेवालों को भय होता था कि उसके पैरों से मेरे सिर पर चोट न लग जाए, परंतु वह पैरों को इस प्रकार सिकोड़े रहती थी और मेरे सिर को इतनी ऊँचाई से लाँघती थी कि चोट लगने की कोई संभावना ही नहीं रहती थी।

भीतर आने पर वह मेरे पैरों से अपना शरीर रगड़ने लगती। मेरे बैठे रहने पर वह साड़ी का छोर मुँह में भर लेती और कभी पीछे चुपचाप खड़े होकर चोटी ही चबा डालती। डाँटने पर वह अपनी बड़ी गोल और चकित आँखों में ऐसी अनिर्वचनीय जिज्ञासा भरकर एकटक देखने लगती कि हँसी आ जाती।

कवि गुरु कालिदास ने अपने नाटक में मृगी, मृग-शावक आदि को इतना महत्त्व क्यों दिया है, यह हिरन पालने के उपरांत ही ज्ञात होता है।

पालने पर वह पशु न रहकर ऐसा स्नेही संगी बन जाता है जो मनुष्य के एकांत शून्य को तो भर देता है, परंतु खीझ उत्पन्न करनेवाली जिज्ञासा से उसे बोझिल नहीं बनाता। यदि मनुष्य दूसरे मनुष्य से केवल नेत्रों से बात कर सकता तो बहुत से विवाद समाप्त हो जाते, परंतु प्रकृति को यह अभीष्ट नहीं रहा होगा।

संभवतः इसी से मनुष्य वाणी द्वारा परस्पर किए गए आघातों और सार्थक शब्दभार से दबे हुए अपने प्राणों पर इन भाषाहीन जीवों की स्नेह-तरल दृष्टि का चंदन लेप लगाकर स्वस्थ और आश्वस्त होना चाहता है।

पशु मनुष्य के निश्चल स्नेह से परिचित रहते हैं, उसकी ऊँची-नीची सामाजिक स्थितियों से नहीं, यह सत्य मुझे सोना से अनायास प्राप्त हो गया।

अनेक विद्यार्थिनियों की भारी भरकम गुरु जी से सोना को क्या लेना-देना था। वह तो उस दृष्टि को पहचानती थी, जिसमें उसके लिए स्नेह छलकता था और उन हाथों को जानती थी जिन्होंने यत्नपूर्वक दूध की बोतल उसके मुख से लगाई थी।

यदि सोना को अपने स्नेह की अभिव्यक्ति के लिए मेरे सिर के ऊपर से कूदना आवश्यक लगेगा तो वह कूदेगी ही। मेरी किसी अन्य परिस्थिति से प्रभावित होना, उनके लिए संभव ही नहीं था।

कुत्ता स्वामी और सेवक का अंतर जानता है और स्वामी की स्नेह या क्रोध की प्रत्येक मुद्रा से परिचित रहता है। स्नेह से बुलाने पर वह गद्गद् होकर निकट आ जाता है और क्रोध करते ही सभीत और दयनीय बनकर दुबक जाता है।

पर हिरन यह अंतर नहीं जानता, अतः उसका पालनेवाले से डरना कठिन है। यदि उसपर क्रोध किया जाए तो वह अपनी चकित आँखों में और अधिक विस्मय भरकर पालनेवाले की दृष्टि से दृष्टि मिलाकर खड़ा रहेगा—मानो पूछता हो क्या यह उचित है। वह केवल स्नेह पहचानता है, जिसकी स्वीकृति जताने के लिए उसकी विशेष चेष्टाएँ हैं।

मेरी बिल्ली गोधूली, कुत्ते हेमंत-बसंत, कुत्ती फ्लोरा सब पहले इस नए अतिथि को देखकर रुष्ट हुए, परंतु सोना ने थोड़े ही दिनों में सबसे सख्य स्थापित कर लिया। फिर तो वह घास पर लेट जाती और कुत्ते और बिल्ली उसपर उछलते-कूदते रहते। कोई उसके कान खींचता, कोई पैर और जब वे इस खेल में तन्मय हो जाते तब वह अचानक चौकड़ी भरकर भागती और वे गिरते-पड़ते उसके पीछे दौड़ लगाते।

वर्ष भर का समय बीत जाने पर सोना हरिण-शावक से हरिणी में परिवर्तित होने लगी। उसके शरीर के पीताभ रोएँ ताम्रवर्णी झलक देने लगे। टाँगें अधिक सुडौल और खुरों के कालेपन में चमक आ गई। ग्रीवा अधिक बंकिम और लचीली हो गई। पीठ में भराववाला उतार-चढाव और स्निग्धता दिखाई देने लगी। परंतु सबसे अधिक विशेषता तो उनकी आँखों और दृष्टि में मिलती थी। आँखों के चारों ओर खिंची कज्जलकोर में नीले गोलक और दृष्टि ऐसी लगती थी मानो नीलम के बल्बों में उजली विद्युत का स्फुरण हो।

संभवत: अब उसमें वन तथा स्वजाति का स्मृति-संस्कार जगने लगा था। प्राय: सूने मैदान में वह गर्दन ऊँची करके किसी की आहट की प्रतीक्षा में खड़ी रहती। बासंती हवा बहने पर यह मूक प्रतीक्षा और अधिक मार्मिक हो उठती। शैशव के साथियों और उसकी उछल-कूद से अब उसका पहले जैसा मनोरंजन नहीं होता था, अत: उसकी प्रतीक्षा के क्षण अधिक होते जाते थे।

इसी बीच फ्लोरा ने भक्तिन की कुछ अँधेरी कोठरी के एकांत कोने में चार बच्चों को जन्म दिया और वह खेल के संगियों को भूलकर अपनी नवीन सृष्टि के संरक्षण में व्यस्त हो गई। एक-दो दिन सोना अपनी सखी को खोजती रही, फिर उसे इतने लघु जीवों से घिरा देखकर उसकी स्वाभाविक चकित दृष्टि गंभीर विस्मय से भर गई।

एक दिन देखा फ्लोरा कहीं बाहर घूमने गई है और सोना भक्तिन की कोठरी में निश्चिन्त लेटी है। पिल्ले आँखें बंद रहने के कारण चीं-चीं करते हुए सोना के उदर में दूध खोज रहे थे। तब से सोना के नित्य के कार्यक्रम में पिल्लों के बीच में लेट जाना भी सम्मिलित हो गया। आश्चर्य की बात यह थी कि फ्लोरा हेमंत, बसंत या गोधूली को तो अपने बच्चों के पास फटकने भी नहीं देती थी, परंतु सोना के संरक्षण में उन्हें छोड़कर आश्वस्त भाव से इधर-उधर घूमने चली जाती थी।

संभवत: वह सोना की स्नेही और अहिंसक प्रकृति से परिचित हो गई थी।

पिल्लों के बड़े होने पर और उनकी आँखें खुल जाने पर सोना ने उन्हें भी अपने पीछे घूमनेवाली सेना में सम्मिलित कर लिया और मानो इस वृद्धि के उपलक्ष में आनंदोत्सव मनाने के लिए अधिक देर तक मेरे सिर से आर-पार चौकड़ी भरती रही। पर कुछ दिनों के उपरांत जब यह आनंदोत्सव पुराना पड़ गया, तब उसकी शब्दहीन, संज्ञाहीन प्रतीक्षा की स्तब्ध घड़ियाँ लौट आईं।

उसी वर्ष गर्मियों में मेरा बद्रीनाथ की यात्रा का कार्यक्रम बना। प्रायः मैं अपने पालतू जीवों के कारण प्रवास में कम रहती हूँ। उनकी देख-रेख के लिए सेवक रहने पर भी मैं उन्हें छोड़कर आश्वस्त नहीं हो पाती। भक्तिन, अनुरूप आदि तो साथ जाने वाले थे ही। पालतू जीवों में से मैंने फ्लोरा को साथ ले जाने का निश्चय किया, क्योंकि वह मेरे बिना रह नहीं सकती थी।

छात्रावास बंद था, अतः सोना के नित्य नैमित्तिक कार्यकलाप भी बंद हो चुके थे। मेरी उपस्थिति का भी अभाव था, अतः आनंदोल्लास के लिए भी अवकाश कम था। हेमंत-वसंत मेरी यात्रा और तज्जनित अनुपस्थिति से परिचित हो चुके थे। होल्डाल बिछाकर उसमें बिस्तर रखते ही वे दौड़कर उसपर लेट जाते और भौंकने तथा क्रंदन की ध्वनियों के सम्मिलित स्वर में मुझे मानो उपालंभ देने लगते। यदि उन्हें बाँध न रखा जाता तो वे कार में घुसकर बैठ जाते या उसके पीछे-पीछे दौड़कर स्टेशन तक जा पहुँचते। परंतु जब मैं चली जाती तब वे उदास-भाव से मेरे लौटने की प्रतीक्षा करने लगते।

सोना की सहज चेतना में न मेरी यात्रा जैसी स्थिति का बोध था न प्रत्यावर्तन का; इसी से उसकी निराश जिज्ञासा और विस्मय का अनुमान मेरे लिए सहज था।

पैदल जाने-आने के निश्चय के कारण बद्रीनाथ की यात्रा में ग्रीष्मावकाश समाप्त हो गया। २ जुलाई को लौटकर जब मैं बंगले के द्वार पर आ खड़ी हुई तब बिछुड़े हुए पालतू जीवों में कोलाहल होने लगा।

गोधूली कूदकर मेरे कंधे पर आ बैठी। हेमंत-बसंत मेरे चारों ओर परिक्रमा

करके हर्ष की ध्वनियों से मेरा स्वागत करने लगे। पर मेरी दृष्टि सोना को खोजने लगी। क्यों वह अपना उल्लास व्यक्त करने के लिए मेरे सिर के ऊपर से छलाँग नहीं लगाती? सोना कहाँ है, पूछने पर माली आँखें पोंछने लगा और चपरासी, चौकीदार एक-दूसरे का मुख देखने लगे। वे लोग आने के साथ ही मुझे कोई दुखद समाचार नहीं देना चाहते थे, परंतु माली की भावुकता ने बिना बोले ही उसे दे डाला।

ज्ञात हुआ कि छात्रावास के सन्नाटे और फ्लोरा के तथा मेरे अभाव के कारण सोना इतनी अस्थिर हो गई थी कि इधर-उधर कुछ खोजती-सी वह प्राय: कंपाउंड से बाहर निकल जाती थी। इतनी बड़ी हिरनी को पालनेवाले तो कम थे, परंतु उससे खाद्य और स्वाद प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों का बाहुल्य था। इसी आशंका से माली ने उसे मैदान में एक लंबी रस्सी से बाँधना आरंभ कर दिया था।

एक दिन न जाने किस स्तब्धता की स्थिति में बंधन की सीमा भूलकर वह बहुत ऊँचाई तक उछली और रस्सी के कारण मुख के बल धरती पर आ गिरी। वही उसकी अंतिम साँस और अंतिम उछाल थी।

सब उस सुनहले रेशम की गठरी-से शरीर को गंगा में प्रवाहित कर आए और इस प्रकार किसी निर्जन वन में जन्मी और जन-संकुलता में पली सोना की करुण कथा का अंत हुआ।

सब सुनकर मैंने निश्चय किया था कि अब हिरन नहीं पालूँगी, पर संयोग से फिर हिरन पालना पड़ रहा है

—महादेवी वर्मा

प्रश्न-अभ्यास

१. सोना के सौन्दर्य और उसके कार्य-कलाप का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।
२. "परंतु इसका भी गतिमय, सजीव सौन्दर्य मनुष्य का मनोरंजन करने में असमर्थ है।" इस कथन से लेखिका का क्या तात्पर्य है?

३. लेखिका द्वारा डाँटे जाने पर सोना क्या करती थी ? ऐसे अवसरों पर सोना और कुत्तों के व्यवहार में क्या अंतर होता था ?

४. "पशु मनुष्य के निश्छल स्नेह से परिचित रहते हैं, उसकी ऊँची-नीची सामाजिक परिस्थितियों से नहीं।" यह सत्य लेखिका को सोना से कैसे प्राप्त हो सका ?

५. बड़े होने पर सोना के रूप और व्यवहार में क्या अंतर आ गया ?

६. इस पाठ के आधार पर लेखिका के स्वभाव की कुछ विशेषताएँ बताइए।

७. निम्नलिखित पंक्तियों की व्याख्या कीजिए—

"निर्जीव वस्तुओं से..................का तत्त्व है।"

८. क्या आपने कभी कोई पशु या पक्षी पाला है ? उसके बारे में अपने अनुभव कक्षा को सुनाइए।

९. इस पाठ से मानो वाले उपवाक्यों को चुनिए और बताइए कि वे वाक्यों में कौन-सा कार्य करते हैं और उनसे किस प्रकार की प्रभाव-वृद्धि होती है।

१०. 'अतीत के चलचित्र', 'स्मृति की रेखाएँ', या 'मेरा परिवार' से श्रीमती महादेवी वर्मा के कुछ अन्य रेखाचित्र पढ़िए और कक्षा को सुनाइए।

सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय'

'अज्ञेय' जी का जन्म ७ मार्च १९११ ई० को कसया (कुसीनगर) में हुआ था। आपका बचपन अधिकतर लखनऊ, कश्मीर, बिहार और मद्रास में बीता। आपकी शिक्षा मद्रास और लाहौर में हुई जहाँ आपके विद्वान पिता सेवारत थे। सन् १९२९ ई० में पंजाब विश्वविद्यालय से आपने बी० एस-सी० की परीक्षा पास की और अँगरेजी विषय में एम० ए० पढ़ाई करते समय दिल्ली षड्यंत्र केस तथा अन्य अभियोग के सिलसिले में फरार हुए किन्तु बाद में पकड़े गए और दो वर्ष नजरबंद रहे। आपने किसान आंदोलन में भी सक्रिय भाग लिया। 'सैनिक, 'विशाल भारत', 'प्रतीक' 'दिनमान' और 'वाक्' (अँगरेजी त्रैमासिक) आदि पत्रिकाओं का आपने बड़ी कुशलता से संपादन किया। कुछ वर्ष आकाश-वाणी में सलाहकार के पद पर भी कार्य किया। १९४३ से १९४६ तक के अपने जीवन के ३ वर्ष आपने सेना में भी बिताए। सन् १९५५ से १९५६ तक यूरोप की और सन् १९५७ से १९५८ तक पूर्वेशिया की यात्राएँ कीं। इसके बाद अनेक बार भ्रमण और अध्यापन के सिलसिले में अज्ञेय जी विदेश गए हैं। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन ने डी. लिट. की मानद उपाधि से अज्ञेय जो को विभूषित किया।

अज्ञेय जी एक सफल कवि, उपन्यासकार, कहानीकार और आलोचक है और इन सभी क्षेत्रों में शीर्षस्थ हैं। छायावाद और रहस्यवाद के युग के बाद हिन्दी-कविता को नई दिशा देने में अज्ञेय जी का सबसे बड़ा हाथ है। हिन्दी के अनेक नए कवियों के लिए अज्ञेय जी प्रेरणा-स्रोत और मार्ग-दर्शक रहे हैं। आपकी रचनाओं का मूल स्वर दार्शनिक और चिन्तन-प्रधान है।

अज्ञेय जी की प्रमुख प्रकाशित रचनाएँ हैं. 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी', 'इंद्रधनु रौंदे हुये आदि, (कविता), शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप, आदि (उपन्यास); 'अरे यायावर रहेगा याद', 'एक बूँद सहसा उछली' (यात्रा वृत्तांत); 'त्रिशंकु', 'आत्मने पद', (निबन्ध); 'विपथगा', परंपरा', 'कोठरी की बात', 'शरणार्थी', 'जयदोल', ये तेरे प्रतिरूप', (कहानी-संग्रह)।

'बहता पानी निर्मला', 'अरे यायावर रहेगा याद' पुस्तक से संगृहीत है। इस पाठ से अज्ञेय जी की यात्रा-वृत्ति की एक अच्छी झलक मिलती है।

६. बहता पानी निर्मला

मुझे बचपन से नक्शे देखने का शौक है। आप समझें कि कुछ भूगोल की तरफ़ प्रवृत्ति होगी—नहीं, सो बात नहीं, असल बात यह है कि नक्शों के सहारे दूर दुनिया की सैर का मज़ा लिया जा सकता है। यों तो वास्तविक जीवन में भी काफ़ी घूमा-भटका हूँ, पर उससे कभी तृप्ति नहीं हुई, हमेशा मन में यही रहा कि कहीं और चलें, कोई और नई जगह देखें, और इस लालसा ने अभी भी पीछा नहीं छोड़ा है। नक्शों से यह फ़ायदा होता है कि मन के घोड़े पर सवार होकर कहीं चले जाइए, कोई रोक नहीं, अड़चन नहीं, और जब चाहें लौट आइए, या न भी लौटिए—कोई पूछनेवाला नहीं कि हज़रत कहाँ रम रहे।

यों तो नक्शों में तरह-तरह के रंगों से कुछ मदद मिलती है यह तै करने कि कहाँ जाएँ—जिसे हरी-भरी जगह देखनी हो वह नक्शों की हरी-भरी जगहों में घूमे, जिसे पहाड़ी प्रदेश देखने हों वह भूरे या पीले प्रदेशों में चला जाए, और जिसे एकदम अछूते, अपरिचित प्रदेश में जाने का जोखिम पसंद हो वह बिल्कुल सफेद हिस्सों की ओर चल निकले—अनादिकालीन बर्फ़ीले मरु-प्रदेशों में, जंगलों में, समुद्र में, समुद्र-द्वीपों में। नक्शों में कहीं लिखा रहता है कि इस प्रदेश का सर्वेक्षण नहीं हुआ है। हिमालय के अनेक भाग ऐसे हैं, या कि 'अगम्य जंगल'—असमिया सीमा-प्रदेश में ऐसे स्थल हैं, ज़रा कल्पना कीजिए ऐसी ज़गहों में जा निकलने का आनंद!

लेकिन इससे अधिक सहायता मिलती है जगहों के नामों से। बचपन में एक

नाम पढ़ा था 'अमरकंटक'। यह नाम ही इतना पसंद आया कि मैंने चुपके से एक कंबल और दो-चार कपड़ों का बंडल बना लिया कि अभी चल दूंगा वहाँ के लिए। वहाँ जाना नहीं हुआ, अभी तक भी अमरकंटक नहीं देखा है और इस प्रकार उसका काँटा अभी तक सालता ही है, पर नक्शे की यात्रा तो कई बार की है, और अमरकंटक के बारे में उतना सब जानता हूँ जो वहाँ जाकर जान पाता। ऐसा ही एक और नाम था तरंगंबाड़ी—यों नक्शे में उसका रूप विकृत होकर त्रांकुबार हो गया है। 'तरंगों वाली बस्ती'—सागर के किनारे के गाँव का यह नाम सुनकर क्या आपके मन में तरंग नहीं उठती कि जाकर देखें? कई नाम ऐसे भी होते हैं जिनका अर्थ समझ में नहीं आता, पर ध्वनि ही मोह लेती है। जैसे 'तिरुकुरंगुड़ि'—नाम सुनकर लगता है, मानो हिरनों का समूह चौकड़ी भरता जा रहा हो। कुछ नाम ऐसे भी होते हैं कि अर्थ जानने पर ही उनका जादू चलता है, जैसे 'लू-हित'। ऊपरी ब्रह्मपुत्र के इस नाम को संस्कृत करके 'लोहित्य' बना लिया गया है जिससे अनुमान होता है कि वह लाल या ताम्र वर्ण की होगी, पर वास्तव में लू-हित का अर्थ है 'तारों की राजकन्या' या ऐसा ही कुछ। ब्रह्मपुत्र का सौन्दर्य जिन्होंने नहीं देखा उनकी तो बात ही क्या, जिन्होंने देखा भी है वे भी क्या इस नाम को जानकर 'तारों की राजकन्या' के तरुण लावण्यमय रूप देखने को ललक न उठेंगे?

"होनहार बिरवान के होत चीकने पात" में कुछ होनहार बिरवा तो नहीं था, पर नक्शों के बगदादी कालीन पर बैठकर हवाई यात्रा करने की इस आदत से यह तो पता लग ही सकता था कि आगे चलकर भी कहीं टिककर नहीं बैठूंगा। बात भी ऐसी है, लगातार कुछ दिन भी एक जगह रहता हूँ तो कुछ अपनी इच्छा से नहीं, लाचारी से और उस लाचारी में बहुत-से नक्शे जुटाकर फिर अपने लिए कोई हीला निकाल ही लेता हूँ। और आप सच मानिए, जीने की कला सबसे पहले एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की कला है—कम से कम आधुनिक काल में, जब मानवजाति का इतना बड़ा अंश या तो प्रवासी है, या शरणार्थी ही: एक स्थान से दूसरे स्थान, एक पेशे से

दूसरे में, एक घर से दूसरे घर, इत्यादि !

यात्रा करने के कई तरीके हैं। एक तो यह कि आप सोच-विचार कर निश्चय कर लें कि कहाँ जाना है, कब जाना है, कहाँ-कहाँ घूमना है, कितना खर्च होगा : फिर उसी के अनुसार छुट्टी लीजिए, टिकट कटाइए, सीट या बर्थ बुक कराइए, होटल डाक-बंगले को सूचना देकर सुरक्षित कराइए या भावी आतिथेयों को खबर कीजिए—और तब चल पड़िए। बल्कि तरीका तो यही एक है, क्योंकि वह व्यवस्थित तरीका है। और इसमें मजा बिल्कुल नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बहुत-से लोग ऐसे यात्रा करते हैं और बड़े उत्साह से भरे वापस आते हैं।

दूसरा तरीका यह है कि आप इरादा तो कीजिए कहीं जाने का, छुट्टी भी लीजिए, इरादा और पूरी योजना भी चाहे घोषित कर दीजिए, पर ऐन मौके पर चल दीजिए कहीं और को। जैसे घोषित कर दीजिए कि आप बड़े दिनों की छुट्टियों में बंबई जा रहे हैं, लोगों को ईर्ष्या से कहने दीजिए कि अमुक बंबई का सीजन देखने जा रहा है, मगर चुपके से पैक कर लीजिए ज़बरदस्त गर्म कपड़े और जा निकलिए बर्फ़ से ढके श्रीनगर में।

लेकिन अपनी भी कुछ बातें कहूँ। मैं दूसरे तरीके का कायल हूँ यह तो आप समझ ही गए होंगे। लेकिन जब निकलता ही हूँ, तब एक तीसरा तरीका सी अख्तियार करता हूँ। जैसे कहा तो सबसे यह कि बंबई जा रहे हैं, मगर जब स्टेशन गए तो यह तै करके कि नैनीताल जा रहे हैं और वहाँ से हिमालय के भीतरी प्रदेशों में, और इस तरह जा निकले···शिलंग !

शिवसागर से आगे सोनारी के पास डि-खू नदी की बाढ़ में कैसे फँस गया था, इसका यही रहस्य है।

अँगरेजी में कहावत है कि 'एक कील की वजह से राज्य खो जाता है'···वह यों कि कील की वजह से नाल, नाल की वजह से घोड़ा, घोड़े के कारण लड़ाई, और लड़ाई के कारण राज्य से हाथ धोना पड़ता है। हमारे पास छिनने को राज्य तो था नहीं, पर दाँत माजने के एक ब्रुश और मोटर की एक मामूली-सी ढिबरी के लिए हम कैसी

मुसीबत में पड़े यह हमी जानते हैं।

सोनारी एक छोटा-सा गाँव है—अहोम राजाओं की पुरानी राजधानी, शिवसागर से कोई अठारह मील दूर। वहाँ भी नाम के आकर्षण से चला गया था। यों असम में 'सोना' या 'स्वर्ण' बहुत-से नामों में है—सुबनश्री, सोना-भारती वगैरह—और असम भी 'सोनार असम' सोने का असम कहलाता है। बरसात के दिन थे, रास्ता खराब, एक दिन सबेरे घूमने निकला तो देखा कि नदी बढ़कर सड़क के बराबर आ गई है। मैं शिवसागर से तीन-चार मील पर था, सोचा कि एक नया दाँत-ब्रुश ले लूं, क्योंकि पुराना घिस चला था, और मोटर की भी एक ढिबरी ठीक करवाकर ही लौटूँ···उसकी चूड़ी घिस जाने से थोड़ा-थोड़ा तेल चूता रहता था, वैसे कोई बहुत ज़रूरी काम नहीं था। खैर, इसमें कोई दो घंटे लग गए, खाना खाने में एक घंटा और : तीन घंटे बाद वापस लौटने लगे तो देखा, सड़क पर पानी फैल गया है। पानी गहरा नहीं होगा, यह सोचकर मैं मोटर बढ़ाता चला गया। आगे देखा, सब ओर पानी ही पानी है, सड़क का कहीं पता नहीं लगता, सिर्फ़ पेड़ों की कतार से अंदाज़ लग सकता था। पर पानी बड़े ज़ोर से एक तरफ़ से दूसरी तरफ़ बह रहा था, क्योंकि सड़क के एक तरफ़ नदी थी, दूसरी तरफ़ नीची सतह के धान के खेत, जिनकी ओर बढ़ रहा था। पानी के धक्के से सड़क कई जगह टूट गई थी। मैं फिर भी बढ़ता गया, क्योंकि आखिर पीछे भी पानी ही था। पर थोड़ी देर बाद पानी कुछ गहरा हो गया और उसके धक्के से मोटर भी सड़क पर से हटकर किनारे की ओर जाने लगी : आगे कहीं कुछ दीखता नहीं था, क्योंकि सड़क की सतह शायद दो-तीन मील आगे तक बहुत नीची ही थी। सड़क के दोनों ओर जो पेड़ थे उनमें कइयों पर साँप लटक रहे थे, क्योंकि बाढ़ से बचने के लिए वे पहले सड़क पर आते थे और फिर पेड़ों पर चढ़ जाते थे।

मैंने लौटने का ही निश्चय किया। पर सड़क दीखती तो थी नहीं, अंदाज़ से ही मैं बीच के पक्के हिस्से पर गाड़ी चला रहा था। मोड़ने के लिए उसे पटरी से उतारना पड़ेगा···और इधर-उधर सड़क है भी कि नहीं, इसका क्या भरोसा ? मैं और

एक जगह देख भी चुका था कि आँखों के सामने ही कैसे समूचा ट्रक दलदल में धँसकर गायब हो जाता है। इसलिए मोटर को बिना घुमाए उल्टे गियर में ही कोई ढाई मील तक लाया, यहाँ सड़क कुछ ऊँची थी, उसपर गाड़ी घुमाकर शिवसागर पहुँचा।

शिवसागर से सोनारी को एक दूसरी सड़क भी जाती थी चाय-बागानों में से होकर, यह सड़क अच्छी थी, पर इसके बीच में एक नदी पड़ती थी जिसे नाव से पार करना होता था। मैंने सोचा कि इसी रास्ते चलें, क्योंकि सामान तो सब सोनारी में था, मैं डाक-बंगले से कुछ घंटों के लिए ही तो निकला था। शिवसागर में एक तो मोटर की ढिबरी कसवानी थी, और दूसरे दाँत-ब्रुश और कुछ तेल-साबुन लेना था, बस। वह भी लौटने की जल्दी के कारण नहीं लिया था।

इस सड़क से नदी तक पहुँच गए—वह बड़ी मुश्किल से, क्योंकि रास्ते में बड़ी फिसलन थी और गाड़ी बार-बार अटक जाती थी। नदी में नाव पर गाड़ी लाद भी ली, और पार भी चले गए : यहाँ भी नदी में बड़ी बाढ़ आई थी और बहते हुए टूटे छप्पर बता रहे थे कि नदी किसी गाँव को लीलती हुई आई है, एक भैंस भी बहती हुई आई और पेड़-पौधों की तो गिनती क्या। उस पार नदी का कगारा ऊँचा था, मोटर के लिए उतारा बना हुआ था, लेकिन नाव से किनारे तक जो तख्ते डाले गए थे, वे ठीक नहीं लग रहे थे। मोटर जब तख्तों पर आई और नाव एक तरफ़ को झुकी तो तख्ते फिसल गए, नाव दूर हट गई, मोटर नीचे गिरी, आधी पानी में, आधी किनारे पर : मैं जोर से ब्रेक दबाए बैठा था, पर ऐसे अधिक देर तक तो नहीं चल सकता था। लेकिन मैं तो मोटर के साथ खुद बँधा बैठा था, उतरकर समझा नहीं सकता था। खैर आध घंटा उस स्वर्ग नसैनी पर बैठे-बैठे असमिया, हिन्दी और बंगला की खिचड़ी में लोगों को बताता रहा कि क्या करें, तब मोटर ऊपर चढ़ाई जा सकी। थोड़ा आगे ही ऊँची जगह गाँव था। वहाँ मोटर रोककर चाय की तलाश की। यहीं सोनारी से आए दो साइकिल-सवारों से मालूम हुआ कि वे कंधे तक पानी में से निकलकर आए हैं··· साइकिलें कंधों पर उठाकर! और मोटर तो कदापि नहीं जा सकती।

इस तरह इधर भी निराशा थी। पानी अभी बढ़ रहा था। यह गाँव ऊँची जगह था, पर यहाँ कैद हो जाना मैं नहीं चाहता था, इसलिए फिर नाव पर मोटर चढ़ाकर उसी रास्ते नदी पार की। सबने मना किया पर मेरे सिर पर भूत सवार था, और हठ-धर्मी का अपना अनूठा रस होता है !

रात शिवसागर पहुँचे। एक सज्जन ने ठहरने को जगह दी, भोजन-बिस्तर का प्रबंध भी हो गया, पर दाँत का ब्रुश तो उधार नहीं लिया जा सकता। सबेरे-सबेरे चल-कर एक सौ अट्ठाइस किलोमीटर दूर डिब्रूगढ़ पहुँचे, वहाँ ब्रुश लेकर मुँह-हाथ धोकर सुस्थ हुए, यहाँ एक कमीज़ और पैण्ट खरीदकर कपड़े बदले, रात के लिए एक कंबल खरीदा। मन-ही-मन अपने को कोसा कि न नया दाँत-ब्रुश लेने के लिए सोनारी से निकले होते, न यह मुसीबत होती, क्योंकि इसकी ऐसी तात्कालिक आवश्यकता तो थी नहीं, न मोटर की ढिबरी का मामला ही इतना ज़रूरी था। लेकिन उपाय क्या था ?

इस तरह बारह दिन और काटने पड़े, क्योंकि सोनारी के सब रास्ते बंद थे लौटकर देखा, सोनारी के डाकबंगले में पानी भर गया था, कपड़े सब सीलकर सड़ रहे हैं, किताबें तो गल ही गई थीं। बचा था तो केवल स्नानघर में ऊँचे ताक पर रखा हुआ साबुन का डिब्बा, और दाँतों का ब्रुश।

नक्शे मैं अब भी देखता हूँ। वास्तव में जितनी यात्राएँ स्थूल पैरों से करता हूँ, उससे ज्यादा कल्पना के चरणों से करता हूँ। लोग कहते हैं कि मैंने अपने जीवन का कुछ नहीं बनाया, मगर मैं बहुत प्रसन्न हूँ, और किसी से ईर्ष्या नहीं करता। आप भी अगर इतने ही खुश हों तो ठीक—तो शायद आप पहले से मेरा नुस्खा जानते हैं—नहीं तो मेरी आपको सलाह है, "जनाब, अपना बोरिया-बिस्तर समेटिए और ज़रा चलते-फिरते नजर आइए।" यह आपका अपमान नहीं हैं, एक जीवन-दर्शन का निचोड़ है। 'रमता राम' इसलिए कहते हैं कि जो रमता नहीं, वह राम नही, टिकना तो मौत है।

—स० ही० वात्स्यायन

प्रश्न-अभ्यास

१. "अभी तक भी अमरकंटक नहीं देखा है और इस प्रकार उसका कांटा अभी तक सालता ही है, पर नक्शे की यात्रा तो कई बार की है, और अमरकंटक के बारे में उतना सब जानता हूँ जो वहाँ जाकर जान पाता।" टिप्पणी करते हुए बताइए कि नक्शों के संबंध में लेखक के क्या विचार हैं ?

२. लेखक ने इस पाठ में अपने स्वभाव आदि के बारे में क्या-क्या बातें बताई हैं और किन उद्देश्यों से प्रेरित होकर ?

३. "मैं दूसरे तरीके का कायल हूँ...........। लेकिन जब निकलता ही हूँ, तब एक तीसरा तरीका ही अख्तियार करता हूं।" स्पष्ट करते हुए बताइए कि इससे लेखक के स्वभाव की किस प्रवृत्ति का पता चलता है।

४. "एक कील की वजह से राज्य खो जाता है", लेखक ने इस कहावत को किस उद्देश्य से उद्धृत किया है ?

५. दाँत माँजने के एक ब्रुश और मोटर की एक मामूली ढिबरी के लिए लेखक मुसीबत में कैसे फँस गया ?

६. इस पाठ से असम के बारे में क्या-क्या बातें ज्ञात होती हैं ?

७. इस पाठ की अंतिम पंक्तियों का शीर्षक से संबंध स्थापित कीजिए।

८. अपनी किसी यात्रा का रोचक वर्णन लिखकर कक्षा में प्रस्तुत कीजिए।

९. रेखिका (डैश) का प्रयोग कहाँ-कहाँ होता है ? लेखक ने इसका बहुत प्रयोग इस पाठ में किस उद्देश्य से किया है ?

१०. यह पाठ लेखक की पुस्तक 'अरे यायावर रहेगा याद' से लिया गया है। पुस्तकालय से पुस्तक लेकर पढ़िए।

हरिभाऊ उपाध्याय

हरिभाऊ उपाध्याय का जन्म १८९२ ई० में उज्जैन जिले के भौंरोसा गाँव में हुआ था। आपकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई। बाद में आप अपने चाचा के साथ काशी आए जहाँ हिन्दू कालेजिएट स्कूल में विद्योपार्जन किया। पहले-पहल आपने 'औदुंबर' मासिक पत्रिका के संपादन द्वारा हिन्दी की पत्रकारिता-जगत में प्रवेश किया। सन् १९१५ ई० में आप आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी के संपर्क में आए और उनके साथ 'सरस्वती' में सहायक संपादक का कार्य किया। कुछ समय तक आपने 'प्रताप' का संपादन किया। इसी बीच आप गांधीजी के संपर्क में आए और 'हिन्दी-नवजीवन' का संपादन-कार्य बड़ी कुशलता से संभाला। इस प्रकार आपका अधिकांश जीवन पत्रकारिता में बीता। गांधी जी के रचनात्मक कार्यों को सफल बनाने में आपने पूरा योगदान दिया।

आपने स्वतंत्रता-आंदोलन में भी सक्रिय भाग लिया और कई बार जेल-यात्रा की। आप तत्कालीन अजमेर राज्य के मुख्य मंत्री रहे और बाद में राजस्थान सरकार में वित्त एवं शिक्षा मंत्री भी रहे। आपको हिन्दी के अलावा अँगरेजी, गुजराती, मराठी और उर्दू आदि भाषाओं पर अच्छा अधिकार था। आपने पं० जवाहर लाल नेहरू की 'मेरी कहानी', पट्टाभि सीतारमैया द्वारा लिखित 'कांग्रेस का इतिहास', गांधी जी की आत्मकथा, विनोबा जी का 'गीता प्रवचन' आदि ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद किया। आपका यह कार्य हिन्दी साहित्य को विशेष देन के रूप में स्वीकारा और सराहा गया है। इसके अतिरिक्त आपने निबंध, जीवनी, संस्मरण आदि विधाओं में अनेक साहित्यिक मौलिक कृतियों की रचना है। आपकी रचनाओं में भावों और विचारों की गंभीरता एवं प्रौढ़ता और भाषा-शैली में सहजता सर्वत्र विद्यमान है। एक लंबे अर्से तक पत्रकारिता, राजनीति एवं साहित्य-सेवा के बाद २५ अगस्त १९७२ को आपने इस नश्वर संसार का परित्याग किया।

'गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर' नामक जीवनी में आपने गुरुदेव के जीवन के प्रेरक प्रसंगों के प्रस्तुतीकरण के साथ ही उनकी साहित्यिक देन का भी विवेचन बड़ी कुशलता से किया है। गुरुदेव के प्रति आपके सहज भक्ति-भाव के बावजूद आपकी तटस्थता स्पष्टतया दृष्टिगोचर होती है।

७. गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर

मुझे रोम्याँ रोलाँ का वह वाक्य याद आता है कि गांधी और रवीन्द्रनाथ एक हिमालय से निकलकर पूर्व और पश्चिम में बहनेवाली गंगा और सिन्धु के सदृश दो धाराएँ हैं। रवीन्द्र और गांधी, संसार को आर्य संस्कृति की दो महान देन हैं। एक में उसके हृदय की सुकुमारता और दूसरे में उसकी आत्मा की तेजस्विता चमक रही है। दोनों इतने महान् हैं कि हमारी स्थिति कबीर की तरह हो जाती है—"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाँय।"

कविवर वैसे बनर्जी-कुल के हैं, किन्तु समाज में माननीय होने के कारण उनका वंश ठाकुर कहलाता है। टैगोर इसी का अँगरेजी मुलम्मा चढ़ा हुआ रूप है। यह टैगोर कुल केवल बड़े जमींदार के ही नहीं, किन्तु कला और साहित्य के उच्च मर्मज्ञों के रूप में भी बहुत दिनों से प्रसिद्ध रहता आ रहा है। विगत शताब्दी में जो सांस्कृतिक एवं सामाजिक सुधार हुए हैं, उनसे ठाकुर-कुल का गहरा संबंध रहा है। उनके पिता देवेन्द्रनाथ ठाकुर और पितामह द्वारकानाथ ठाकुर ब्रह्म-समाज के बहुत आगे बढ़े हुए सदस्यों में से थे। वे मूर्तिपूजा और अंध-विश्वास के कट्टर विरोधी थे। यह उनके ही सतत परिश्रम का फल था कि ब्रह्म-समाज वर्तमान भारतीय जीवन पर अनेक प्रकार के गहरे प्रभाव डाल सका। विदेश-यात्रा के संबंध में भी उस समय जाति की ओर से कड़ी पाबंदी थी। द्वारकानाथ पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इंग्लैण्ड जाकर इस पाबंदी को तोड़ा। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने भी इस आत्म-स्वातंत्र्य को कायम रखा। किन्तु वे अपने पिता की भाँति भारतीय अंध-विश्वास और रूढ़ियों के इतने कट्टर विरोधी नहीं थे। धीरे-धीरे उनमें आध्यात्मिक विचारों की प्रधानता होने लगी।

प्रार्थना और तपस्या की ओर उनकी प्रवृत्ति बढ़ती गई। उन्होंने हिमालय की उच्च पर्वत-श्रेणियों में बहुत भ्रमण किया। एक बार वे छह वर्षीय बालक रवीन्द्रनाथ को भी अपने साथ ले गए थे।

रवीन्द्रनाथ का जन्म मंगलवार ७ मई, सन् १८६७ ई० को ३ बजे प्रातःकाल कलकत्ता में हुआ। इनकी माता का नाम शारदा देवी था। वे अपने पिता की चौदहवीं संतान थे। इसमें संदेह नहीं कि रवीन्द्रनाथ को प्रारंभिक स्फूर्ति अपने पिता से ही मिली। वे प्रायः उनके पास बैठा करते थे। अपने पिता के ध्यान के समय वे उनके पास खेला करते थे। उस समय जो भी नई चीजें वे देखते थे वे-सब उनके लिए नई खोजें थीं। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने अपने पिता से ध्यान, प्रार्थना, एकांत-प्रेम, शांति आदि बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातें सीखीं, जिनसे उनके मनुष्यत्व का विकास हुआ।

बाल्यकाल में ही उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। पिता आध्यात्मिकता की ओर आकर्षित हो चुके थे, अतएव उन्हें बाल्यकाल में सुख नहीं मिला। नौकरों की देख-रेख में उनका बहुत-सा समय बीता। विद्याध्ययन के लिए उन्हें स्कूल भेजा गया, किन्तु उनका मन स्कूल की पढ़ाई में न लगा। लाचार उन्हें घर पर ही पढ़ाने का प्रबंध किया गया। १८७३ ई० में उनका उपनयन संस्कार हुआ। इसी वर्ष उन्होंने 'पृथ्वीराज पराजय' नामक नाटक की रचना की। दूसरे वर्ष १८७४ ई० में उन्होंने शेक्सपीयर के प्रसिद्ध नाटक 'मैकबेथ' का बंगला में अनुवाद किया। अब धीरे-धीरे कविता, कहानी आदि भी लिखने लगे।

सन् १८७७ में उन्होंने पहली बार इंग्लैण्ड की यात्रा की। वे पहले तो ब्राइटन स्कूल में भर्ती हुए, फिर उसे छोड़कर यूनिवर्सिटी कालेज, लंदन में भर्ती हुए। इस शिक्षा से उन्हें संतोष नहीं हुआ और वे एक वर्ष बाद भारत आ गए।

रवीन्द्रनाथ बचपन से ही प्रतिभाशाली थे। बौद्धिक प्रतिभा के साथ ही साथ आध्यात्मिक विचारों की एक गहरी धारा उनके भीतर प्रवाहित हो रही थी। उन्हें

प्रकाश किस प्रकार मिला, यह निस्संदेह आश्चर्यपूर्ण है। उन्होंने स्वयं लिखा है— "सूर्य देवता सामने के वृक्षों से झाँक रहे थे। मैं उनका स्वागत करने अपने निजी मकान के छज्जे पर दौड़ गया। वृक्षों पर सूर्य की किरणें पड़ रही थीं। इस समय एकाएक दिव्य प्रकाश मिल गया। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु इस समय एक ही प्रतीत होती थी—सारा विश्व एक दिखाई देता था। सब चेतन जगत—यह सारा जीवन—प्रकाश और प्रेम से परिपूर्ण दिखाई देने लगा। इस अपूर्व दृश्य का वर्णन मानवी शक्ति के परे है। सूर्य की किरणें हर्ष और सौन्दर्य से उत्फुल्ल प्रतीत होने लगीं। प्रकृति का घूंघट हट गया। दूर से दूर, इस सिरे से उस सिरे तक, प्रकाश और सौन्दर्य की असीमता ही दिखाई देती थी। इससे मुझमें इतना आनंद आ गया कि उसने लगभग पीड़ा का रूप प्राप्त कर लिया था। पड़ोसी मानवी प्रेम से अभिभूत होने लगे। मैं सड़क के एक दीन भिखारी को भी बड़े प्रेम से देखता था और मेरा हृदय उसके प्रति सहानुभूति से भर जाता था। मैंने एक बच्चे को अपने साथी के गले में बाँहें डालते हुए देखा और मेरे हृदय में इतना चुभा कि आँखों में आँसू निकल पड़े।

"यह अंतर्दृष्टि—यह प्रकाश जो कि समुद्र या पृथ्वी पर कभी नहीं था—निरंतर मेरे साथ रही और अपना सारा जीवन आनंद की अनुभूति में लगाने का मैंने विचार किया। मेरे बड़े भाई ने मुझे अपने साथ चलकर दार्जिलिंग के चमत्कारपूर्ण प्राकृतिक दृश्यों को देखने को कहा। मैं उनके साथ पहाड़ पर गया, किन्तु मुझे यह कहते हुए हँसी आती है कि मैं गलती पर था। सारा आनंद खिसक गया। हरएक चीज़ पीछे रह गई और दिन के प्रकाश के साथ लुप्त होती गई। बजाय इसके कि और अधिक प्रकाश देखूँ, सारा आनंद मिट गया। उस समय मेरे आध्यात्मिक ध्येय में जो बाधा पड़ी वह मेरे जीवन का सबसे गहरा सबक है। इसका प्रयोजन यह है कि हमें अपने रास्ते से जीवन को शोध करने की आवश्यकता नहीं है। उसे ही हमारी खोज करनी चाहिए। इस बात की आवश्यकता है कि हम उनके मार्ग से उसका अनुभव करें। मनुष्यों से दूर पहाड़ों में खोजने के बजाय गरीबों के बीच हमें उसका पता लगाना चाहिए।"

१५ वर्ष की अवस्था से पूर्व ही वे लिखने लगे थे। अपने प्रारंभिक काल में ही वे अच्छी रचनाएँ करने लगे थे। उत्तरोत्तर उनकी रचनाएँ उनकी प्रतिभा का परिचय देने लगीं और जल्दी ही उनकी धाक बंगला साहित्य पर जम गई।

६ दिसंबर सन् १८८३ को मृणालिनी देवी के साथ उनका विवाह हुआ। वे साहित्यिक कार्यों में प्रवृत्त हुए और अपनी साहित्यिक योग्यता के कारण लोकप्रिय होने लगे। कुछ लोग उनको 'बंगाल के शेली' के नाम से पुकारने लगे। १८९१ में उनकी 'मानसी' नामक एक प्रौढ़ रचना प्रकाशित हुई। वृद्ध पिता ने रवीन्द्रनाथ को कलकत्ता छोड़कर गाँव के शांत वातावरण में रहने की सलाह दी। अतएव वे अपनी जमींदारी के स्यालदा नामक ग्राम में, जो गंगा के किनारे है, जाकर रहने लगे। यहाँ रवीन्द्रनाथ के जीवन के सबसे अधिक सुखी दिन बीते। वे कभी-कभी अपनी नाव में बैठकर गंगा के बीच के रेतीले मैदान में चले जाते, जो कहीं-कहीं किनारे से ३ मील दूर है। वे वहाँ अकेले ही प्रकृति से अपने हृदय का संबंध स्थापित करने में तल्लीन हो जाते थे। उन्होंने वहाँ बहुत ही सुंदर रचनाएँ कीं। किन्तु इस प्रकार एकांतप्रियता एवं कल्पना के लोक में विचरण करने के साथ ही वे गाँव की वास्तविक परिस्थिति से उदासीन नहीं रहे। अपनी जायदाद के अच्छे प्रबंध की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया और ग्रामों की समस्याओं का भी अध्ययन किया। इस समय वे ऐसे अच्छे प्राकृतिक दृश्यों के बीच में थे जिनको वे अधिक चाहते थे और जिनका उन्होंने बड़ा ही सुंदर वर्णन किया है। विस्तृत एवं शस्य-श्यामल मैदान, सुंदर नहरें और पक्षियों का कलरव उनको बहुत आकर्षित करता था। प्रकृति से तादात्म्य स्थापित करने एवं अपनी प्रतिभा के विकास के लिए यहाँ उन्हें पर्याप्त शांति और समय मिला।

यहाँ का समय सफल एवं सुंदर रचनाओं की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। लगभग चार वर्षों तक उन्होंने निरंतर अच्छे निबंध, कहानियाँ और कविताएँ ही नहीं लिखीं, किन्तु अच्छे नाटक भी लिखे। 'बलिदान' बंगला-साहित्य का एक श्रेष्ठ नाटक है। 'चित्रांगदा' भी अपने ढंग की एक बेजोड़ रचना है। उनके गीति-काव्यों की श्रेष्ठता भी अपनी चरम-सीमा पर पहुँचने लगी थी। उनका 'सोनारतरी' नामक

कविता-संग्रह प्रकाशित हुआ जिसमें उनके रहस्यमय विचारों का अच्छा विकास दिखाई देता है। इसके दो वर्ष बाद 'चित्रा' और फिर 'उर्वशी' प्रकाशित हुई। ये रचनाएँ विश्व-साहित्य में सौन्दर्य-पूजा की दृष्टि से बेजोड़ हैं।

रवीन्द्रनाथ का हृदय देश-प्रेम से परिपूर्ण था। वे विदेशी शोषण के विरोधी थे। काका कालेलकर के शब्दों में देशभक्ति उनका व्यसन नहीं, किन्तु स्वभाव था। उस समय देश में दो प्रकार के लोग थे। एक प्रकार के लोग मानते थे—"हम गिरे हुए हैं, इसलिए जो कुछ हमारा है, सब कूड़ा-कर्कट है, उसे साफ़ करके हमें अपने राजकर्ताओं का अनुकरण करना चाहिए।" उनकी संकीर्ण बुद्धि में यह नहीं आया कि अंधानुकरण ही मरण है। अंधानुकरण का जीवन कृत्रिम होता है, अपमानकारक है और अत्यंत ही हास्यास्पद। इसके विपरीत दूसरा पक्ष कहता है—"अँगरेज बुरे हैं। उनकी संस्कृति हेय है। हमारा सब कुछ बढ़िया है, हम लोग तो संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान हैं। हमें दूसरों से क्या सीखना है?" किन्तु इन लोगों के भी ध्यान में नहीं आया कि यह वृत्ति भी उतना ही कृत्रिम और खोखली है। रवीन्द्रनाथ इन दोनों का त्याग करने को कहते थे—"तुम अपने को पहचानो। अपना जीवन शुद्ध और समृद्ध करो। तपस्या से तुम्हारी शक्ति अपने आप बढ़ने लगेगी, फिर किसी की ताकत नहीं जो तुम्हारा अपमान करे।"

वे चाहते थे कि भारत के प्राचीन आदर्शों को फिर जाग्रत और जीवित करना चाहिए। उन्होंने आर्यों की सभ्यता तथा उपनिषदों पर व्याख्यान दिए और सिक्खों, राजपूतों तथा मराठों की वीरता एवं आत्म-विश्वास की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

इस समय उनका सबसे बड़ा स्मृति-चिह्न शांतिनिकेतन है। इस विश्वविख्यात विद्यालय की स्थापना सन् १९०१ में हुई। हमारे प्राचीन आदर्शों के पुजारी होने के साथ-साथ रवीन्द्र पश्चिम की वर्तमान प्रगति से एकदम उदासीन नही थे। शांतिनिकेतन में पश्चिम की वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को कुछ अंशों में ग्रहण किया गया। वे चाहते थे

कि इस विद्यालय के द्वारा प्राचीन आदर्शों की प्राप्ति की जाए और भारतीय विद्यार्थी के मन और आत्मा का इतना विकास कर दिया जाए कि वह सौन्दर्य, प्रेम और ईश्वर की ओर उन्मुख हो सके। शांतिनिकेतन एक आदर्श संस्था समझी जाने लगी, और देश ही नहीं, विदेशों से भी विद्यार्थी आकर भरती होने लगे। इसी प्रकार विदेशों से अध्यापक शांतिनिकेतन में आकर काम करने लगे। इनमें दीनबंधु एंड्रूज़ और पिर्यसन् काफ़ी प्रसिद्ध अध्यापकों में से थे।

कविवर का गार्हस्थ जीवन बहुत काफ़ी सुखी था। शिक्षाव्रती कवि जिस समय अपने आदर्श विद्यालय के संगठन में प्रवृत्त थे, उस समय उनकी धर्मपत्नी उनके इस कार्य में बराबर सहयोग देती थीं। अपने हाथ से छात्रों के लिए जलपान तैयार करने का भार उन्होंने लिया था। छात्रों को अपने स्नेह से उन्होंने गढ़ना चाहा। विद्यालय को आरंभ हुए अभी एक वर्ष भी नहीं हुआ था कि कवि-पत्नी का देहांत हो गया। कवि-संसार को भंग करके वे अकाल में ही चल बसीं। मृत्यु-शय्या पर कवि ने अपनी पत्नी की जैसी सेवा-शुश्रूषा की, उसकी छाप आज भी परिवार के लोगों पर ज्यों-की-त्यों अंकित है। पत्नी के असामयिक निधन से कवि को मर्मांतक पीड़ा हुई।

कवि के जीवन का अब बड़ा ही दुखमय अध्याय प्रारंभ होता है। सन् १९०२ के नवंबर मास में पत्नी का देहांत तो हो ही गया था, दो वर्ष बाद ही उनकी दूसरी कन्या की भी मृत्यु हो गई। इसके बाद १९०५ में उनके वृद्ध पिता भी चल बसे। नियति का निर्दय प्रहार यहीं तक सीमित नहीं रहा। एक ही वर्ष बाद उनके बड़े पुत्र की भी मृत्यु हो गई। अपने इस पुत्र को वे बहुत प्यार करते थे। मृत्यु के निरंतर प्रहारों के कारण कवि की आत्मा करुण क्रंदन कर उठी। 'स्मरण', 'खेवैया,' और 'नौका डूबी' नामक रचनाएँ इसी काल की हैं। इन रचनाओं में कवि के बड़े ही मार्मिक उद्‌गार है। इस शोक के बीच ही कवि को एक दूसरा दिव्य प्रकाश प्राप्त हुआ। तब निश्चित रूप से उन्होंने यह जान लिया कि मृत्यु अंत नहीं, जीवन की पूर्णता है।

इसके बाद कवि ने पश्चिम में आना प्रारंभ किया। पहले वे बीमारी की अवस्था

में इंग्लैण्ड गए और वहाँ उनका एक बड़ा आपरेशन हुआ जो बिल्कुल सफल रहा। यही वह समय था जब उनकी 'गीतांजलि' नामक बंगला-कविताओं का अँगरेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। अनुवाद स्वयं कवि ने किया था। छोटी-सी सुंदर काव्य-पुस्तक ने उन्हें विश्वविख्यात कर दिया। उन्होंने अमरीका की यात्रा की और विश्वविख्यात होकर १९१३ में भारत लौटे। भारत आने के कुछ ही सप्ताह बाद विश्व-साहित्य का सुप्रसिद्ध 'नोबल पुरस्कार' उन्हें मिला। सिर्फ़ एक ही कवि की साधना से भारतवर्ष की एक प्रांतीय भाषा विश्व-साहित्य की भाषा बन गई। प्रतिकूल वातावरण एवं साधन-हीनता के होते हुए भी अपने चारों ओर के असहयोग को लाँघ जाने और उन्हें बदल देने में ही रवीन्द्र की प्रतिभा की सिद्धि है। रवीन्द्र ने अपनी वीणा के स्वरों से निराश और विक्षुब्ध जाति में नवजीवन का संचार किया। सांप्रदायिकता के स्थान पर राष्ट्रीयता को प्रतिष्ठित किया। उन्हीं के प्रयत्नों से नवजागृत बंगाली मानस स्वाधीनता के स्वप्न से व्याकुल और चंचल हो उठा। स्वधर्म प्रतिष्ठा की साधना में रवीन्द्र कवि ही नहीं, पथ-प्रदर्शक भी हैं।

इन्हीं वर्षों में जबकि सारे विश्व में उनकी कीर्ति-कौमुदी फैल चुकी थी, कवि की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुईं। उन्हें 'नाइट' की उपाधि प्रदान की गई तथा अन्य कई प्रकार से देश में उनका सम्मान हुआ।

उन्होंने राष्ट्रीयता और अंतर्राष्ट्रीयता के आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए 'विश्वभारती' नामक एक विश्व-संस्कृति की संस्था की स्थापना की और ग्राम सुधार के लिये श्रीनिकेतन की स्थापना की जो ग्रामों के पुनर्निर्माण के लिए विश्वभारती का एक विभाग है। सन् १९२० और '३० के बीच में उन्होंने बड़ी यात्राएँ की, किन्तु उनका ध्यान सदैव विश्वभारती की उन्नति में लगा रहा। नोबल-पुरस्कार से और पुस्तकों से जो कुछ उन्हें मिला, वह सब वे उसके लिए खर्च करते रहे। शनैः शनैः वह एक विश्वविद्यालय के रूप में परिणत हो गया और उसका नाम सचमुच ही विश्वभारती हो गया जो कि संसार-भर की संस्कृति का द्योतक है। संसार के विभिन्न देशों के

विद्यार्थी यहाँ कार्य एवं संस्कृति के बंधुत्व में परस्पर मिल-जुलकर रहते हैं। यूरोप और एशिया के कतिपय बड़े-बड़े विद्वान् भी यहाँ आते हैं और यहाँ रहकर भारतीय कला, संगीत और संस्कृति का अध्ययन करते हैं। रवीन्द्र यहाँ साधारणतः एक अध्यापक और संस्थापक-सभापति के रूप में रहते थे। उन्होंने अपनी सारी संपत्ति ही नहीं, अपना सारा जीवन इसे अर्पण कर दिया।

साहित्य, कला और संस्कृति के लिए जहाँ कवि ने इतना किया, वहाँ समय-समय पर स्वदेश-प्रेम भी प्रदर्शित किया। बंग-भंग के समय उन्होंने बहुत काम किया। जलियाँवाला बाग के हत्याकांड से तो वे इतने दुखी हुए कि उन्होंने अपनी 'सर' की उपाधि का परित्याग कर दिया। उनके अँगरेज मित्र इससे असंतुष्ट होकर अलग हो गए, किन्तु उन्होंने इसकी बिल्कुल चिन्ता नहीं की। राजनीति में गांधी जी से कुछ मतभेद होते हुए भी वे उनपर बड़ी श्रद्धा रखते थे। यही हाल गांधी जी का भी था। जब बंगाल में गांधी-विरोधी-आंदोलन आरंभ हुआ तो उस समय उन्होंने उसका कड़ा विरोध किया।

उन्होंने तत्कालीन अँगरेज़ी शासन की उस नीति की सदैव निन्दा की जिसके द्वारा भारतवासियों की स्वतंत्रता का अपहरण किया गया था और करोड़ों व्यक्तियों को दरिद्रता और दीनता का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा था। वे साम्राज्यवाद के कड़े विरोधी थे, किन्तु उन्होंने साम्राज्यवाद का मुकाबला करने एवं स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए कभी हिंसात्मक उपायों का अवलंबन करने की राय नही की। सभ्यता और संस्कृति के उत्थान के लिए उन्होंने सदैव अँगरेजों के साथ सहयोग करने की राय दी। वृद्धावस्था के कारण अंतिम दिनों में उनका स्वास्थ्य कुछ खराब रहने लगा था, किन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास नहीं हुआ। समय-समय पर जब आवश्यकता हुई तब उन्होंने बर्बरता, पशुता, जुल्म और हत्याओं के विरोध में अपनी आवाज़ बुलंद की और करारे जवाब दिए।

कवीन्द्र की प्रतिभा बहुमुखी थी। वे केवल कवि, उपन्यासकार, नाटककार एवं

कहानी-लेखक ही नहीं थे, बल्कि एक बड़े संगीतज्ञ, चित्रकार, तत्त्वज्ञानी, पत्रकार, अध्यापक, वक्ता एवं अभिनय की कला में प्रवीण थे। संस्कृत के काव्यों एवं मध्यकाल के वैणव साहित्य से उन्हें बहुत प्रेरणा मिली थी। उपर्युक्त विषयों पर उनका असाधारण अधिकार था। ज्ञान की तो वे मानो सजीव मूर्ति थे। अपनी असाधारण प्रतिभा और भावोद्वेग से उन्होंने विश्व-मानव की वंदना की। देश और जाति के संकीर्ण बंधनों को त्यागकर समस्त मानवता को अपने हृदय में धारण किया। पीड़ित मानव की वेदना को भाषा प्रदान की, उसकी आशा को उन्होंने छंदों में रूपांतरित किया और उसके आनंद को संगीत की सैकड़ों धाराओं में बहाया। मानव-महत्त्व के इस पुजारी ने देश-विदेशों में भ्रमण करके मानवता को दानवी-शक्ति से छुटकारा दिलाने की अमर वाणी सुनाई। नगर छोड़कर देहात की एकांत गोद में साधना करते हुए दीर्घ जीवन व्यतीत करके ८ अगस्त, १९४१ को गुरु पूर्णिमा के दिन अस्सी वर्ष की अवस्था में अपने जोड़ासाँको के भवन में शिष्यों-प्रशिष्यों के बीच उन्होंने शरीर-त्याग किया। उन्हें खोकर विश्व-मानव दरिद्र हो गया।

श्री किशोरीलाल मशरूवाला के शब्दों में, "व्यास, वाल्मीकि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, पराशर आदि वैदिक ऋषि सब कालों में वर्तमान पुरुष हो गए हैं। अगर लिखित इतिहास का लोप हो जाए तो श्री रवीन्द्र की भी गणना उन्हीं के समकालीनों में होगी।"

गांधी जी कहते हैं, "गुरुदेव हिन्दुस्तान की सेवा की मार्फत सारे जगत की सेवा करना चाहते थे और सेवा करते-करते चले गए। उनकी आत्मा तो अमर है जैसे हम सबकी है। उनकी प्रवृत्तियाँ व्यापक थीं और प्रायः सभी ऐसी पारमार्थिक थीं कि उनकी मार्फत वे अमर रहेंगे। शांतिनिकेतन, श्रीनिकेतन, विश्व-भारती—ये सब एक ही कृति के नाम हैं। वे गुरुदेव के प्राण थीं। उन्हीं के लिए दीनबंधु गए व बाद में गुरुदेव।"

—हरिभाऊ उपाध्याय

प्रश्न-अभ्यास

१. गुरुदेव और महात्मा गांधी में रोम्यांरोलां ने क्या-क्या समानताएँ बताई हैं ? आप अपनी ओर से दो समानताएँ तथा दो असमानताएँ बताइए।

२. रवीन्द्रनाथ को विधिवत् विद्यालयी शिक्षा नहीं मिली, फिर भी वे इतने महान् कलाकार और विचारक कैसे बन सके ?

३. रवीन्द्रनाथ को आध्यात्मिक प्रकाश किस प्रकार मिला ? इस संबंध में उनके अतिशय मानव-प्रेम के कारणों पर भी प्रकाश डालिए।

४. रवीन्द्रनाथ ठाकुर किस रूप में सर्वाधिक प्रसिद्ध हुए ?
   (क) समाजसुधारक के रूप में। (ख) शिक्षाशास्त्री के रूप में।
   (ग) कवि के रूप में। (घ) देशभक्त के रूप में।
   (ङ) महामानव के रूप में।

५. "काका कालेलकर के शब्दों में देश-भक्ति उनका व्यसन नहीं, किन्तु स्वभाव था।" उनके देश-प्रेम के कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यों का उल्लेख करते हुए उक्त कथन पर टिप्पणी कीजिए।

६. 'विश्व भारती' की स्थापना रवीन्द्रनाथ ने किन उद्देश्यों से प्रेरित होकर की। इस संस्था का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

७. रवीन्द्रनाथ ठाकुर गुरुदेव के नाम से क्यों पुकारे जाते हैं ? उनमें गुरुदेव के कौन-कौन से गुण वर्तमान थे ?

८. रवीन्द्रनाथ ठाकुर की साहित्यिक उपलब्धियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

९. लेखक ने गुरुदेव के संबंध में विभिन्न महापुरुषों एवं विद्वानों की उक्तियाँ उद्धृत की हैं। आप लेखक की किस उक्ति को उद्धृत करने योग्य मानते हैं ?

रामवृक्ष बेनीपुरी

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी का जन्म मुजफ्फ़र जिले (बिहार) के बेनीपुर गाँव में एक साधारण किसान परिवार में सन् १९०२ ई० में हुआ था। बचपन में ही आपके माता-पिता का देहांत हो गया। सन् १९२० ई० में गांधी जी के नेतृत्व में असहयोग आंदोलन प्रारंभ होने पर आप अध्ययन छोड़ राष्ट्र-सेवा में लग गए। 'रामचरित मानस' के पठन-पाठन से आपकी रुचि साहित्य की ओर हुई। पंद्रह वर्ष की अवस्था से ही आप पत्र-पत्रिकाओं में लिखने लगे थे। देश-सेवा के पुरस्कार स्वरूप आपको जीवन का एक बड़ा अंश कारागार में बिताना पड़ा। 'बालक' 'तरुण भारती' 'किसान मित्र', 'नई धारा', आदि अनेक पत्रिकाओं का संपादन आपने बड़ी कुशलता से किया।

उपन्यास, नाटक, कहानी, यात्रा-विवरण, संस्मरण, निबंध आदि सभी गद्य-विधाओं में बेनीपुरी जी ने रचना की। इनका पूरा साहित्य 'बेनीपुरी ग्रंथावली' के रूप में प्रकाशित हो चुका है। इनके कुछ प्रसिद्ध ग्रंथ निम्नलिखित हैं :

पतितों के देश में (उपन्यास) चिता के फूल (कहानी), माटी की मूरतें (रेखाचित्र), अंबपाली (नाटक) गेहूँ और गुलाब (निबंध और रेखाचित्र), पैरों में पंख बांधकर (यात्रा वृत्तांत) ज़ंजीरें और दीवारें (संस्मरण) आदि।

बेनीपुरी जी एक कर्मठ देश-भक्त थे। आपका साहित्य गहन अनुभूतियों और उच्च कल्पनाओं का स्पष्ट प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है। भाषा ओजपूर्ण और सशक्त है। कुछ प्रांतीय शब्द आ जाने पर भी वह खड़ी बोली के परिष्कृत रूप का ही अनुगमन करती है।

'नींव की ईंट' एक सफल गद्यगीत है जिसमें लेखक ने स्वतंत्रता-पूर्व भारतीयों के अनाम बलिदान की सराहना की है और स्वातंत्र्योत्तर भारत में कुर्सी के लिए आपाधापी की प्रवृत्ति की भर्त्सना। "अफसोस, कंगूरा बनने के लिए चारों ओर होड़ा-होड़ी मची है, नींव की ईंट बनने की कामना लुप्त हो रही है!" लेखक का यह निष्कर्ष किशोर विद्यार्थियों के लिए विचारणीय है— "सात लाख गाँवों का नव-निर्माण! हजारों शहरों और कारखानों का नव-निर्माण! कोई शासक इसे संभव कर नहीं सकता। जरूरत है ऐसे नौजवानों की, जो इस काम में अपने को चुपचाप खपा दें!"

नींव की ईंट

वह जो चमकीली, सुंदर, सुघड़ इमारत है; वह किसपर टिकी है? इसके कंगूरों को आप देखा करते हैं, क्या कभी आपने इसकी नींव की ओर भी ध्यान दिया है?

दुनिया चकमक देखती है, ऊपर का आवरण देखती है, आवरण के नीचे जो ठोस सत्य है उसपर कितने लोगों का ध्यान जाता है?

ठोस 'सत्य' सदा 'शिवम्' होता ही है, किन्तु वह हमेशा ही 'सुंदरम्' भी हो, यह आवश्यक नहीं।

सत्य कठोर होता है, कठोरता और भद्दापन साथ-साथ जन्मा करते हैं, जिया करते हैं।

हम कठोरता से भागते हैं, भद्देपन से मुख मोड़ते हैं—इसीलिए सत्य से भी भागते हैं।

नहीं तो, हम इमारत के गीत नींव के गीत से प्रारंभ करते।

वह ईंट धन्य है, जो कट-छँटकर कंगूरे पर चढ़ती है और बरबस लोक-लोचनों को अपनी ओर आकृष्ट करती है।

किन्तु, धन्य है वह ईंट, जो ज़मीन के सात हाथ नीचे जाकर गड़ गई और इमारत की पहली ईंट बनी!

क्योंकि इसी पहली ईंट पर उसकी मज़बूती और पुख्तेपन पर सारी इमारत की अस्ति-नास्ति निर्भर करती है।

उस ईंट को हिला दीजिए, कंगूरा बेतहाशा ज़मीन पर आ रहेगा।

कंगूरे के गीत गानेवाले हम, आइए, अब नींव के गीत गाएँ।

वह ईंट, जो ज़मीन में इसलिए गड़ गई कि दुनिया को इमारत मिले, कंगूरा मिले!

वह ईंट, जो सब ईंटों से ज़्यादा पक्की थी, जो ऊपर लगी होती, तो कंगूरे की शोभा सौगुनी कर देती!

किन्तु, जिसने देखा, इमारत की पायदारी उसकी नींव पर मुनहसिर होती है; इसलिए उसने अपने को नींव में अर्पित किया।

वह ईंट, जिसने अपने को सात हाथ ज़मीन के अंदर इसलिए गाड़ दिया कि इमारत ज़मीन के सौ हाथ ऊपर तक जा सके।

वह ईंट, जिसने अपने लिए अंधकूप इसलिए कबूल किया कि ऊपर के उसके साथियों को स्वच्छ हवा मिलती रहे, सुनहली रोशनी मिलती रहे।

वह ईंट, जिसने अपना अस्तित्व इसलिए विलीन कर दिया कि संसार एक सुंदर सृष्टि देखे।

सुंदर सृष्टि! सुंदर सृष्टि, हमेशा ही बलिदान खोजती है, बलिदान ईंट का हो या व्यक्ति का।

सुंदर इमारत बने, इसलिए कुछ पक्की-पक्की लाल ईंटों को चुपचाप नींव में जाना है।

सुंदर समाज बने, इसलिए कुछ तपे-तपाए लोगों को मौन-मूक शहादत का लाल सेहरा पहनना है।

शहादत और मौन-मूक! जिस शहादत को शुहरत मिली, जिस बलिदान को प्रसिद्धि प्राप्त हुई वह इमारत का कंगूरा है—मंदिर का कलश है।

हाँ, शहादत और मौन मूक! समाज की आधारशिला यही होती है।

ईसा की शहादत ने ईसाई धर्म को अमर बना दिया, आप कह लीजिए। किन्तु, मेरी समझ से ईसाई धर्म को अमर बनाया उन लोगों ने, जिन्होंने उस धर्म के प्रचार

में अपने को अनाम उत्सर्ग कर दिया।

उनमें से कितने जिन्दा जलाए गए, कितने शूली पर चढ़ाए गए, कितने बन-बन की खाक छानते जंगली जानवरों के शिकार हुए, कितने उससे भी भयानक भूख-प्यास के शिकार हुए।

उनके नाम शायद ही कहीं लिखे गए हों—उनकी चर्चा शायद ही कहीं होती हो।

किन्तु, ईसाई धर्म उन्हीं के पुण्य-प्रताप से फल-फूल रहा है।

वे नींव की ईंट थे, गिरजा घर के कलश उन्हीं की शहादत से चमकते हैं।

आज हमारा देश आजाद हुआ सिर्फ़ उनके बलिदानों के कारण नहीं, जिन्होंने इतिहास में स्थान पा लिया है।

देश का शायद कोई ऐसा कोना हो, जहाँ कुछ ऐसे दधीचि नहीं हुए हों, जिनकी हड्डियों के दान ने ही विदेशी वृत्रासुर का नाश किया।

हम जिसे देख नहीं सकें, वह सत्य नहीं है, यह है मूढ़ धारणा! ढूँढ़ने से ही सत्य मिलता है। हमारा काम है, धर्म है, ऐसी नींव की ईंटों की ओर ध्यान देना।

\+ \+ \+ \+

सदियों के बाद नए समाज की सृष्टि की ओर हमने पहला कदम बढ़ाया है।

इस नए समाज के निर्माण के लिए भी हमें नींव की ईंट चाहिए।

अफसोस, कंगूरा बनने के लिए चारों ओर होड़ा-होड़ी मची है, नींव की ईंट बनने की कामना लुप्त हो रही है!

सात लाख गाँवों का नव-निर्माण! हज़ारों शहरों और कारखानों का नव-निर्माण! कोई शासक इसे संभव नहीं कर सकता। ज़रूरत है ऐसे नौजवानों की, जो इस काम में अपने को चुपचाप खपा दें।

जो एक नई प्रेरणा से अनुप्राणित हों, एक नई चेतना से अभिभूत, जो शाबा-

शियों से दूर हों, दलबंदियों से अलग।

जिनमें कंगूरा बनने की कामना न हो, कलश कहलाने की जिनमें वासना न हो। सभी कामनाओं से दूर—सभी वासनाओं से दूर।

उदय के लिए आतुर हमारा समाज चिल्ला रहा है—हमारी नींव की ईंटें किधर हैं?

देश के नौजवानों को यह चुनौती है!

—रामवृक्ष बेनीपुरी

प्रश्न-अभ्यास

१. इस निबंध की प्रेरणा लेखक को कैसी मिली? निम्नांकित में से जो जो उत्तर सही हैं, उन्हें चुनिए—
   (क) भव्य भवनों की नींव और कंगूरे की ईंटों को देखकर।
   (ख) स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ऊँचे पदों के लिए प्रतिस्पर्धा देखकर।
   (ग) राष्ट्र के नव-निर्माण की चुनौतियों का अनुभव कर।
   (घ) स्वतंत्रता-संग्राम के मौन सेनानियों के त्याग को देखकर।
   (ङ) समाज के निम्न वर्ग और उच्च वर्ग की विषमता को देखकर।
२. "ठोस 'सत्य' सदा 'शिवम्' होता ही है, किन्तु वह हमेशा ही 'सुंदरम्' भी हो, यह आवश्यक नहीं।" कुछ उदाहरण देकर, व्याख्या करते हुए बताइए 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' के प्रति लेखक की क्या धारणा है?
३. समाज के कुछ व्यक्ति क्या सोचकर प्रसिद्धि के पीछे नहीं दौड़ते, बल्कि चुपचाप अपना सर्वस्व न्योछावर कर देते हैं?
४. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी बहुत से व्यक्तियों के मौन बलिदान की आवश्यकता क्यों बनी हुई है?

५. इस पाठ में लेखक ने नौजवानों को क्या चुनौती दी है ? इस चुनौती की आपके ऊपर क्या प्रतिक्रिया होती है ?

६. "देश का शायद ही कोई ऐसा कोना हो, जहाँ कुछ ऐसे दधीचि नहीं हुए हों, जिनकी हड्डियों के दान ने ही विदेशी वृत्रासुर का नाश किया।" व्याख्या कीजिए और बताइए कि इस वाक्य में उल्लिखित दधीचि और वृत्रासुर से लेखक का संकेत किनकी ओर है ?

७. "सुंदर सृष्टि हमेशा बलिदान खोजती है, बलिदान ईंट की हो या व्यक्ति की।" कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

८. इस पाठ के शीर्षक की उपयुक्तता बताते हुए इसमें निहित प्रतीक को भी स्पष्ट कीजिए।

९. इस पाठ के अनुच्छेदों की क्या विशेषता है ? ये अन्य निबंधों के अनुच्छेदों से किस प्रकार भिन्न हैं और क्यों ?

१०. इस पाठ की भाषा-शैली निम्नांकित युक्तियों से विशेष रोचक और प्रभावशाली हो गई, प्रत्येक के समर्थन में दो-दो उदाहरण दीजिए :

(क) उपयुक्त शब्दावली के कारण
(ख) वाक्यों के शब्दक्रम में विपर्यय के कारण
(ग) विशेषणों के सटीक प्रयोग के कारण
(घ) छोटे एवं पैने वाक्यों के कारण
(ङ) उचित विराम चिह्नों के प्रयोग के कारण

काका कालेलकर

काका साहब कालेलकर का जन्म दिसंबर १८८५ ई० में महाराष्ट्र राज्य के सतारा नगर में हुआ था। आपका मराठी, गुजराती, हिन्दी, बंगला, अँगरेजी आदि कई भाषाओं पर अच्छा अधिकार है। यों आपने भारत की अनेक भाषाओं का अध्ययन किया है, किन्तु लेखन मुख्यतया आपने हिन्दी और गुजराती में ही किया है।

जब आप शांतिनिकेतन में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ कार्य कर रहे थे तो गांधीजी ने आपको बुलाया और गुजरात विद्यापीठ का आपको उपकुलपति बनाया। बाद में आपने उक्त कार्य को छोड़कर राष्ट्र-भाषा के प्रचार का कार्य हाथ में लिया, परंतु जब विद्यापीठ का काम ठीक से नहीं चला तो गांधी जी ने आपको पुनः बुला लिया। आठ वर्ष तक आपने यहां बड़ी निष्ठापूर्वक कार्य किया और विद्यापीठ को चमका दिया। इस बीच आपने गुजराती की अनिश्चित वर्तनी को मानक रूप प्रदान किया। गांधी जी का आप पर अटूट विश्वास था जो अंत तक बना रहा।

इसके बाद आप हिन्दी के क्षेत्र में आए और टंडनजी के साथ इलाहाबादमें रहकर कार्य किया। आप उच्चकोटि के विचारक और विद्वान हैं। आपकी मौलिक रचनाओं से हिन्दी-साहित्य निश्चित रूप से समृद्ध हुआ है। सरल प्रवाहपूर्ण एवं प्रभावशाली भाषा में विचारपूर्ण निबंध और विषयों की तर्कपूर्ण व्याख्या आपकी लेखनशैली की विशेषता है। आपकी लेखन-शैली में एक विशिष्ट रोचकता है जिसके प्रति पाठक सहसा आकर्षित हो जाता है। आपकी दृष्टि अत्यंत सूक्ष्म है, इसलिए आपकी लेखनी से प्रायः नए-नए चित्र बन पड़े है जो मौलिक होने के साथ-साथ नवीन दृष्टिकोण भी प्रदान करते हैं। आपने हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए जो प्रयास किया है वह स्तुत्य है।

आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं—स्मरण यात्रा, धर्मोदय (दोनों आत्मचरित) हिमालय प्रवास, लोकमाता, सूर्योदय का देश, उस पार के पड़ोसी (यात्रा), जीवन-लीला, बापू की झाँकियाँ, उत्तर की दीवारें, जीवन का काव्य, आदि। आपकी ३० से भी अधिक पुस्तकें हैं।

'दक्षिण गंगा गोदावरी' यात्रा-विवरण है जिसमें गोदावरी का माहात्म्य और उसके तटों का सौन्दर्य काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत है। इसमें काका साहब की शैलीगत सभी विशेषताएँ वर्तमान हैं। वास्तव में इस रचना को बार-बार पढ़कर ही इसका सही-सही आस्वादन किया जा सकता है।

दक्षिण गंगा गोदावरी

कृष्णा और गोदावरी इन दो नदियों ने दो विक्रमशाली महाप्रजाओं का पोषण किया है। यदि हम कहें कि महाराष्ट्र का स्वराज्य और आंध्र का साम्राज्य इन्हीं दो नदियों के ऋणी हैं, तो इसमें ज़रा-सी भी अत्युक्ति नहीं होगी। साम्राज्य बने और टूटे, महाप्रजाएँ चढ़ीं और गिरीं, किन्तु इस ऐतिहासिक भूमि में दो नदियाँ अखंड बहती ही जा रही हैं। ये नदियाँ भूतकाल के गौरवशाली इतिहास की जितनी साक्षी हैं उतनी ही भविष्य की महान् आशाओं की प्रेरक भी हैं। इनमें भी गोदावरी का माहात्म्य कुछ अनोखा ही है। वह जितनी सलिल-समृद्ध है उतनी ही इतिहास-समृद्ध भी। गोपाल कृष्ण के जीवन में जिस तरह सर्वत्र विविधता ही विविधता भरी हुई है, एक-सा उत्कर्ष दिखाई देता है, उसी तरह गोदावरी के अति-दीर्घ प्रवाह के किनारे सृष्टि-सौन्दर्य की विविधता और विपुलता भरी पड़ी है।

सिन्धु और ब्रह्मपुत्र को जिस तरह हिमालय का आलिंगन करने की सूझी, नर्मदा और ताप्ती को जिस तरह विन्ध्य-सतपुड़ा को पिघलाने की सूझी उसी तरह गोदावरी और कृष्णा को दक्षिण के उन्नत प्रदेश को तर करके उसे धनधान्य से समृद्ध करने की सूझी है। पक्षपात से सह्याद्रि पर्वत पश्चिम की ओर ढल पड़ा, यह मानो इन्हें पसंद नहीं आया। ऐसा ही जान पड़ता है कि उसे पूर्व की ओर खींचने का अखंड प्रयत्न ये दोनों नदियाँ कर रही हैं। इन दोनों नदियों का उद्गम स्थान पश्चिमी समुद्र से सौ-सवा सौ किलोमीटर से अधिक दूर नहीं है, फिर भी दोनों हज़ार-बारह सौ किलो मीटर की यात्रा करके अपना जलभार या कर-भार पूर्व समुद्र को ही अर्पण करती हैं। और, इस कर-भार का विस्तार मामूली नहीं है। उसके अंदर सारा महाराष्ट्र

आ जाता है, मैसूर का भी अंतर्भाव होता है, और आंध्र तो सारा का सारा उसी में समा जाता है। मिस्र देश की संस्कृति की माता नील नदी हमारी गोदावरी के सामने कोई चीज़ ही नहीं है।

त्र्यंबक के पास पहाड़ की एक बड़ी दीवार में से गोदा का उद्गम हुआ है। त्र्यंबक गाँव से जो चढ़ाई शुरू होती है, वह गोदामैया की मूर्ति के चरणों तक चलती ही रहती है। इससे भी ऊपर जाने के लिए बाईं ओर पहाड़ में विकट सीढ़ियाँ बनाई गई हैं। इस रास्ते मनुष्य ब्रह्मगिरि तक पहुँच सकता है। किन्तु वह दुनिया ही अलग है। गोदावरी के उद्गम-स्थान से जो दृश्य दीख पड़ता है, वही हमारे वातावरण के लिए विशेष अनुकूल है। महाराष्ट्र के तपस्वियों और राजाओं ने समान भाव से इस स्थान पर अपनी भक्ति उँड़ेल दी है। कृष्णा के किनारे बाई सतारा और गोदा के किनारे नासिक पैठण महाराष्ट्र की सच्ची सांस्कृतिक राजधानियाँ हैं।

गोदावरी का इतिहास तो सहन-वीर रामचंद्र और दुःखमूर्ति सीता माता के वृत्तांत से ही शुरू होता है। श्री रामचंद्र जी के अत्यंत सुख के दिन इस गोदावरी के तट पर ही बीते थे और जीवन का दारुण आघात भी उन्हें यहीं सहना पड़ा था। राज-पाट छोड़ते समय राम को दुख नहीं हुआ, किन्तु गोदावरी के किनारे सीता और लक्ष्मण के साथ मनाए हुए आनंद का अंत होते ही राम का हृदय एकदम शतधा विदीर्ण हो गया। बाघ-भेड़ियों के अभाव में निर्भय बने हुए हरिण आर्य रामचंद्र की दुखोन्मत्त आँखें देखकर दूर भाग गए होंगे। सीता की खोज में निकले देवर लक्ष्मण की दहाड़ें सुनकर बड़े-बड़े हाथी भी भय-कंपित हो गए होंगे। और पशु-पक्षियों के दुखाश्रुओं से गोदावरी का विमल जल भी कषाय हो गया होगा।

राम-सीता का संयोग तो फिर हुआ। किन्तु उनका जनस्थान का वियोग तो हमेशा के लिए बना रहा। आज भी आप नासिक-पंचवटी में घूमकर देखें, चाहे चौमासे में जाएँ या गरमी में, आपको यही मालूम होगा, मानो सारी पंचवटी जटायु की तरह उदास होकर 'सीता-सीता' पुकार रही है। महाराष्ट्र के साधु-संतों ने यदि अपनी मंगल-वाणी

फैलाई न होती, तो जनस्थान मानो भयानक उजाड़ प्रदेश हो गया होता। गरमी की धूप को टालने के लिए जिस तरह तृणसृष्टि चारों ओर फैल जाती है, उसी तरह जीवन की विषमता को भुला देने के लिए साधु-संत सर्वत्र विचरते हैं, यह कितने बड़े सौभाग्य की बात है। जब-जब नासिक-त्र्यंबक की ओर जाना होता है, तब-तब वनवास के लिए इस स्थान को पसंद करनेवाले राम-लक्ष्मण की आँखों से सारा प्रदेश निहारने का मन होता है। किन्तु हर बार काँपते तृणों से सीता-माता की कातर तनु-यष्टि ही आँखों के सामने आती है।

गोदावरी की संपूर्ण कला भद्राचलम से ही देखी जा सकती है। जिसका पाट डेढ़-दो किलोमीटर तक चौड़ा है ऐसी गोदावरी जब ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों के बीच में से होकर अपना रास्ता बनाती हुई सिर्फ़ दो गज़ की खाई में से निकलती है तब वह क्या सोचती होगी? अपनी सारी शक्ति और युक्ति काम में लाकर नाज़ुक समय में अपनी महाप्रजा को आगे ले चलनेवाले किसी राष्ट्र-पुरुष की तरह और संसार को विस्मय में डालने वाली गर्जना के साथ वह यहाँ से निकलती है। नदी में आनेवाले घोड़ापूर और हाथी-पूर जैसी भारी पूरों की बातें हम सुनते हैं, किन्तु एकदम पंद्रह मीटर जितना ऊँचा पूर क्या कभी कल्पना में भी आ सकता है? पर जो कल्पना में संभव नहीं है, वह गोदावरी के प्रवाह में संभव है। सँकरी खाई में से निकलते हुए पानी के लिए अपना पृष्ठ भाग भी सपाट बनाए रखना असंभव-सा हो जाता है। अर्घ्य देते समय जिस प्रकार अंजलि की छोटी नाली-सी बन जाती है, उसी प्रकार खाई में से निकलने-वाले पानी के पृष्ठ भाग की भी एक भयानक नाली बनती है। किन्तु अद्भुत रस तो इससे भी आगे अधिक है। इस नाली में से अपनी नाव को ले जानेवाले साहसी नाविक भी वहाँ मौजूद हैं। नाव के दोनों ओर पानी की ऊँची-ऊँची दीवारों को नाव के ही वेग से दौड़ते हुए देखकर मनुष्य के दिल में क्या-क्या विचार उठते होंगे!

भद्राचलम से राजमहेन्द्री या धवलेश्वर तक अखंड गोदावरी बहती है। उसके

बाद 'त्यागाय संभृतार्थानाम्' का सनातन सिद्धांत उसे याद आया होगा। यहाँ से गोदावरी ने जीवन-वितरण करना शुरू कर दिया है। एक ओर गौतमी गोदावरी, दूसरी ओर वसिष्ठ गोदावरी, बीच में कई द्वीप और अंतर्वेदी जैसे प्रदेश हैं। इन प्रदेशों में गोदा के सरस जल से और काली चिकनी मिट्टी से पैदा होनेवाले सोने के जैसे शालि-धान्य पर परिपुष्ट होकर वेद घोष करनेवाले ब्राह्मण रहते आए हैं। ऐसे समृद्ध देश को स्वतंत्र रखने की शक्ति जब हमारे लोग खो बैठे, तब डच अँगरेज़ और फ्रेंच लोग भी गोदावरी के किनारे पड़ाव डालने को इकट्ठे हुए।

मद्रास से राजमहेन्द्री जाते समय बेजवाड़े में सूर्योदय हुआ। वर्षा ऋतु के दिन थे। फिर पूछना ही क्या था! सर्वत्र विविध छटाओं वाला हरा रंग फैला हुआ था। और, हरे रंग का इस तरह ज़मीन पर पड़ा रहना मानो असह्य लगने से उसके बड़े-बड़े गुच्छ हाथ में लेकर ऊपर उछालनेवाले ताड़ के पेड़ जहाँ-तहाँ दीख पड़ते थे। पूर्व की ओर एक नहर रेल की सड़क के किनारे-किनारे बह रही थी। पर किनारा ऊँचा होने के कारण उसका पानी कभी-कभी ही दीख पड़ता था। सिर्फ़ तितलियों की तरह अपने पाल फैलाकर कतार में खड़ी हुई नौकाओं पर से ही उस नहर का अस्तित्व ध्यान में आता था। बीच-बीच में पानी के छोटे-बड़े तालाब मिलते थे। इन तालाबों में विविध-रंगी बादलों वाला अंनत आकाश नहाने के लिए उतरता था, इसलिए पानी की गह-राई अंनत गुनी गहरी मालूम होती थी। कहीं-कहीं चंचल कमलों के बीच निस्तब्ध बगुलों को देखकर प्रभात की वायु का अभिनंदन करने का दिल हो जाता था। ऐसे काव्य-प्रवाह में से होकर हम कोव्वूर स्टेशन तक आ पहुँचे। अब गोदावरी मैया के दर्शन होंगे, ऐसी उत्सुकता यहीं से पैदा हुई। पुल पर से गुजरते समय दाईं ओर देखें या बाईं ओर, इसी उधेड़बुन में हम पड़े थे। इतने में पुल आ ही गया और भगवती गोदावरी का सुविशाल विस्तार दिखाई पड़ा।

गंगा, सिन्धु, शोणभद्र, ऐरावती जैसे विशाल वारि-प्रवाह मैंने जी भरकर देखे हैं। बेजवाड़े में किए हुए कृष्णामाता के दर्शन के लिए मैंने हमेशा गर्व अनुभव किया

है। किन्तु राजमहेन्द्री के पास की गोदावरी की शोभा कुछ अनोखी ही थी। इस स्थान पर मैंने जितना भव्य काव्य का अनुभव किया है, उतना शायद ही कहीं किया होगा। पश्चिम की ओर नज़र डाली तो दूर-दूर तक पहाड़ियों का एक सुंदर झुंड बैठा हुआ नज़र आया। आकाश में बादल घिरे होने से कहीं भी धूप नहीं थी। साँवले बादलों के कारण गोदावरी के धूलि-धूसर जल की कालिमा और भी बढ़ गई थी। ऊपर की ओर नीचे की इस कालिमा के कारण सारे दृश्य पर वैदिक प्रभात की सौम्य सुंदरता छाई हुई थी और पहाड़ियों पर उतरे हुए कई सफ़ेद बादल तो बिल्कुल ऋषियों के जैसे मालूम होते थे। इस सारे दृश्य का वर्णन शब्दों में कैसे किया जा सकता है!

इतना सारा पानी कहाँ से आता होगा? विपत्तियों में से विजय के साथ पार हुआ देश जैसे वैभव की नई-नई छटाएँ दिखाता जाता है और चारों ओर समृद्धि फैलाता जाता है, वैसे ही गोदावरी का प्रवाह पहाड़ों से निकलकर अपने गौरव के साथ आता हुआ दिखाई देता था। छोटे-बड़े जहाज़ नदी के बच्चों जैसे थे। माता के स्वभाव से परिचित होने के कारण उसकी गोद में चाहे जैसे नाचें तो उन्हें कौन रोकनेवाला था? किन्तु बच्चों की उपमा तो इन नावों की अपेक्षा प्रवाह में जहाँ-तहाँ पैदा होनेवाले भँवरों को देनी चाहिए। वे कुछ देर दिखाई देते, बड़े तूफ़ान का स्वांग रचते, एकाध क्षण में हँस देते, और फिर टूट पड़ते। चाहे जहाँ से आते और चाहे जहाँ चले जाते या लुप्त हो जाते।

नदी का किनारा यानी मानवी कृतज्ञता का अखंड उत्सव। सफ़ेद-सफ़ेद प्रासाद और ऊँचे-ऊँचे शिखर तो एक अखंड उपासना हैं ही। किन्तु इतने से ही काव्य संपूर्ण नहीं होता। अतः भक्त लोग हर रोज़ नदी की लहरों पर से मंदिर के घंटनाद की लहरों को इस पार से उस पार तक भेजते रहते हैं।

संस्कृति के उपासक भारतवासी इसी स्थान पर गंगा-जल के कलश आधे गोदा में उड़लते हैं और फिर गोदा के पानी से उन्हें भरकर ले जाते हैं। कितनी भव्य

विधि है ! कितना पवित्र भावप्रधान काव्य है ! यह भक्तिरव प्रत्येक हृदय में भरा हुआ है। वह घंटनाद और वह भक्तिरव पूर्व स्मृति ने ही सुनाया। दरअसल तो केवल इंजन की आवाज़ ही सुनाई देती थी। आधुनिक संस्कृति के इस प्रतिनिधि के प्रति अपनी घृणा को यदि हम छोड़ दें तो रेल के पहियों का ताल कुछ कम आकर्षक मालूम नहीं होता। और, पुल पर तो उसका विजयनाद संक्रामक ही सिद्ध होता है।

पुल पर गाड़ी काफ़ी देर चलने के बाद मुझे ख्याल आया कि पूर्व दिशा की ओर तो देखना रह ही गया। हम उस ओर मुड़े। वहाँ बिलकुल नई ही शोभा नज़र आई। पश्चिम की ओर गोदावरी जितनी चौड़ी थी, उससे विशेष चौड़ी पूर्व की ओर थी। उसे अनेक मार्गों द्वारा सागर में मिलना था। सरित्पति से जब सरिता मिलने जाती है तो उसे संभ्रम तो होता ही है। किन्तु गोदावरी तो धीरोदात्त माता है। उसका संभ्रम भी उदास रूप में ही व्यक्त हो सकता है। उस ओर के द्वीप अलग ही किस्म के थे। उनमें वनश्री की शोभा पूरी-पूरी खिली हुई थी। बहते पानी के सामने टक्कर लेनेवाले इन द्वीपों में किसी ने ऊँचे प्रासाद बनाए होते तो शायद वे दूर से ही दीख पड़ते। प्रकृति ने तो केवल ऊँचे-ऊँचे पेड़ों की विजय-पताकाएँ खड़ी कर रखी थीं। और, बाईं ओर राजमहेन्द्री और धवलेश्वर की सुखी बस्ती आनंद मना रही थी। ऐसे विरल दृश्य से तृप्त होने के पहले ही नदी के दाएँ किनारे पर उन्मत्तता के साथ बहते हुए कास की सफ़ेद कलगियों का स्थावर प्रवाह दूर-दूर तक चलता हुआ नज़र आया। नदी के पानी में उन्माद था, किन्तु उसकी लहरें नहीं बनी थीं। कलगियों के इस प्रवाह ने पवन के साथ षड्यंत्र रचा था, इसलिए वह मनमानी लहरें उछाल सकता था। जहाँ तक नज़र जा सकती थी, वहाँ तक देखा। और नज़र की पहुँच यहाँ कम क्यों हो ? किन्तु कलगियों का प्रवाह तो बहता ही जा रहा था। गोदावरी के विशाल प्रवाह के साथ भी होड़ करते उसे संकोच नहीं होता था। और वह संकोच क्यों करता ? माता गोदावरी के विशाल पुलिन पर उसने माता का स्तन्यपान क्या कम किया था ?

माता गोदावरी, राम-लक्ष्मण-सीता से लेकर वृद्ध जटायु तक सबको तूने स्तन्यपान कराया है। तेरे किनारे शूरवीर भी पैदा हुए हैं, और तत्त्वचिन्तक भी। संत भी पैदा हुए हैं और राजनीतिज्ञ भी। देशभक्त भी पैदा हुए हैं और ईशभक्त भी। सभी की तू माता है। मेरे पूर्वजों की अधिष्ठात्री है। नई-नई आशाएँ लेकर मै तेरे दर्शन के लिए आया हूँ। दर्शन से तो कृतार्थ हो गया हूँ। किन्तु मेरी आशाएँ तृप्त नहीं हुई हैं। जिस प्रकार तेरे किनारे रामचंद्र ने दुष्ट रावण के नाश का संकल्प किया था, वैसा ही संकल्प मैं कब से अपने मन में लिए हूँ। तेरी कृपा होगी तो हृदय में से तथा देश में से रावण का राज्य मिट जाएगा, रामराज्य की स्थापना होते मैं देखूंगा और फिर तेरे दर्शन के लिए आऊँगा। और कुछ नहीं तो कास की कलगी के स्थावर प्रवाह की तरह मुझे उन्मत्त बना दे, जिससे बिना संकोच के एक-ध्यान होकर मैं माता की सेवा में रत रह सकूँ और बाकी सब कुछ भूल जाऊँ। तेरे नीर में अमोघ शक्ति है। तेरे नीर के एक बिन्दु का सेवन भी व्यर्थ नहीं जाएगा।

—काकासाहब कालेलकर

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक ने गोदावरी को दक्षिण की गंगा क्यों कहा है?
२. "ये नदियाँ भूतकाल के गौरवशाली इतिहास की जितनी साक्षी हैं उतनी ही भविष्यकाल की प्रेरक भी हैं।" इन दोनों रूपों में गोदावरी का वर्णन कीजिए।
३. लेखक ने गोदावरी के उद्गम और विस्तार के संबंध में क्या-क्या कल्पनाएँ की हैं?
४. गोदावरी के प्रवाह के किनारे के सृष्टि-सौन्दर्य की विविधता और विपुलता का वर्णन कीजिए।
५. इस निबंध में लेखक ने राम और सीता का वर्णन किस उद्देश्य से किया है और उनके बारे में क्या-क्या बातें कही हैं?

६. "पर जो कल्पना में संभव नहीं है, वह गोदावरी के प्रवाह में संभव है।" क्या और कैसे ?

७. नदी के किनारे को लेखक ने मानवी कृतज्ञता का अखंड उत्सव क्यों कहा है ? अपने आस-पास की नदी का उदाहरण देते हुए सिद्ध कीजिए।

८. गोदावरी के प्रति लेखक द्वारा व्यक्त श्रद्धा को अपने शब्दों में लिखिए।

९. इस पाठ के किस अंश से पता चलता है कि यह पाठ स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व लिखा गया था।

१०. लेखक बहुश्रुत और बहु-पठित है। इस पाठ के वर्णनों के आधार पर प्रमाणित कीजिए।

११. निम्नांकित वाक्यों का आशय लिखिए और इनमें निहित सौन्दर्य को भी स्पष्ट कीजिए—

(क) गोपालकृष्ण के जीवन..........विपुलता भरी पड़ी है।

(ख) अपनी सारी शक्ति..............यहाँ से निकलती है।

(ग) ऊपर की ओर नीचे को..... ......जैसे मालूम होते थे।

(घ) विपत्तियों में से बिजय........ ....दिखाई देता था।

(ङ) ऐसे विरस दृश्य से...................लहरें उछाल सकता था।

(च) जिस प्रकार तेरे किनारे...............दर्शन से लिए आऊँगा।

टिप्पणियाँ

१. मेरी जीवन गाथा

आत्मज :	पुत्र
जी० आई० पी० :	ग्रेट इंडियन पेनिनसुलर रेलवे। यह रेल-सेवा दिल्ली से शुरू होकर पश्चिम में बंबई तक जाती थी।
स्थायीपथ निरीक्षक :	रेलवे लाइन का निरीक्षण करनेवाले अधिकारी जो ट्राली में बैठकर आते-जाते हैं और रेलवे लाइन ठीक है या नहीं इसकी जाँच करते हैं।
गौरांग प्रभु :	अँगरेज़ अधिकारी (व्यंग्य)
विषण्ण :	दुखी, शोकमग्न
सरस्वती :	हिन्दी भाषा एवं साहित्य की एक उत्कृष्ट मासिक पत्रिका जिसका प्रकाशन जनवरी १९०० से प्रारंभ हुआ था। १९०३ से १९२० ई० तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी इसके संपादक रहे।
ब्रजवासी दास :	ब्रजभाषा के विशाल प्रबंध काव्य 'ब्रजविलास' के रचयिता।
ब्रजविलास :	ब्रजवासी दास का प्रौढ़ प्रबंधकाव्य जिसकी रचना १७७० ई० में हुई थी। यह 'श्री रामचरित मानस' के अनुकरण पर लिखा गया प्रतीत होता है जिसमें कृष्णचरित प्रबंधात्मक शैली के चौपाई, दोहे, सोरठे आदि छंदों में है।
कवि-वचन सुधा :	भारतेन्दु हरिश्चंद्र द्वारा १८६७ ई० में प्रकाशित पत्रिका।
प्रकृत कवि :	जन्मजात कवि, जो अभ्यास या प्रयास से कवि नहीं बनते।
छंदोबद्ध प्रलाप :	तुकबंदी, वह रचना जिसमें छंदों की बंदिश का तो ध्यान रखा जाए किन्तु जो विषय और भाव की दृष्टि से काव्यशून्य हो।

स्वत्वाधिकारी। वह व्यक्ति जिसके पास किसी रचना को प्रकाशित करने की अनुमति देने का अधिकार हो।
अंगीकृत : स्वीकारा हुआ, अंगीकार किया हुआ।
इजाफ़ : वृद्धि, विकास, विस्तार।
विक्टोरिया : एक प्रकार की घोड़ों से खिचनेवाली बड़ी बग्घी जिसपर धनी रईस बैठकर हवा खाने के लिए निकलते थे।
दशाश्वमेघ घाट : वाराणसी में गंगा के किनारे बना सुंदर घाट।
कराल : भयंकर रूप।
वचन-विन्यास : शब्दों की शृंखला, एक से एक बढ़कर बातें।
१९. कशाघात : चाबुक या कोड़ा मारना।
पंक-पयोधि : अथाह गंदगी, कीचड़ का समुद्र।
कारणीभूत : कारण बनी हुई।
मरसिया : शोकगीत।
पैरगाड़ी : साइकिल।

२. मचान पर

पाढर : एक पेड़ जिसके पत्ते बेल के पत्तों के समान होते हैं और जिसमें लाल या सफेद फूल लगते हैं।
अजस्र : अविच्छिन्न, अनवरत, बिना किसी प्रकार की रुकावट के।
वीथी : पंक्ति, कतार; रास्ता; बाज़ार।
मृगयूथ : हरिणों का झुंड।
अनाक्रमण-संधि : दो या अधिक देशों के बीच एक दूसरे पर आक्रमण न करने का समझौता।
काकड़ : एक प्रकार का छोटा हरिण जो बाघ के आने की सूचना देकर जंगली जानवरों को सावधान करता है।
स्वेच्छाचार : मनमाना आचरण, जो मन में आए वह करना, मनमानी करना, निरंकुशता।

स्निग्ध : मृदुल, प्रिय, दयालु।

भाभड़ : एक जंगली घास जिसकी रस्सी बटी जाती है।

देवमिथुन : देवों की जोड़ी, देव-दंपति।

३. बूढ़ी काकी

कालांतर : काफ़ी समय बाद, दूसरा समय।

आर्तनाद : दुखिया की पुकार, दर्दभरी ऊँची आवाज़।

विद्वेष : शत्रुता, वैर; घृणा।

भाट : एक जाति विशेष जिसके सदस्य अपने जजमानों की शादी-ब्याह आदि के विशेष अवसरों पर तुकबंदी द्वारा बढ़ा-चढ़ाकर बड़ाई करते थे। राजाओं आदि के यश, वंश आदि का चरित गान करनेवाला।

विरदावली : बढ़ाचढ़ाकर किया गया गुणगान, यशोगाथा।

जेवनार : भोज, दावत।

जेवनार-गीत : शादी-ब्याह में भोजन के समय गाए जानेवाले लोकगीत।

४. स्मृति

चिल्ला जाड़ा : कड़ी सरदी, पौष-माघ के बीच के २५ दिनों का जाड़ा।

झरबेरी : छोटे-छोटे जंगली बेर जो खाने में खटमिट्ठे लगते हैं।

मज्जा : हड्डी की नली के भीतर भरा पदार्थ।

नारायण-वाहन : विष्णु की सवारी, गरुड़।

ढाढ़ें मार कर रोना : बहुत ज़ोर-ज़ोर से रोना।

उद्वेग : बेचैनी।

डेंग : लकड़ी का मोटा पटरा जो कुएँ के ऊपर बीचों-बीच रखा रहता है और जिसपर पैर टिकाकर चरस से पानी निकालने में सुविधा रहती है।

चरस : चमड़े का थैला जिससे खेत सींचने के लिए बैलों की सहायता से कुएँ से पानी निकाला जाता है।

पुर : चमड़े का थैला जिससे खेत सींचने के लिए बैलों की सहायता से कुएं से पानी निकाला जाता है।

चक्षुःश्रवा : साँप, (शाब्दिक अर्थ, आँखों से सुननेवाला।) लोगों में यह गलत धारणा फैली हुई है कि साँप आँखों से सुनता है।

आकाश-कुसुम : आकाश में फूल उगाने जैसा असंभव कार्य।

तोप का मुहरा : तोप का अगला हिस्सा।

गुंजल्क : गोलाई में सिमटी, पूँछ तथा धड़ की गोल जत्थी।

५. सोना

चंपकवर्णी रूपसी : चंपा के फूल के रंग की सुंदरी।

महार्घ : महँगा।

उद्भट : श्रेष्ठ, असाधारण।

मरकत : पन्ना, हरे रंग का एक बहुमूल्य रत्न।

उद्वेलन : उफान, उपटकर बहना।

ऊर्जा : बल, शक्ति।

मुरज : पुराने जमाने से चला आ रहा तुरही जैसा एक बाजा।

वृंदवादन : आरकेस्ट्रा, कई प्रकार के बाजों का सम्मिलित वादन।

चित्रलिपि : वह लिपि जिस से अक्षरों की जगह सांकेतिक चित्र काम में लाए जाएँ, चित्र की भाँति सुंदर और स्पष्ट लिपि।

रोमंथन : जुगाली या पागुर करना।

कौतुकप्रियता : खेल-तमाशा या हँसी-मजाक पसंद होना।

मुमूर्षु : जो मर रहा हो, आसन्नमृत्यु वाला; मरण का इच्छुक।

अनुष्ठान : धार्मिक कार्य, फल-विशेष के लिए किसी देवता का आराधन।

कर्म-संकुलता : कामों से घिरा होना, कामों की अधिकता एवं जटिलता।

कुमकुम : केसर।

पीताभ : पीली छाया, पीली चमक।

ताम्रवर्णी : तांबे के रंग की।

संज्ञाहीन : बोधहीन, अचेत।

नित्य-नैमित्तिक : स्थायी रूप से प्रयोजन विशेष से किया जानेवाला।
प्रत्यावर्तन : लौट आना, वापस आना।
जन-संकुलता : लोगों से भरा होना, भीड़ भरा।

६. बहता पानी निर्मला

आंकुवार : वर्तमान नाम ट्रावनकोर है जो केरल राज्य में समुद्र के किनारे बसा है।

बगदादी : बगदाद का, बगदाद इराक की राजधानी है।

अहोम राजा : अहोम जाति के राजा, अहोम ताई जाति की एक शाखा थी जो असम में १३ वीं सदी में बसी और जिसने शीघ्र ही ब्रह्मपुत्र की निचली तराई पर कुछ समय के लिए अधिकार कर लिया। अहोम राजाओं के शासन में राजकर वैयक्तिक शारीरिक सेवा के रूप में लिया जाता था।

स्वर्गनसैनी : स्वर्ग को जानेवाली सीढ़ी, स्वर्ग-सोपान, यहाँ भयप्रद एवं मृत्यु सूचक।

७. गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रोम्याँ रोलाँ : (१८६६-१९४४) प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक, नोबेल पुरस्कार विजेता, विश्वशांति के समर्थक, विवेकानंद, महात्मा गांधी और टैगोर के भक्त।

ब्रह्मसमाज : राजा राममोहन राय द्वारा १८२८ में संस्थापित—जिसके मुख्य सिद्धांत थे—ईश्वर एक है और निराकार है, अतः उसकी उपासना के लिए किसी मूर्ति की आवश्यकता नहीं। जो लोग ईश्वर में विश्वास रखते हैं वे जाति, धर्म आदि के भेद-भाव के बिना ब्रह्म समाज में सम्मिलित हो सकते हैं।

उपनयन संस्कार : यज्ञोपवीत संस्कार।
शोध-शुद्धि : खोज, अनुसंधान।
शेक्सपियर : विलियम शेक्सपियर (१५६४-१६१६) अंगरेजी साहित्य के महान कवि एवं नाटककार।

शैली : पर्सी बिशी शैली (१७९२-१८२२) अँगरेजी साहित्य के स्वच्छंदतावादी युग के महान कवि

शस्य-श्यामल : गहरी हरियाली से आच्छादित, हरा-भरा।

तादात्म्य : एकाकार होना।

राजकर्ताओं : (यहाँ अँगरेज)

वृत्ति : वरण, चुनाव; विचार, धारणा।

उपनिषद् : प्राचीन भारत की प्रसिद्ध आध्यात्मिक पुस्तकें जिनकी संख्या १०८ तक मानी जाती है। इनमें बहुत-सी गंभीर धार्मिक, दार्शनिक और आध्यात्मिक समस्याओं पर विचार किया गया है।

नियति : अदृष्ट, भाग्य, भवितव्यता

नोबल पुरस्कार : एलफ्रेड बर्नार्ड नोबेल (१८३३-१८९६) के इच्छापत्र द्वारा स्थापित निधि जिसके ब्याज से प्रति वर्ष पाँच पुरस्कार—भौतिकी, रसायन, शरीर-क्रिया-विज्ञान अथवा चिकित्सा, साहित्य तथा शांति के क्षेत्रों में सर्वोत्तम कार्य करनेवालों को दिए जाते हैं। इनका देना संस्थापक की पाँचवीं पुण्यतिथि १० दिसंबर सन् १९०१ ई० से प्रारंभ हुआ। प्रत्येक पुरस्कार में सोने का पदक, उल्लेख सहित सनद तथा लगभग डेढ़ लाख रुपयों की धनराशि रहती है। यह पुरस्कार अब तक केवल दो भारतीयों को—रवीन्द्रनाथ ठाकुर को एवं चंद्रशेखर वेंकट रामन को प्राप्त हुआ है।

कीर्ति-कौमुदी : यश का चरमोत्कर्ष।

नाइट : बहुत विशिष्ट कार्य के लिए अँगरेज सरकार की ओर से दी जानेवाली सम्मान सूचक उपाधि।

बंग-भंग : सन् १९०५ ई० में लार्ड कर्जन ने बंगाल का विभाजन कर उस के दो प्रांत बना दिए। इसका उद्देश्य बंगालियों की राष्ट्रीय भावनाओं को कुचलना था। बंगाल में उस समय राष्ट्रीय आंदोलन भारत के अन्य भागों की अपेक्षा बहुत अधिक तीव्र था। इस विभाजन के अनुसार एक प्रांत में पूर्वी बंगाल तथा असम और दूसरे प्रांत में

पश्चिमी बंगाल तथा बिहार रखे गए। जनता द्वारा बंग-भंग के विरोध में तीव्र आंदोलन हुआ।

जालियाँवाला हत्याकांड : १९१९ ई० में ब्रिटिश सरकार ने रोलेक्ट कानून बनाया जिनके अनुसार उसे असाधारण दमनकारी शक्तियाँ मिल गईं। वह बिना किसी अदालती कार्रवाई के किसी भी व्यक्ति को किसी भी प्रकार की सजा दे सकती थी। इसके विरोध में सारा भारत उठ खड़ा हुआ और उसे दबाने के लिये ब्रिटिश सरकार ने दमनकारी चक्र चलाया जिसका सबसे काला धब्बा अमृतसर के जालियाँ वाले बाग का हत्याकांड था। वह बिलकुल घिरी जगह थी जहाँ लाखों की संख्या में जनता मनाही के बावजूद सभा में एकत्र हुई। उस निहत्थी भीड़ पर जनरल डायर के सैनिकों ने १६०० गोलियाँ चलाईं। सरकारी बयान के अनुसार ३७९ व्यक्ति मारे गए और १२०० घायल हुए। हताहतों की वास्तविक संख्या इससे काफी बड़ी थी।

'सर' की उपाधि : विशिष्ट विद्वानों, वैज्ञानिकों, साहित्यकारों आदि को अँगरेजी सरकार द्वारा दी जानेवाली सम्मानसूचक उपाधि।

तत्त्वज्ञानी : जिसे ईश्वर, आत्मा और जगत के संबंध में यथार्थ ज्ञान हो।

वैष्णव-साहित्य : सूर, तुलसी आदि वैष्णव कवियों के द्वारा रचित साहित्य।

प्रशिष्य : शिष्य का शिष्य।

व्यास : एक मुनि, कृष्ण द्वैपायन, जिन्होंने वेदों का वर्तमान रूपों संकलन किया और महाभारत, वेदांतसूत्र तथा पुराणों की रचना की।

वाल्मीकि : रामायण के प्रणेता एक मुनि। कहा जाता है कि वे पहले डाकू थे, किन्तु एक ऋषि के उपदेश से इनके जीवन की दिशा बदल गई। वे ध्यानावस्थित होकर बहुत दिनों तक एक ही स्थिति में रहे और वल्मीक (बांबी) से इनका शरीर ढँक गया जिससे इनका उक्त नाम पड़ा। एक दिन स्नान करने के लिए तमसा नदी के किनारे जाते समय एक क्रौंच पक्षी को व्याध द्वारा मारे जाने और क्रौंची को

व्याकुल देखकर इनके मुख से भावावेश में एक अनुष्टुप छंद—'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्" फूट पड़ा और फिर इसी छंद में इन्होंने समस्त रामायण की रचना की।

वशिष्ठ : एक ऋषि, ये वेद मंत्रों के रचयिता कहे जाते हैं। इनका नाम रामायण, महाभारत और पुराण ग्रन्थों में प्रायः आता है। ये सुदास के पुरोहित थे। विश्वामित्र से यज्ञ कराने पर सुदास से क्रुद्ध हुए और विश्वामित्र से भी वैर हुआ। पुराणों में वे ब्रह्मा के मानसपुत्र कहे गए हैं।

विश्वामित्र : एक प्रसिद्ध ऋषि, जो मूलतः क्षत्रिय थे। इनके पिता का नाम गाधि था और ये कान्यकुब्ज के नरेश थे। एक गाय—नंदिनी—के लिए वशिष्ठ से इनका युद्ध हुआ जिसमें ये पराजित हुए। ब्राह्मणत्व का इन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि ये उसे प्राप्त करने के लिए तपस्या करने लगे। अंत में उसमें इन्हें सफलता मिली और वशिष्ठ ने भी इन्हें ब्रह्मर्षि के रूप में स्वीकार कर लिया।

पाराशर : एक प्रसिद्ध ऋषि जो वशिष्ठ के पौत्र थे। कृष्ण द्वैपायन व्यास इन्हीं के पुत्र थे।

८. नींव की ईंट

'सत्यं' 'शिवम्' 'सुंदरम्' : इस छोटे से पद में मानव-जीवन के तीन प्रमुख उद्देश्य निहित हैं : जो कुछ हम करें वह सत्य पर आधारित हो, सब का कल्याण करने वाला हो और साथ ही रुचिकर हो।

अस्ति-नास्ति : होना और न होना, अस्तित्व-अनस्तित्व।

मुनहसिर : निर्भर, अवलंबित, आश्रित।

शहादत : बलिदान, खुदा की राह में शहीद होना, धर्म-युद्ध में लड़ते हुए मारा जाना।

सेहरा : फूलों या गोटे आदि की लड़ियाँ जो वर-कन्या के सिर पर शादी के समय बाँधी जाती हैं, और जो उनके मुँह पर लटकती रहती हैं।

दधीचि : एक वैदिक ऋषि जिनकी हड्डियों से बने वज्र से देवराज इंद्र ने वृत्रासुर का संहार किया था। ये अथर्व ऋषि के पुत्र थे।

वृत्रासुर : एक राक्षस जिसने संसार में काफ़ी उत्पात मचा रखा था तथा देवताओं को परेशान कर रखा था। ऋषि दधीचि की हड्डियों से बने वज्र से इंद्र ने इसका संहार किया था।

९. दक्षिण गंगा गोदावरी

महाप्रजा : महाराष्ट्र और आंध्रप्रदेश की महान जनता।

जनस्थान : नासिक का एक प्राचीन नाम, यह गोदावरी के तट पर स्थित एक तीर्थस्थान है जहाँ कुंभ मेला भी लगता है।

सह्याद्रि : महाराष्ट्र में स्थित एक पर्वतमाला, जो पश्चिमी घाट का उत्तरी हिस्सा है।

नील : मिस्र की नदी जिसे वे प्यार से ऐल बहर (समुद्री नदी) कहते हैं। यह संसार की सबसे (६,६५६ कि० मी०) लंबी नदी है। इसके तट पर संसार की प्राचीनतम सभ्यता का जन्म हुआ था।

त्र्यंबक : बारह ज्योतिर्लिंगों में से एक जो गोदावरी के उद्गम पर स्थित है। यहाँ संत ज्ञानेश्वर के बड़े भाई और गुरु निवृत्तिनाथ की समाधि है।

ब्रह्मगिरि : सह्याद्रि का एक शिखर जिससे गोदावरी निकली है।

सतारा : महाराष्ट्र का एक ज़िला और एक शहर जहाँ शिवाजी के वंशजों की राजधानी थी।

पैठण महाराष्ट्र : मराठवाड़ा का एक प्राचीन शहर जो गोदावरी के किनारे स्थित है। यह प्राचीन काल में चालुक्यों और राष्ट्रकूटों की राजधानी थी।

कषाय : कसैला, कड़वा।

पंचवटी : महाराष्ट्र में नासिक के निकट वह स्थान जहाँ वनवासी राम ने

	सीता और लक्ष्मण के साथ निवास किया था और जहाँ पर रावण ने सीता का अपहरण किया था।
चौमासा :	वर्षा ऋतु के चार मास।
भद्राचलम :	श्रीराम से संबंधित एक तीर्थ स्थान जो आंध्रप्रदेश में पूर्वी घाट में स्थित है।
राष्ट्रपुरुष :	राष्ट्र को नेतृत्व प्रदान करनेवाले महापुरुष।
पूर :	बाढ़।
घोड़ापूर :	घोड़े की ऊँचाई की बाढ़।
हाथीपूर :	हाथी की ऊँचाई की बाढ़।
राजमहेन्द्री :	यह आंध्रप्रदेश में है जहाँ प्रति बारहवें वर्ष पुष्करम् का स्नान करने के लिए बहुत बड़ा मेला लगता है।
त्यागाय संभृतार्थानाम् :	इन शब्दों में कालिदास ने रघुवंशी राजाओं का वर्णन किया है जो दूसरों को दान करने के लिए ही धन का संग्रह करते थे।
गौतमी गोदावरी :	बंगाल की खाड़ी में दौलेश्वरम् के पास डेल्टा बनाती हुई सात धाराओं के रूप में गोदावरी समुद्र में गिरती है जिनमें गौतमी गोदावरी मुख्य है।
वशिष्ठ गोदावरी :	उपर्युक्त सात धाराओं में से एक धारा वशिष्ठ गोदावरी कहलाती है।
अंतर्वेदी :	दोआब, दो नदियों के बीच की भूमि जो उन्हीं के द्वारा लाई गई मिट्टी से निर्मित होती है। गंगा और यमुना के बीच का वह विस्तृत मैदान जो हरिद्वार से प्रयाग तक फैला है अंतर्वेद कहलाता है।
शालिधान्य :	बासमती धान।
डच :	हालैण्ड देश के निवासी।
शोणाभद्र :	सोन नदी जो मध्यप्रदेश से निकलकर बिहार में गंगा में मिल जाती है।
ऐरावती :	बर्मा की एक प्रसिद्ध नदी।
धीरोदात्त :	धैर्यशाली और क्षमाशील।

गद्य - भारती

द्वितीय भाग

[दसवीं कक्षा के लिए]

विषय-सूची

द्वितीय भाग

भूमिका

उन्नीसवीं शताब्दी से भारतीय इतिहास में पुनरुत्थान-युग आरंभ होता है। इस समय जीवन का विकास नए रूपों में हो रहा था। पाश्चात्य साहित्य के संपर्क से हमारे ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार होने लगा था। साहित्य, शिक्षा, दर्शन तथा ज्ञान-विज्ञान के अनेक रूपों का हमारे जीवन में समावेश हुआ, जिनकी अभिव्यक्ति पद्य में संभव न थी। सामाजिक एवं धार्मिक सुधार, सांस्कृतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन और राजनीतिक आंदोलनों के रूप में जीवन के नाना क्षेत्रों में एक नई चेतना उत्पन्न हो रही थी। इसी समय डाक, तार, रेल आदि की सुविधाओं के कारण परस्पर व्यवहार, विचार-विनिमय और शिक्षा में वृद्धि हुई। इस बढ़ती हुई चेतना की अभिव्यक्ति के लिए साहित्य के उपयुक्त माध्यम के रूप में हिन्दी-गद्य का विकास हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी में ईसाई मिशनरियों ने खड़ी बोली गद्य में प्रभूत मात्रा में प्रचार-साहित्य प्रकाशित किया। सन् १८०३ ई० में कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। लल्लूलाल एवं सदल मिश्र ने इसी कालेज में 'भाषा-मुंशी' के पद पर रहते हुए खड़ी बोली गद्य में 'प्रेम सागर' एवं 'नासिकेतोपाख्यान' आदि पुस्तकें लिखीं। इस कालेज की परिधि के बाहर इसी समय सदासुख-लाल एवं इंशाअल्ला खाँ भी हिन्दी-गद्य में रचना कर रहे थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विद्यालयों की आवश्यकताओं के अनुरूप राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने भी कई पाठ्यपुस्तकें लिखीं। उनकी भाषा में उर्दू-फारसी शब्दों का प्रयोग अधिक होता था। इसके विपरीत राजा लक्ष्मणसिंह ने संस्कृत की तत्सम शब्दावली से युक्त शुद्ध हिन्दी का आदर्श सामने रखा। इसी समय आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानंद सरस्वती एवं उनके अनुयायियों ने हिन्दी-गद्य में कई ग्रंथ लिखे और खड़ी बोली गद्य के विकास तथा प्रसार में योग दिया।

हिन्दी-गद्य के विकास के इस प्रारंभिक चरण में भारतेन्दु हरिश्चंद्र का उदय हुआ। उन्होंने बोलचाल की भाषा के आधार पर हिन्दी-गद्य को व्यावहारिक रूप दिया। भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने

नाटक, निबंध, आलोचना, उपन्यास आदि विभिन्न प्रकार के गद्य-साहित्य की रचना की। विविध विषयों के अनुरूप उन्होंने भिन्न-भिन्न शैलियों को अपनाया। भारतेन्दु अपने युग के लेखकों के प्रेरणा-केन्द्र थे। वे हिन्दी-गद्य के प्रवर्तक माने जाते हैं। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों का कार्यकाल सन १८७० से १९०० ई० तक फैला हुआ है। वैसे सामान्यतः सन् १८५० से १९०० ई० तक का समय हमारे साहित्य में 'भारतेन्दु-युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

हिन्दी में भारतेन्दु के बाद महावीरप्रसाद द्विवेदी का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली रहा है। द्विवेदी जी ने अपने युग में साहित्य का दिशानिर्देशन किया और भाषा को व्यवस्था प्रदान की। हिन्दी-गद्य-साहित्य की विषय-वस्तु, भाषा एवं शैली पर उनकी गहरी छाप है। उनके इसी व्यापक प्रभाव के कारण सन् १९०० से १९२० ई० तक का समय 'द्विवेदी-युग' के नाम से प्रसिद्ध है।

लगभग सन् १९२० ई० से हिन्दी-गद्य-साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ। भाषा अधिक शक्तिसंपन्न हुई, अभिव्यंजना-शैलियों में परिष्कार हुआ तथा विविध प्रकार के साहित्य की प्रचुर मात्रा में रचना की गई। रामचंद्र शुक्ल तथा श्यामसुंदर दास ने निबंध एवं आलोचना में नए जीवन का संचार किया। प्रेमचंद ने बोलचाल की भाषा का परिमार्जन करते हुए कथा-साहित्य को समृद्ध किया तथा जयशंकर प्रसाद ने नाटकों के क्षेत्र में अपनी मौलिक सृजन-प्रतिभा का परिचय दिया। इसी समय उच्च कक्षाओं में हिन्दी का अध्ययन-अध्यापन भी आरंभ हुआ। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बढ़ी। इतिहास, पुरातत्व, दर्शन, समाजशास्त्र, वाणिज्य, विज्ञान आदि विषयों पर भी ग्रंथ-रचना प्रारंभ हुई।

सन् १९२० ई० के बाद से आज तक के इस विस्तृत युग को किसी एक नाम के साथ जोड़ना संभव नहीं है। यह बहुमुखी विकास और समृद्धि का युग है। इस युग को भी दो काल-खंडों में बाँटा जा सकता है। सन् १९२० से १९४० ई० तक का समय कविता के क्षेत्र में 'छायावाद-युग' के नाम से प्रसिद्ध है, उसे गद्य के क्षेत्र में हम 'समृद्धि-युग' कह सकते हैं। सन् १९४० ई० के आसपास से साहित्य के रूप, शैली, भाषा, भाव आदि में पुनः परिवर्तन के स्पष्ट लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं और वे अब भी चल रहे हैं। किसी अन्य अधिक सार्थक नाम के अभाव में हम इसे 'समसामयिक युग' कह सकते हैं।

विविध साहित्य-विधाओं के आधार पर गद्य के विकास का इतिवृत्त संक्षेप में इस प्रकार है:

निबंध

भारतेन्दु एवं उनके सहयोगियों ने निबंध-रचना का श्रीगणेश किया। ये निबंध पत्र-पत्रिकाओं के लिए ही लिखे जाते थे और पत्रों के संपादक प्रायः निबंधों के लेखक हुआ करते थे। भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट और प्रेमघन ने क्रमशः 'कविवचन सुधा', 'ब्राह्मण', 'हिन्दी प्रदीप' और 'आनंद कादंबिनी' का संपादन किया था। इस समय के निबंधों में विषयों की अनेकता, समाजसुधार-भावना, राजनीतिक चेतना, रोचकता, पत्रकारिता आदि के गुण मिलते हैं, किन्तु इनमें गंभीरता का अपेक्षाकृत अभाव है। सामाजिक परिस्थितियों का सीधा प्रतिबिम्ब इन निबंधों में मिलता है। इस युग के लेखकों का दृष्टिकोण प्रगतिशील था। वे जर्जर रूढ़ियों पर प्रहार तो करते थे, परंतु नवीनता का अंधानुकरण नहीं करते थे। देश-जाति की उन्नति के विविध पक्षों पर इन निबंधों में विचार व्यक्त हुए हैं। विषय से हटकर भी ये निबंध-लेखक देशोद्धार की बातों को ले आते थे। हास्य-व्यंग्य इनका प्रधान अस्त्र था। उन्होंने पाठकों की रुचि और आवश्यकता का बराबर ध्यान रखा और अपनी भाषा-शैली को प्रवाहपूर्ण, रोचक एवं निजी बनाने के लिए भरसक प्रयत्न किया। हिन्दी की व्यंजना-शक्ति के विकास और उसमें शैलीगत विविधता लाने में इस युग के निबंधकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। इस युग के निबंध-साहित्य के विकास को समझने के लिए भारतेन्दु के 'स्वर्ग में विचार-सभा का अधिवेशन', 'ईश्वर बड़ा विलक्षण है', 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न', 'सूर्योदय', 'पाँचवें पैगंबर' आदि, बालकृष्ण भट्ट के 'चढ़ती उमर', 'चंद्रोदय', 'बातचीत', 'आँख', 'ईश्वर भी क्या ठठोल है' आदि और प्रतापनारायण मिश्र के 'बुढ़ापा,' 'भौं', 'धोका', 'दाँत', 'आप' आदि निबंधों को अवश्य पढ़ना चाहिए।

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक नई शिक्षा में दीक्षित व्यक्तियों की संख्या में काफ़ी वृद्धि हो गई थी। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या और बढ़ी। इस प्रकार पाठकों के साथ ही लेखकों का समुदाय भी बढ़ता गया। परंतु किसी व्यवस्थित शैली या आदर्श का फिर भी अभाव बना रहा। शब्द-भंडार, व्याकरण, वाक्य संगठन आदि का कोई स्थिर रूप न था। इसी समय (सन् १९०३ ई० में) महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका का संपादन-भार संभाला। इस पत्रिका के माध्यम से उन्होंने हिन्दी-गद्य को व्यवस्थित किया। पाठक-समुदाय की ज्ञान की भूख को तृप्त करने के लिए द्विवेदी जी ने ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों पर लेख लिखे और लिखवाए। इन निबंधों का स्वर स्वभावतः भारतेन्दु-युग के निबंधों से अधिक गंभीर था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, रायल एशियाटिक सोसायटी एवं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन आदि संस्थाओं के माध्यम से गंभीरतर साहित्यिक विषयों के अनुसंधान

और प्रकाशन का प्रयत्न हुआ। फलतः द्विवेदी-युग (१९००-१९२० ई०) के निबंधों में व्यंग्य-विनोद एवं सजीवता के स्थान पर शैली की दृष्टि से गंभीरता एवं विषयवस्तु की दृष्टि से उपयोगी सूचनाओं की वृद्धि होने लगी थी। इस युग के निबंध लोक-शिक्षा के माध्यम हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी, श्याम सुंदर दास, गुलाब राय, मिश्रबंधु, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, रामचंद्र शुक्ल आदि के निबंधों में पत्रकार के स्थान पर अध्यापक के स्वर की प्रमुखता हो गई थी। सरदार पूर्णसिंह, माधवप्रसाद मिश्र और पद्मसिंह शर्मा ने व्यक्तिपरक, भावात्मक और संस्मरणात्मक निबंध भी इसी युग में लिखे। चंद्रधर शर्मा गुलेरी के निबंधों में पांडित्य एवं व्यंग्य-विनोद का सरस समन्वय हुआ है। गुलेरी जी के 'कछुआ धर्म', 'मारेसि मोहि कुठांव', और 'संगीत'; सरदार पूर्ण सिंह के 'सच्ची वीरता', मजदूरी और प्रेम', 'नयनों की गंगा,' 'पवित्रता', 'आचरण की सभ्यता' आदि हिन्दी निबंध साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि हैं।

द्विवेदी-युग के उपरांत साहित्य को अपना विशेष क्षेत्र बनानेवाले निबंधकार भी सामने आए। ऐसे निबंधकारों में रामचंद्र शुक्ल मुख्य हैं। गंभीर विचार, उदात्त भाव, हास्य-व्यंग्य के सरस छींटे उनके निबंधों में मिलते हैं। विशिष्ट शैली एवं वैयक्तिक स्पर्श से उनके विषयपरक निबंध भी रोचक बन गए हैं। श्यामसुंदर दास, गुलाबराय, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी इस युग में भी बराबर लिखते रहे। इनमें गुलाब राय एवं बख्शी जी आत्मपरक निबंध-लेखक के रूप में भी विख्यात हैं। इसी समय प्रेमचंद ने मुहावरेदार, सजीव एवं सरल व्यावहारिक शैली का आदर्श उपस्थित किया। प्रसाद जी ने भी कतिपय पांडित्यपूर्ण एवं मौलिक निबंध लिखे। सियारामशरण गुप्त के निबंध-संग्रह 'झूठ-सच' के निबंधों में उनके गांधीवादी व्यक्तित्व की गहरी छाप है।

साहित्य-विषयक निबंध-परंपरा के परवर्ती लेखकों में रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', हजारी-प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, नंददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा, अज्ञेय आदि मुख्य हैं। महादेवी वर्मा ने साहित्यिक निबंध लिखे हैं। छायावाद के प्रमुख आलोचक नगेन्द्र के निबंधों का विशाल संग्रह 'आस्था के चरण' नाम से प्रकाशित है और छायावादी कवि निराला के 'प्रबंध-पद्म', 'प्रबंध प्रतिमा', 'चयन' और 'चाबुक' के अनेक निबंधों में तीखा व्यंग्य है जिसे पढ़कर पाठक तिलमिला उठते हैं।

साथ ही भावात्मक एवं शुद्ध आत्मपरक निबंधों की परंपरा भी बराबर चलती रही। शांतिप्रिय द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी, वियोगी हरि, सियारामशरण गुप्त, हजारीप्रसाद द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, रघुवीरसिंह, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय एवं विवेकी राय के निबंध स्वानुभूति से सिक्त हैं। व्यक्तिपरक निबंधों का उत्कर्ष हजारी प्रसाद द्विवेदी, विद्यानिवास मिश्र,

कुबेरनाथ राय और विवेकी राय के निबंधों में देखने को मिलता है।

भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग के संधिकाल के निबंधकार बालमुकुंद गुप्त के व्यंग्यात्मक निबंधों का संवर्धन और विकास किया प्रगतिशील लेखकों ने। 'शिवशंभु का चिट्ठा' और 'खत' में, यदि गुप्त जी ने लार्ड कर्ज़न को अपने व्यंग्य का निशाना बनाया था तो डा० नामवरसिंह ने 'बकलम खुद' के निबंधों में लेखकों, राजनीतिज्ञों, गांधीवादियों, कागद का राज, अखबार, शिक्षा, पूंजीवाद आदि पर तीखे व्यंग्य किए हैं। विश्वंभरनाथ कौशिक लिखित 'दुबे जी की चिट्ठी' और यशपाल के 'चक्कर क्लब', आदि संग्रहों में व्यंग्यात्मकता के दर्शन होते हैं। प्रभाकर माचवे ने 'खरगोश के सींग' में संदर्भों की अतिशयता में व्यंग्य को निखारा है। अमृत राय ने अपने निबंध-संग्रह 'सहचिन्तन' में 'सबसे भले हैं मूढ़', 'जितने पंडे उतने अंडे', 'गोबर गणेश का जागरण', 'कृपाचार्य की कूटनीति' आदि शीर्षकों से व्यंग्यात्मक निबंध लिखे हैं। इस प्रकार स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हिन्दी में व्यंग्यात्मक निबंध बहुत लिखे गए और लिखे जा रहे हैं जिनमें सरकारी नीति की असफलताओं, नौकरशाही आदि पर तीखे व्यंग्य किए गए हैं। श्रीनारायण चतुर्वेदी की 'राजभवन की सिगरेटदानी', हरिशंकर परसाई के दर्जनों निबंध तथा शरद जोशी और रवीन्द्र त्यागी के अधिकांश निबंध व्यंग्यात्मक हैं।

नाटक

मध्ययुग में हिन्दी में संस्कृत-नाटकों की परंपरा के अंतर्गत कुछ नाटक लिखे तो गए पर वे साहित्य में महत्त्व नहीं पा सके। उस समय का गद्य भी नाट्य-रचना के उपयुक्त न था और रंगमंच का भी अभाव था। भारतेन्दु के समय में कुछ पारसी थियेटर कंपनियाँ निम्नस्तर के नाटकों का प्रदर्शन करके सुरुचि को गिरा रही थीं। भारतेन्दु ने इनसे मोर्चा लिया। उन्होंने स्वयं नाटक लिखे, लिखवाए तथा उनके अभिनय में भी सक्रिय योग दिया। इस काल के लेखकों ने राष्ट्रप्रेम, समाजसुधार, पौराणिक एवं ऐतिहासिक आदर्श चरित्रों आदि पर सरल शैली में अभिनेय नाटक लिखे। इस परंपरा में भारतेन्दु रचित 'सत्य हरिश्चंद्र' सर्वाधिक लोकप्रिय रहा। दुर्भाग्य से भारतेन्दु के प्रयत्नों के बावजूद रंगमंच की कोई परंपरा नहीं बन सकी। भारतेन्दु-युग की समाप्ति होते-होते नाटकों की ओर झुकाव फिर कम हो गया और द्विवेदी-युग में हमें उल्लेखनीय नाटक नहीं मिलते।

नाटक के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद का प्रवेश युगांतरकारी घटना है। उन्होंने इतिहास के कंकालों में प्राण फूंके और सजीव पात्रों की सृष्टि की। गंभीर दार्शनिक दृष्टि, जीवन की प्राणवती चेतना, अलंकृत कवित्वमय शैली, मार्मिक गीतयोजना आदि ने उनके नाटकों को कलापूर्ण बना दिया

है। 'अजातशत्रु', 'चंद्रगुप्त', 'स्कंदगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि उनके प्रसिद्ध नाटक हैं। हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास, पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र,' गोविन्दवल्लभ पंत, उदयशंकर भट्ट आदि इस युग के अन्य प्रमुख नाटककार हैं। प्रेमी जी के नाटकों के कथानक मध्ययुग पर आधृत हैं जिनमें उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता, राष्ट्र-प्रेम, अछूतोद्धार आदि विषय लिए। इनके 'रक्षाबंधन,' 'प्रतिशोध', 'शिव-साधना', 'विषपान' आदि नाटकों ने विशेष लोकप्रियता प्राप्त की। हिन्दी में पौराणिक कथानकों को लेकर भट्ट जी ने भावनाट्य लिखे और अपने इस अभिनव प्रयोग के कारण हिन्दी नाटक साहित्य में अपना विशेष स्थान बना गए।

प्रसाद जी के पश्चात् समसामयिक युग में पाश्चात्य नाटककार इब्सन और बर्नार्ड शॉ से प्रभाव ग्रहण करते हुए लक्ष्मीनारायण मिश्र ने कुछ समस्या प्रधान नाटक लिखे। इनमें 'राजयोग,' 'सिन्दूर की होली' आदि मुख्य हैं। इसी समय भुवनेश्वरप्रसाद एवं रामकुमार वर्मा ने एकांकी नाटकों का लिखना प्रारंभ किया। उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर आदि इस युग के प्रसिद्ध नाटककार हैं।

धर्मवीर भारती का काव्य-नाटक 'अंधा युग' पाठकों एवं आलोचकों द्वारा समान रूप से सराहा गया है। इस नाटक का भी आधार इतिहास ही रहा है।

हिन्दी के नए नाटककारों में मोहन राकेश का स्थान अन्यतम है। उनका पहला नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' साहित्य की उत्कृष्ट कृति है जिस पर संगीत नाटक अकादमी ने 'सर्वश्रेष्ठ नाटक' का पुरस्कार प्रदान किया है। इसमें साहित्यिकता, नाटकीयता एवं रंगमंचीयता का अद्भुत समन्वय हुआ है। मोहन राकेश का दूसरा नाटक 'लहरों के राजहंस' और भी अधिक सफल रचना है। राकेश का तीसरा नाटक 'आधे अधूरे' आधुनिक काल के सबसे प्रभावशाली नाटकों में है। समकालीन मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों को इसमें बड़े प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है।

हिन्दी नाटक-साहित्य के समकालीन लेखकों में डा० लक्ष्मीनारायण लाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने अपने नाटकों में शिल्प-गत प्रयोग किए हैं और उन्हें रंगमंच के अनुकूल बनाने का स्तुत्य प्रयास किया है। 'मादा कैक्टस', 'रात रानी', 'दर्पण', 'मिस्टर अभिमन्यु' आदि इनकी प्रमुख नाट्य रचनाएँ हैं। अन्य आधुनिक नाटककारों में ललित सहगल, रमेश बक्षी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

उपन्यास

प्रेमचंद के पूर्व हिन्दी-उपन्यास मनोरंजन का साधन अधिक था—सामाजिक चेतना एवं मानवीय संघर्षों का वाहक कम। उपन्यास के नाम पर या तो अधिकतर तिलस्मी, ऐयारी एवं जासूसी घटनाओं

का चमत्कार मिलता है या फिर कुछ अर्द्धऐतिहासिक कथानकों में अतीत की महिमा का गान। श्रीनिवासदास, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी आदि हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासकार हैं। देवकीनंदन खत्री के 'चन्द्रकांता' एवं 'चंद्रकांता संतति' उपन्यास बहुत लोकप्रिय हुए।

प्रेमचंद ने हिन्दी-उपन्यास को वास्तविक रूप प्रदान किया। उनके प्रथम उपन्यास 'सेवासदन' (१९१३ ई०) में सामाजिक जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण, मनोवैज्ञानिक दृष्टि एवं सहज कथा-शैली पाई जाती है। नाटक के क्षेत्र में जो कार्य प्रसाद जी ने किया, वही उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में प्रेमचंद ने। उन्होने उपन्यास को मानव-चरित्र का चित्र मानकर उसका चित्रण किया। प्रेमचंद की प्रतिभा बाद के उपन्यासों में निरंतर निखरती गई। 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि', 'गबन', 'गोदान', आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। 'गोदान' को हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों में गिना जाता है। प्रेमचंद ने बड़े विस्तार से तीन दशकों के राष्ट्रीय आंदोलन और समाज-सुधार की गतिविधियों को अपने उपन्यासों में अंकित किया है।

इसी समय विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, जयशंकर प्रसाद आदि ने भी अच्छे उपन्यास लिखे। ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में वृंदावनलाल वर्मा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'गढ़ कुंडार', 'विराटा की पद्मिनी','कचनार','झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई', 'मृगनयनी', 'माधवजी सिंधिया' आदि उनके प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास हैं। हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' का परिवेश तो ऐतिहासिक है, पर उसकी शैली सर्वथा भिन्न है। यह वास्तव में ऐतिहासिक उपन्यास का एक नया प्रतिमान उपस्थित करता है। राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यासों में उनके अगाध पांडित्य की बानगी मिलती है। इतिहास की वर्ग-संघर्ष भूमिका पर आधारित 'मुर्दों का टीला' रांगेय राघव का उत्कृष्ट उपन्यास है जिसमें उन्होंने मोहन जोदड़ो युग के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन की कल्पना-प्रसूत झाँकी प्रस्तुत की है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने अनेक ऐतिहासिक उपन्यास लिखे जिनमें 'वैशाली की नगर वधू', 'वयं रक्षामः' आदि प्रसिद्ध हैं।

'समसामयिक युग' में हिन्दी-उपन्यास पर मनोविश्लेषण-शास्त्र एवं मार्क्सवाद के प्रभाव स्पष्ट हैं। कुछ लेखकों में ये दोनों प्रवृत्तियां एक साथ मिल जाती हैं। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचंद्र जोशी, भगवती प्रसाद वाजपेयी यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर आदि प्रेमचंद के बाद के मुख्य उपन्यासकार हैं। मनोवैज्ञानिक उपन्यासकारों में जैनेन्द्र कुमार का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्होंने उपन्यास

की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, शैली-शिल्प आदि में क्रांतिकारी परिवर्तन किए। इन्होंने उपन्यास की घटनात्मकता को समाप्त करके एक नवीन विश्लेषणात्मक शैली को जन्म दिया। 'परख,' 'सुनीता,' 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त' आदि इनके प्रमुख उपन्यास है। इस वर्ग के उपन्याकारों में स० ही० वात्स्यायन अज्ञेय का विशेष स्थान है। इन्होंने अपने तीनों उपन्यासों—'शेखर एक जीवनी', 'नदी के द्वीप,' 'अपने-अपने अजनबी' में कला का समन्वित रूप प्रस्तुत किया। धर्मवीर भारती ने अपने उपन्यासों—'गुनाहों का देवता,' और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'—में मानव-मन को थाहने का प्रयत्न किया है।

सामाजिक उपन्यासकार के रूप में भगवतीचरण वर्मा 'चित्रलेखा' लेकर आए। 'चित्रलेखा' के बाद 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' और 'भूले-बिसरे चित्र' को विशेष ख्याति मिली। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' भी हिन्दी के सामाजिक उपन्यासकार हैं। इनका दृष्टिकोण वर्मा जी की अपेक्षा अधिक प्रगतिशील है। 'गिरती दीवारें' इनका पहला महत्वपूर्ण उपन्यास है और इनकी ख्याति का आधार भी। 'सितारों के खेल', 'गर्म राख','बड़ी-बड़ी आँखें','शहर में घूमना आईना' आदि इनके अन्य मुख्य उपन्यास हैं। इसी वर्ग के उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'सेठ बाँके मल', 'बूंद और समुद्र' तथा 'अमृत और विष' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

उपर्युक्त सामाजिक उपन्यासकारों ने समस्याओं को अपने-अपने ढंग से देखा-परखा और उनका निराकरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया। उपन्यासकारों के दूसरे वर्ग ने समाज को द्वंद्वात्मक भौतिकवादी दृष्टि से देखा है। इस वर्ग के उपन्यासकारों में यशपाल का स्थान सर्वोपरि है। ये समाज में सभी प्रकार के शोषण के विरुद्ध हैं चाहे वह मालिक-मजदूर का हो अथवा पुरुष-नारी का। इनके उपन्यासों में अर्थ और काम को प्रमुखता मिली है। साथ ही इन्होंने कलात्मकता और सुरुचि का यथेष्ट ध्यान रखा है। 'दादा कामरेड', 'देश द्रोही', 'दिव्या', 'झूठा-सच' आदि इनके प्रमुख उपन्यास हैं। यद्यपि रांगेय राघव का उल्लेख ऐतिहासिक उपन्यासकार के रूप में किया गया है, तथापि मूलतः वे समाजवादी धारा के ही उपन्यासकार हैं। इन्होंने तीस से भी अधिक उपन्यास लिखे हैं जिनमें 'घरौंदे', 'हुजूर', 'कब तक पुकारूँ' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। समाजवादी चेतना के उपन्यासकारों में अमृत राय का स्वर व्यंग्यात्मक है। 'बीज', 'नागफनी का देश', 'हाथी के दाँत' आदि इनके उपन्यास हैं। इस वर्ग के लेखकों में राजेन्द्र यादव ने शिल्प पर अधिक ध्यान दिया है। 'सारा आकाश', 'उखड़े हुए लोग', 'कुलटा', 'शह और मात', 'मंत्रविद्ध' आदि इनके महत्त्वपूर्ण उपन्यास हैं।

बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में 'आंचलिक' नाम से उपन्यासों में एक नई प्रवृत्ति आई

है। इसमें घटनाओं या पात्रों पर उतना आग्रह नहीं होता जितना कि एक क्षेत्र विशेष या जीवन-खंड को उसकी समग्रता में चित्रित करने की चेष्टा होती है। फणीश्वरनाथ रेणु का 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा', अमृतलाल नागर का 'बूँद और समुद्र', उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' और नागार्जुन का 'वरुण के बेटे' ऐसे ही उपन्यास हैं।

जब से हिन्दी में पाकेट-बुक का प्रारंभ हुआ है, उपन्यासों की लोकप्रियता बढ़ी है, क्योंकि अब साधारण पाठक भी उन्हें खरीदकर पढ़ सकता है।

कहानी

हिन्दी-कहानी का आरंभ भी उपन्यासों की भाँति ही छायानुवादों से हुआ। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में कुछ गिनीचुनी ही मौलिक कहानियाँ मिलती हैं, पर दूसरे दशक में प्रेमचंद, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, ज्वालादत्त शर्मा, जयशंकर प्रसाद, राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, आदि लेखकों ने उत्कृष्ट कहानियाँ लिखीं। इस दशक में हिन्दी कहानी का स्वरूप लगभग निश्चित हो चुका था और उसमें अपेक्षाकृत परिपक्वता भी आ गई थी। वस्तुतः इस क्षेत्र में भी उपन्यासों के समान ही गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से प्रेमचंद की देन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अपनी तीन सौ से अधिक कहानियों में उन्होंने भारतीय जीवन के विविध वर्गों, पात्रों और समस्याओं को वाणी दी है। साथ ही उन्होंने आधुनिक कहानी के उपयुक्त भाषा-शैली का भी विकास किया। प्रसाद जी मूलतः कवि थे। फलतः उनकी कहानियों में काल्पनिक काव्यात्मकता और भावुकता का आधिक्य है तथा उनकी भाषा-शैली चित्रात्मक और अलंकृत है।

उपन्यास की भाँति ही कहानी के क्षेत्र में भी पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने भारतीय जीवन के क्रूर और विकृत पक्ष का बड़ा ही सशक्त और व्यंग्यात्मक चित्रण करके प्रकृतवादी कहानियाँ हिन्दी को दीं।

जैनेन्द्रकुमार ने हिन्दी कहानी को एक सर्वथा नई दिशा देकर आगे बढ़ाया। वे कहानी में कथा के महत्त्व को एक सीमा तक ही मानते हैं। इसलिए उनकी कहानियों में घटनाओं का स्थान मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वंद्व और दार्शनिक चिन्तन ले लेते हैं। जैनेन्द्रजी की कहानियों में व्यापकता कम है, किन्तु गहराई बहुत अधिक है। 'अज्ञेय' की कहानियों में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बहुत स्वाभाविक है और उनमें ताज़गी भी मौजूद है।

इस शताब्दी के चौथे दशक में मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव हिन्दी-कहानियों में बड़े

ज़ोर-शोर से आया। यशपाल की कहानियों में उनके उपन्यासों की भाँति मार्क्सवाद का स्पष्ट प्रभाव है। यशपाल इस धारा के सबसे महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। वे जीवन की वास्तविकता का चित्रण करने में अद्वितीय हैं।

मार्कण्डेय ने ग्राम जीवन से संबंधित बड़ी मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियों में शिल्प की बारीकियों के प्रति उतना आग्रह नहीं है जितना कि जीवन की सच्ची तस्वीर उतारने के प्रति निष्ठा। मार्कण्डेय के अलावा शिवप्रसाद सिंह भी ग्रामीण जीवन से संबंधित कहानियाँ लिख रहे हैं। बाद में ग्रामीण जीवन की इन कहानियों ने ही आंचलिक कहानियों का रूप धारण किया।

इस सदी के उत्तरार्द्ध में नई कहानी का जन्म हुआ जिसके साथ मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, श्रीमती मन्नू भंडारी, कमलेश्वर, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा, भैरव प्रसाद गुप्त, धर्मवीर भारती, रमेश बक्षी आदि नाम जुड़े हैं। राजेन्द्र यादव की कहानियों में शिल्प के प्रति अधिक सम्मान है। कमलेश्वर कस्बे और महानगर के जीवन को रूपायित करने में बहुत सफल रहे हैं। भीष्म साहनी का स्वर प्रगतिवादी है। निर्मल वर्मा विचार से प्रगतिवादी, किन्तु भावना से रोमांटिक हैं।

हिन्दी-साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में कहानी-साहित्य अधिक व्यापक एवं समृद्ध है फिर भी कलात्मक ऊँचाई प्राप्त करके युगबोध को स्वर प्रदान करने के लिए इसे लंबी यात्रा तय करनी है।

एकांकी

यद्यपि प्रसाद के 'एक घूंट' को हिन्दी का प्रथम एकांकी होने का गौरव प्राप्त है, किन्तु हिन्दी-एकांकी-साहित्य की धारा को मुक्त रूप से प्रवाहित करने का श्रेय डा० रामकुमार वर्मा को ही है। इनके एकांकियों में काव्य जैसी सरसता मिलती है। डा० वर्मा का प्रकृत क्षेत्र ऐतिहासिक एवं सामाजिक कथानकों पर आधारित एकांकी है। इनके 'रेशमी टाई', 'चारुमित्रा', 'सप्तकिरण', 'पृथ्वीराज की आँखें', 'चार ऐतिहासिक एकांकी', 'कौमुदी महोत्सव', 'मयूर पंख' आदि कई एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। भुवनेश्वर डा० वर्मा के ही समकालीन हैं और उनके एकांकी-संग्रह 'कारवाँ' को पाकर हिन्दी-जगत को इनसे बहुत आशाएँ बँधी थीं, किन्तु 'प्रसर', 'स्ट्राइक', 'कठपुतलियाँ', 'तोप के हथौड़े' आदि एकांकियों के वाद उन्होंने इस क्षेत्र से संन्यास ले लिया।

उदयशंकर भट्ट ने भाव-नाट्यों के अलावा बहुत-से सफल सामाजिक एकांकी लिखे। 'आदिम युग', 'अंधकार और प्रकाश', 'समस्या का अंत', 'पर्दे के पीछे', आदि इनके एकांकी-संग्रह हैं। इन्होंने अपने

एकांकियों में कलात्मक निपुणता की ओर विशेष ध्यान दिया है। भट्ट जी के एकांकियों का मुख्य स्वर दुखात्मक रहा है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' एकांकी-लेखन में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। परिमाण और गुण दोनों ही दृष्टियों से उन्होंने प्रचुर और प्रभावशाली एकांकी लिखे हैं। इन्होंने समाज के निम्न मध्यवर्ग की समस्याओं के चित्रण पर बल दिया है। 'देवताओं की छाया में', 'पर्दा उठाओ, पर्दा गिराओ', 'पक्का गाना', 'चरवाहे', 'साहब को जुकाम है', 'अंधी गली', 'तूफान से पहले' आदि इनके एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इन एकांकियों के कथानक मध्य-वर्गीय पारिवारिक जीवन से चुने गए हैं। सेठ गोविन्द दास ने नाटक की भाँति एकांकी भी बहुत लिखे हैं। 'स्पर्धा', 'पंचभूत', 'एकादशी', 'कंगाल नहीं' आदि इनके प्रमुख एकांकी-संग्रह हैं। लक्ष्मीनारायण मिश्र समस्या नाटककार के रूप में जितना प्रसिद्ध और चर्चित रहे हैं उतना एकांकीकार के रूप में नहीं। पर इन्होंने भी बहुत से एकांकी लिखे हैं।

जगदीशचंद्र माथुर अश्क की भाँति ही नाटक एवं एकांकी-लेखन प्रायः दोनों में समान रूप से सफल रहे हैं। यद्यपि माथुर के दो ही एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं—'भोर का तारा' और 'ओ मेरे सपने' तथापि उनकी गिनती हिन्दी के श्रेष्ठ एकांकीकारों में होती है। विष्णु प्रभाकर भी एकांकी लेखन में बहुत सफल रहे हैं। उन्होंने विभिन्न स्तर के लगभग डेढ़ सौ एकांकी लिखे हैं। इन्होंने ऐतिहासिक, पौराणिक कथानकों पर भी एकांकियों की सृष्टि की है। किन्तु उनका प्रकृत क्षेत्र सामाजिक एकांकियों का है।

विनोद रस्तोगी के एकांकी रंगमंचीयता से भरपूर हैं, क्योंकि वे रंगमंच से संबद्ध रहे हैं। उन्होंने जो एकांकी रेडियो के लिए लिखे हैं उनमें रेडियो-शिल्प विद्यमान है। 'आजादी के बाद, और 'पुरुष के पाप' उनके दो एकांकी-संग्रह हैं। धर्मवीर भारती का केवल एक एकांकी-संग्रह प्रकाशित है—'नदी प्यासी थी'। किन्तु उनके सभी एकांकी काफी सफल रहे हैं। नए एकांकीकारों में डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने बहुत-से एकांकी लिखे हैं और उनमें शिल्पगत नए प्रयोग भी किए हैं। उनके एकांकियों में रंगमंचीयता विद्यमान है और इनका सफल अभिनय हुआ है। 'ताजमहल के आँसू', 'पर्वत के पीछे', 'नाटक बहुरंगी' आदि उनके एकांकी-संग्रह हैं। भारतभूषण अग्रवाल का एकांकी-संग्रह है 'और खाई बढ़ती गई'। नरेश मेहता के 'सनोवर के फूल' तथा 'पिछली रात की बरफ़' रेडियो एकांकी-संग्रह है।

हिन्दी-एकांकी-साहित्य के संवर्धन में बहुत से नए एकांकीकार प्रयत्नशील हैं।

यात्रा-वृत्तांत

हिन्दी में यात्रा-साहित्य का प्रारंभ आधुनिक काल में हुआ। इस साहित्य के जन्मदाता और उसे पराकाष्ठा पर पहुँचानेवाले 'घुमक्कड़ शास्त्र' के प्रणेता राहुल सांकृत्यायन हैं। राहुल जी ने जितनी यात्राएँ कीं और जितना यात्रा-साहित्य लिखा वह आश्चर्यजनक है। उन्होंने अपने यात्रा-वृत्तों में वर्णित स्थानों के भौगोलिक, ऐतिहासिक और आर्थिक आदि विवरण भी दिए हैं, किन्तु शीघ्रता के कारण वे बहुधा उन्हें कलात्मक दृष्टि से सजा नहीं पाए हैं। फलतः उनके यात्रा-वृत्तांतों में कभी-कभी सरसता की कमी महसूस होती है।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक ने अनेक यात्रा-पुस्तकें लिखी हैं। शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी प्रदक्षिणा' का ऐतिहासिक महत्त्व है। विवरणों की ताजगी, चित्रों की अधिकता और सज-धज आदि की दृष्टि से यह पुस्तक अनूठी बन पड़ी है।

हिन्दी के आधुनिक साहित्यकारों के द्वारा लिखे गए यात्रावृत्त उपर्युक्त परिचयात्मक यात्रा-साहित्य की अपेक्षा विशेष कलात्मक एवं सुंदर है। इनमें रामधारीसिंह दिनकर लिखित 'देश-विदेश' यशपाल की 'लोहे के दीवार के दोनों ओर', भगवतशरण उपाध्याय लिखित 'मैंने देखी वो दुनिया', 'कलकत्ता से पेकिंग', 'सागर की लहरों पर' अमृतराय की 'सुबह के रंग', रामवृक्ष बेनीपुरी की 'पैरों में पंख बाँधकर' विशेष उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों में विदेशों के यात्रा-वृतांत तो हैं ही उनमें उन देशों के सांस्कृतिक पक्ष को विशेष रूप से चित्रित किया गया है।

श्रीनिधि सिद्धांतालंकार ने 'शिवालिक की घाटियों में', 'मालिनी के वनों में' और 'सूखे सुनसान नालों में' एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। उन्होंने वनों के सौन्दर्य वर्णन के साथ वन्य जीवन का बड़ा ही रोचक और आकर्षक वर्णन प्रवाहपूर्ण भाषा में किया है।

यात्रावृत्तों को अभिनव दिशा प्रदान की है देवेन्द्र सत्यार्थी ने 'चाँद सूरज के वीरन' में तथा अज्ञेय ने 'अरे यायावर रहेगा याद', 'एक बूँद सहसा उछली' में। इन लेखकों ने यात्रा-स्थानों का तथ्यात्मक वर्णन प्रस्तुत करके उनके संबंध में उपयोगी जानकारी देने का प्रयास नहीं किया है, बल्कि उन्होंने संस्मरणात्मक कलात्मकता से सजाया है। इन यात्रा-पुस्तकों में उनका उद्देश्य मुख्यतः कलात्मक सृष्टि करना रहा है। फलतः ये पुस्तकें कलागत सौन्दर्य से पूर्ण हैं। यात्रा-वृत्तों की इस कला को और भी विकसित रूप देखने को मिलता है मोहन राकेश की पुस्तक 'आखिरी चट्टान तक' में।

प्रभाकर द्विवेदी की पुस्तक 'पार उतरि कहु जइहो' में और सतीश कुमार की 'आदमी दर

आदमी' में नई दिशा का उन्मेष दर्शनीय है। इनमें लेखकों ने यात्रा-वर्णन में कुछ मौलिक प्रयोग किए हैं जो अपने में एक उपलब्धि है।

इस प्रकार हिन्दी का यात्रा-साहित्य मात्रा और गुण की दृष्टि से काफी संपन्न है और सृजनात्मक लेखक इसके संवर्धन एवं चतुर्दिक विकास में संलग्न हैं।

जीवनी

साहित्यिक विधा के रूप में आधुनिक जीवनी-लेखन का प्रारंभ भारतेन्दु युग से ही मानना उचित है। भारतेन्दु-युग के जीवनी-लेखकों की सूची लंबी है, किन्तु साहित्यिक कही जानेवाली जीवनियों के लेखकों में भारतेन्दु हरिश्चंद्र, कार्तिकप्रसाद खत्री, राधाकृष्ण दास और मुंशी देवी-प्रसाद ही विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों को जीवनी-लेखन के उद्देश्य स्पष्ट थे, इसलिए इनके द्वारा लिखी जीवनियाँ महत्त्वपूर्ण बन सकीं। इस युग में मुख्य रूप से प्राचीन संतों, कवियों, महा-पुरुषों और समकालीन साहित्यकारों की जीवनियाँ लिखी गईं।

द्विवेदी युग में मात्रा एवं कलात्मकता प्रायः दोनों ही दृष्टियों से जीवनी-साहित्य का संवर्धन हुआ। इस युग में मुख्य रूप से महापुरुषों, क्रांतिकारियों, समाज सुधारकों और साहित्यकारों की ही जीवनियाँ लिखी गईं जिनका मुख्य स्वर राष्ट्रीय एवं सुधारवादी था। आधुनिक युग में आकर चरितनायकों के प्रकारों में भी वृद्धि हुई।

बनारसीदास चतुर्वेदी जी ने स्वतंत्रता-संग्राम के क्रांतिकारियों की सफल जीवनियाँ प्रका-शित कराई हैं। इंद्रविद्या वाचस्पति रचित जीवनियों में 'महर्षि दयानंद' सर्वांगपूर्ण रचना है। इनकी अन्य जीवनियों में 'नेपोलियन की जीवनी', 'प्रिन्स बिसमार्क', 'गैरीवाल्डी' भी सुंदर हैं।

राहुल जी ने दर्जन से भी अधिक जीवनियाँ लिखी हैं जिनमें 'सरदार पृथीसिंह', 'राजस्थानी रनिवास', 'स्टालिन : एक जीवनी', 'महात्मा बुद्ध','घुमक्कड़ स्वामी', 'जयवर्धन', 'नए भारत के नेता', 'सिंहल के वीर' आदि मुख्य हैं। इन जीवनियों में लेखक केवल घटनाओं का वर्णन करके ही संतुष्ट नहीं हो गया है, बल्कि उसने अपने दृष्टिकोण से उनका विश्लेषण भी किया है। चरितनायकों के व्यक्तित्व का विकास करते समय उन्होंने सामाजिक-आर्थिक पक्षों का विवेचन करते हुए अपने समाज-वादी दृष्टिकोण को भी प्रस्तुत किया है।

सातवें दशक में लिखी तीन जीवनियाँ प्रायः सभी दृष्टियों से उच्च कोटि की हैं। प्रेमचंद के सुपुत्र अमृतराय लिखित 'कलम का सिपाही' और मदनगोपाल लिखित 'कलम का मज़दूर' और

रामविलास शर्मा लिखित 'निराला की साहित्य साधना' हिन्दी-जीवनी-साहित्य के गौरव ग्रंथ हैं। लालबहादुर शास्त्री जी पर लिखी जीवनियों में सुमंगल प्रकाश रचित 'वह नन्हा-सा आदमी' काफ़ी लोकप्रिय है। शिवकुमार कौशिक लिखित इंदिरा गांधी की जीवनी भी महत्त्वपूर्ण है।

इधर जीवनियों को रोचक एवं लोकप्रिय बनाने के लिए उन्हें औपन्यासिक शैली में प्रस्तुत करने का सराहनीय प्रयत्न किया गया है। इस शैली में लिखी गई जीवनियों में मनहर चौहान, व्यथित-हृदय आदि की पुस्तकें रोचक हैं।

आत्म-कथा

भारतेन्दु हरिश्चंद्र की 'कुछ आप बीती कुछ जग बीती' के प्रकाशन से ही हिन्दी में नियमित रूप से आत्मकथा का लेखन प्रारंभ हुआ। अंबिकादत्त व्यास ने 'निज वृत्तांत' नाम से अपनी आत्म-कथा लिखी है। स्वामी श्रद्धानंद की आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' अपने युग की उत्कृष्ट रचना मानी जा सकती है।

द्विवेदी-युग में आत्मकथा-लेखन की ओर हिन्दी के बहुत-से साहित्यकार एवं क्रांतिकारी उन्मुख हुए। स्वयं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्फुट रूप से अपनी आत्मकथा लिखी और सरस्वती में प्रकाशित की। द्विवेदी जी के बाद सरस्वती के संपादक बननेवालों में पं० देवीदत्त शुक्ल और पदुमलाल पुन्नालाल बक्शी ने आत्मकथाएँ लिखी हैं। श्यामसुंदर दास ने 'मेरी आत्म-कहानी' में अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं के अलावा तत्कालीन साहित्यिक गतिविधियों का भी विस्तृत ब्यौरा दिया है।

देशरत्न राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' का प्रकाशन हिन्दी की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। यह हिन्दी की श्रेष्ठ आत्मकथाओं में से एक है जो व्यक्ति राजेन्द्र प्रसाद तक ही सीमित न होकर तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक आदि पहलुओं का भी लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है।

वियोगीहरि की आत्मकथा 'मेरा जीवन प्रवाह' में लेखक के भावुक हृदय का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। कालिदास कपूर की आत्मकथा 'मुदर्रिस की रामकहानी' में अध्यापक के जीवन का यथार्थ वर्णित है।

हिन्दी की कुछ आत्मकथाएँ ऐसी भी हैं जो छिट-पुट लिखी गई हैं और जिन्हें रोचक बनाने के लिए लेखक ने हास्य आदि का सहारा लिया है। ऐसी रचनाएँ आत्मकेन्द्रित होने के कारण ही आत्मकथा कही जा सकती है अन्यथा इन्हें निबंध, संस्मरण आदि की कोटि में भी रखा जा सकता

है। गुलाबराय जी की 'मेरी असफलताएँ' इसी कोटि में आती है जिसमें लेखक ने अपने जीवन के कुछ ही प्रसंगों को हास्य एवं व्यंग्य का पुट देकर लिखा है। इससे लेखक के छात्र जीवन, नागरिक जीवन एवं साहित्यिक जीवन की रोचक झलक मिलती है। इसी प्रकार सियारामशरण गुप्त ने 'झूठ-सच' निबंध-संग्रह के 'बाल्य स्मृति' जैसे निबंधों में अपनी आत्मकथा अंकित की है। 'मेरी कालेज डायरी' में धीरेन्द्र वर्मा ने अपने छात्र-जीवन को लिपिबद्ध किया है जिससे उनकी किशोरावस्था में उनकी चेतना के विकास की झलक मिलती है। विनोदशंकर व्यास ने 'उलझी स्मृतियाँ' के नाम से अपनी आत्मकथा लिखी है जो छायावादी साहित्य को समझने में पर्याप्त मार्ग-दर्शन करती है। शांतिप्रिय द्विवेदी की 'परिव्राजक की प्रजा' भी इसी श्रेणी में आती है। 'साठ वर्ष : एक रेखांकन' नाम से प्रसिद्ध पुस्तक में कवि सुमित्रानंदन पंत ने संस्मरणों के रूप में आत्मकथा लिखी है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबरें' विशेष रूप से उल्लेखनीय आत्मकथा है। इसमें लेखक ने अपने जीवन के प्रारंभिक इक्कीस वर्षों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है। संपूर्णानंद ने कुछ 'स्मृतियाँ और स्फुट विचार' में राजनैतिक नेता और साहित्यकार के जीवन के संघर्ष को प्रस्तुत किया है।

हिन्दी में राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा 'मेरी जीवन-यात्रा' का विशिष्ट महत्त्व है जो कई खंडों में प्रकाशित हुई है। इनमें लेखक की जीवन-गाथा के साथ उसकी यात्राओं, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक खोजों आदि से संबंधित उपयोगी सामग्री भरी पड़ी है। किन्तु यशपाल का 'सिंहावलोकन' बृहदाकार होते हुए काफ़ी रोचक बन पड़ा है, क्योंकि उसने चंद्रशेखर आज़ाद और सरदार भगतसिंह की क्रांतिकारी गतिविधियों को केन्द्र में रखकर अपना चरितांकन किया गया है जिसे पढ़ने में उपन्यास जैसा आनंद मिलता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'मेरी आत्मकहानी' सेठ गोविन्द दास की 'आत्म-निरीक्षण' और हरिवंशराय बच्चन की तीन भागों में (क्या भूलूं क्या याद करूँ' और 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर) में प्रकाशित आत्मकथा उल्लेखनीय उपलब्धि मानी जाती है।

संस्मरण

हिन्दी में संस्मरण लेखन प्रारंभ करने का श्रेय पद्मसिंह शर्मा को है। इन्होंने साहित्यकारों और साहित्यरसिकों के संबंध में बड़े ही रोचक और आकर्षक संस्मरण लिखे हैं। पं० श्रीराम शर्मा के संस्मरण संग्रह 'सन् ४२ के संस्मरण' प्रकृति और प्रवृत्ति की दृष्टि से पं० पदमसिंह शर्मा के संस्मरण जैसे हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा ने 'पथ के साथी' संकलन में कतिपय साहित्यकारों के जो संस्मरण लिखे हैं उनमें रेखाचित्र की विशेषताएँ हैं। उन्होंने साहित्यकारों से संबंधित संस्मरणीय घटनाएँ

तो दी ही हैं साथ ही उनका रेखांकन भी प्रस्तुत किया है। मात्रा की दृष्टि से बनारसी दास चतुर्वेदी ने विविध क्षेत्रों के व्यक्तियों से संबंधित बहुत-से संस्मरण लिखे हैं। चतुर्वेदी जी का संबंध समाज के बहुत से वर्गों से रहा है और उनका अनुभव काफ़ी गहरा है। 'मिल के पत्थर में' रामवृक्ष बेनीपुरी जी ने महापुरुषों के संस्मरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें सजीवता और रसात्मकता दोनों का पुट है। इन में कहीं कथा का रस आता है तो कहीं बातचीत का, कहीं रोमांस तो कहीं हास्य का और कहीं करुणा तो कहीं तादात्म्य का। बेनीपुरी जी के संस्मरणों की ये विशेषताएँ संस्मरणीय व्यक्तियों या घटनाओं में लेखक की पूर्ण एकात्मकता के परिणामस्वरूप आई है। भदंत आनंद कौसल्यायन के संस्मरण छात्रों के लिए विशेष उपयोगी हैं। 'जो न भूल सका', 'जो लिखना पड़ा' आदि संस्मरण संग्रहों में स्थानों, व्यक्तियों और घटनाओं के रोचक वर्णन सर्वत्र मिलते हैं। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर 'भूले हुए चेहरे' और 'दीप जले शंख बजे' में विशिष्ट शैली में संपर्क में आए व्यक्तियों को भावनापूर्ण ढंग से स्मरण किया गया है।

पत्रिकाओं ने संस्मरण-साहित्य के संवर्धन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। 'विशाल भारत' में श्रीराम शर्मा ने चतुर्वेदी जी के सहयोग से शहीदों के संस्मरण प्रकाशित किए थे। 'चाँद' के फाँसी अंक, 'पांचजन्य' के क्रांति-संस्मरण अंक आदि में सजीव एवं प्रेरणादायक संस्मरण प्रकाशित हैं। भगवान दास माहौर लिखित शहीद राजगुरु, भगतसिंह और चंद्रशेखर आज़ाद से संबंधित संस्मरण उल्लेख्य हैं। शिव शर्मा ने शहीद बिस्मिल जी की माता जी से अपनी भेंट के संस्मरण लिखे हैं। इन्हें पढ़कर शहीदों के परिजनों द्वारा सहे गए कष्टों और अभूतपूर्व बलिदान की अपूर्व झलक मिलती है। यशपाल, मन्मथनाथ गुप्त, मनमोहन गुप्त, शचीनाथ सान्याल आदि क्रांतिकारियों ने अपने क्रांतिकारी जीवन एवं बंदी जीवन की रोमांचक स्वानुभूत स्मृतियाँ प्रस्तुत की हैं।

क्रांतिकारियों के बाद स्थान आता है साहित्यकारों के संस्मरणों का। शिवरानी जी की 'प्रेमचंद घर में' संस्मरण-साहित्य की अनूठी कृति है। विनोदशंकर व्यास ने 'दिन और रात' में जयशंकर प्रसाद जी तथा समकालीन अन्य साहित्यकारों के मार्मिक संस्मरण प्रस्तुत किए हैं। निराला जी के संस्मरण कई लेखकों ने लिखे हैं किन्तु रामविलास शर्मा एवं जानकीवल्लभ शास्त्री के संस्मरण विशेष महत्त्वपूर्ण है। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने संस्मरण-साहित्य में नवीन प्रयोग किए हैं जो प्रस्तुतीकरण एवं शैली की दृष्टि से विशेष रोचक बन पड़े हैं। अश्क लिखित 'मंटो मेरा दुश्मन', ज्यादा अपनी कम पराई', 'रेखाएँ और चित्र' का साहित्यिक महत्त्व है। कौशल्या अश्क द्वारा संपा-

दित 'अश्क एक रंगीन व्यक्तित्व' में अश्क से संबंधित संस्मरण संगृहीत है। श्रीनारायण चतुर्वेदी ने 'मनोरंजक संस्मरण' में प्राचीन एवं आधुनिक साहित्यकारों के रोचक संस्मरण प्रस्तुत किए हैं। राहुल सांकृत्यायन ने यात्रा की दृष्टि से अपने से संबंधित वैविध्यपूर्ण संस्मरण लिखे हैं। 'वे क्रान्ति के दिन' एवं 'मेरी कौन सुनेगा' में महावीर त्यागी ने विचारोत्तेजक संस्मरण लिखे हैं। विष्णुचंद्र शर्मा लिखित 'इन लोगों के बीच में' अच्छे संस्मरणों का संकलन है।

रेखाचित्र

रेखाचित्र का हिन्दी में विकास अपेक्षाकृत बहुत बाद में हुआ। यों प्राचीन कथा-साहित्य में व्यक्तियों, पशु-पक्षियों, दृश्यों, वस्तुओं आदि का प्रासंगिक रेखांकन मिल जाता है, किन्तु रेखाचित्र का स्वतंत्र विधा के रूप में प्रारंभ प्रसिद्ध लेखक श्रीराम शर्मा की 'बोलती प्रतिमा' में संगृहीत कुछ रचनाओं से मानना चाहिए।

हिन्दी के रेखाचित्रकारों में महादेवी वर्मा और रामवृक्ष बेनीपुरी अग्रगण्य हैं। 'अतीत के चल-चित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' में अत्यंत साधारण कोटि के व्यक्ति रेखांकित हैं जो सेवक, कुली, छात्र आदि के रूप में महादेवी जी के संपर्क में आए। बेनीपुरी जी ने रेखाचित्र की शैली का वास्तव में एक प्रतिमान उपस्थित किया है 'माटी की मूरतें' में। प्रमुख साहित्यकार जो महादेवी जी के निकट संपर्क में आए 'पथ के साथी' में रेखांकित हैं। 'मील के पत्थर' में बेनीपुरी जी ने महात्मा गांधी, जय-प्रकाश नारायण, राजेन्द्रप्रसाद, प्रेमचंद, विनोबा भावे आदि महापुरुषों के रेखाचित्र लिखे हैं। इनके रेखाचित्र में कथा और संस्मरण का आनंद मिलता है। बनारसीदास चतुर्वेदी ने अपने 'रेखाचित्र' में मुख्यतया राजनीति एवं साहित्य क्षेत्र के महान व्यक्तियों के रेखांचित्र प्रस्तुत किए हैं।

रेखाचित्र के क्षेत्र में देवेन्द्र सत्यार्थी और कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने उल्लेखनीय प्रयोग किए हैं। सत्यार्थी के रेखाचित्र 'रेखाएँ बोल उठीं' तथा 'एक युग : एक प्रतीक' में निबंधात्मकता पाई जाती है। इस प्रकार निबंधात्मकता के कारण रेखाचित्र में यह एक नया प्रयोग है। प्रभाकर जी की कई पुस्तकों में रेखाचित्र संग्रहीत हैं—'नई पीढ़ी : नए विचार', 'भूले हुए चेहरे', 'जिन्दगी मुसकराई', 'माटी हो गई सोना', 'दीप जले शंख बजे', आदि। इन रेखाचित्रों में लेखक का विशेष आग्रह है गांधीवादी विचार को सजीव एवं रोचक शैली में प्रस्तुत करना जिनमें पत्रकारिता का भी पुट है। रेखाचित्र के विकास में शमशेर बहादुर सिंह एवं जगदीशचंद्र माथुर ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। 'प्लाट का मोर्चा' में संकलित रेखाचित्र अपनी नवीनताओं के कारण पाठकों को आकर्षित करते हैं।

'दस तस्वीरें' में श्री माथुर ने संस्मरणात्मक रेखाचित्र उपस्थित किए हैं। इसी क्रम में डा० नगेन्द्र की 'चेतना में बिम्ब' पुस्तक आती है जिसमें उन्होंने साहित्यकारों एवं राजनीतिज्ञों के भाव भीने संस्मरणात्मक रेखाचित्र लिखे हैं।

गद्यकाव्य

गद्यकाव्य छायावादी युग की विशेष देन है। वास्तव में इसका जन्म और विकास दोनों ही प्रायः उसी युग में हुआ। यों प्राचीनकाल से ही जो गद्य-साहित्य लिखा जाता रहा है उसमें ऐसे अंश मिल जाते हैं जिनमें तीव्र भावानुभूति को अलंकृत गद्य में अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। ऐसे भावपूर्ण स्थल विवेचनात्मक गद्य को छोड़कर प्रायः सभी प्रकार के सृजनात्मक लेखन में मिल जाते हैं। किन्तु न तो उन अंशों को ही और न ही ऐसे वर्णनों से युक्त रचनाओं को ही गद्य-काव्य कह सकते हैं। गद्यकाव्य एक स्वतंत्र विधा है जिसका मूल प्रेरणास्रोत रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचना 'गीतांजलि' है। 'गीतांजलि' न केवल संसार के सबसे बड़े पुरस्कार—नोबुल पुरस्कार से पुरस्कृत हुई थी, बल्कि उसमें एक विशिष्ट नवीनता एवं ताजगी थी जिसने हिन्दी लेखकों को बरबस आकर्षित कर लिया।

हिन्दी में गद्यकाव्य के उन्नायकों के रूप में रायकृष्णदास एवं माखनलाल चतुर्वेदी के नाम विशेष उल्लेखनीय है। 'साधना', 'छायापथ', 'पगला', 'संलाप', 'प्रवाल' आदि रायकृष्ण दास के श्रेष्ठ गद्यकाव्यों के संग्रह हैं। जयशंकर प्रसाद ने भी कई गद्य काव्य लिखे थे। 'साहित्य देवता' में माखनलाल चतुर्वेदी के कुछ विचारात्मक निबंधों को छोड़कर अधिकांश गद्यकाव्य संग्रहीत हैं।

गद्यकाव्य के लेखकों में वियोगी हरि का स्थान महत्त्वपूर्ण है। 'विश्वधर्म', 'अंतर्नाद', 'भावना', 'प्रार्थना', 'श्रद्धाकण', 'तरंगिनी', 'ठंडे छींटे' आदि संग्रहों में वियोगीहरि जी की भावविह्वल रचनाएँ पाठकों को पढ़ने के लिए मौन निमंत्रण देती हैं।

हिन्दी गद्यकाव्य के रचनाकारों में चंडी प्रसाद 'हृदयेश', रामकुमार वर्मा, सुदर्शन, मोहनलाल महतो वियोगी, लक्ष्मी नारायण 'सुधांशु', डा० रघुवीर सिंह, आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। किन्तु गद्यकाव्य को नई दिशा का उन्मेष करनेवाले हैं रामवृक्ष 'बेनीपुरी',। बेनीपुरी जी की रचनाएँ छायावादी अति भावुकता से मुक्त हैं: एक नई ललक और ताजगी से ओतप्रोत हैं। इनका स्वरूप भी साफ़-सुथरा और निखरा है। लेखक की पुस्तक 'गेहूँ और गुलाब' पढ़ने पर ही इस तथ्य का सही पता लग सकता है। दिनेश-नंदिनी डालमिया के गद्यकाव्य भी समादृत हुए हैं। समसामयिक युग में छायावादी अतिभावुकता के स्थान पर वैचारिकता के आने के कारण संप्रति गद्य-काव्य की रचना नहीं के बराबर हो रही है।

रिपोर्ताज

रिपोर्ताज हिन्दी की ही नहीं अपितु पाश्चात्य साहित्य की भी नवीनतम विधा है जिसका जन्म वास्तव में पत्रकारिता के साथ साहित्यिकता के संयोग से हुआ। इसका जन्म द्वितीय विश्व-युद्ध के समय हुआ जब साहित्यकारों ने युद्ध में राष्ट्रीयता एवं मानवीयता की भावना से भाग लिया और युद्ध-भूमि के दृश्यों, घटनाओं आदि का कलात्मक एवं रोचक प्रतिवेदन समाचार-पत्रों को भेजा। ये प्रतिवेदन निश्चित रूप से शुद्ध पत्रकारों से भिन्न थे जिनका पाठकों में खूब स्वागत हुआ और इस प्रकार इस नई विधा का जन्म हो गया।

हिन्दी के कुछ लेखकों ने रिपोर्ताज लिखे हैं, किन्तु उन्होंने नियमित रूप से कलम नहीं चलाई है। फलतः इस विधा के विविध कलात्मक पक्षों का न तो उद्घाटन हो सका है न ही पर्याप्त साहित्य सर्जना ही हो सकी है। हिन्दी के जिन थोड़े-से लेखकों ने रिपोर्ताज लिखे हैं उनमें प्रकाशचंद्र गुप्त, रांगेय राघव, प्रभाकर माचवे, अमृतराय, विष्णु प्रभाकर, कुबेरनाथ राय, निर्मल वर्मा, धर्मवीर भारती आदि विशेष उल्लेख्य हैं। बंगलादेश के स्वतंत्रता-संग्राम को निकट से देखकर धर्मवीर भारती एवं कमलेश्वर ने बड़े सजीव रूप में रोमांचक रिपोर्ताज लिखकर इस विधा के उत्कर्ष को बढ़ाया है।

आलोचना

सैद्धांतिक आलोचना की परंपरा संस्कृत एवं हिन्दी में बहुत पुरानी है। पर आधुनिक साहित्य के विवेचन एवं मूल्यांकन के लिए व्यावहारिक आलोचना की आवश्यकता पड़ी। इस नई आलोचना का पहला रूप पुस्तक-समीक्षाओं के रूप में भारतेन्दु-युग में प्रारंभ हो गया था। बालकृष्ण भट्ट एवं उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि ने व्यावहारिक समालोचना के क्षेत्र में प्रारंभिक प्रयास किए। भारतेन्दु ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध में सैद्धांतिक आलोचना का भी श्रीगणेश किया।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने आलोचना के क्षेत्र में पुस्तक-समीक्षा का स्तर ऊँचा किया और प्राचीन कवियों की व्यवस्थित आलोचना की परिपाटी चलाई। इसी समय नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका में खोज-पूर्ण निबंध लिखे जाने लगे जिनकी परंपरा में आगे चलकर विश्वविद्यालयों में शोध-प्रबंध लिखे गए। चंद्रधर शर्मा गुलेरी, श्यामसुंदरदास, गौरीशंकर हीराचंद ओझा आदि ने इस प्रकार की शोधपूर्ण आलोचनाओं के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। मिश्रबंधु, लाला भगवानदीन, पद्मसिंह शर्मा, कृष्ण-

बिहारी मिश्र आदि ने तुलनात्मक आलोचनाएँ लिखीं।

परंतु हिन्दी-आलोचना के वास्तविक रूप का विकास तीसरी एवं चौथे दशकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल के द्वारा हुआ। 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' तथा 'तुलसी' 'सुर' एवं 'जायसी' की समीक्षात्मक भूमिकाओं द्वारा व्यावहारिक आलोचना तथा 'चिन्तामणि के निबंधों द्वारा सैद्धांतिक समीक्षा को शुक्ल जी ने विशेष शास्त्रीय गरिमा प्रदान की। वस्तुतः शुक्ल जी आधुनिक काल के सर्वश्रेष्ठ आलोचक हैं।

शुक्ल जी के बाद शास्त्रीय-समीक्षा-प्रणाली को बाबू गुलाबराय, नंददुलारे वाजपेयी, हजारी-प्रसाद द्विवेदी एवं नगेन्द्र जैसे समीक्षकों ने आगे बढ़ाया है। समसामयिक युग के ये प्रमुख समीक्षक हैं। बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में मनोविज्ञान एवं मार्क्सवाद का प्रभाव हिन्दी-आलोचना पर पड़ा। इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय आदि ने प्रथम एवं रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान, नामवरसिंह आदि ने दूसरे प्रभाव के अंतर्गत अपनी समीक्षाएँ लिखीं। विश्वविद्यालयों के अंतर्गत होनेवाले शोधकार्य के परिणामस्वरूप भी अनेक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाश में आई हैं।

गद्य की इन मुख्य विधाओं के अतिरिक्त भी कुछेक विधाएँ हैं जिनको इस पुस्तक में स्थान नहीं मिला है। संक्षेप में पिछली एक शताब्दी के भीतर ही हिन्दी-गद्य पर्याप्त शक्ति-संपन्न हो गया है।

भाषा में व्यंजना-शक्ति का विकास

संकलन के इस भाग में द्विवेदी युग से लेकर आज तक की विविध विधाओं की रचनाएँ संकलित हैं। काल-विस्तार की दृष्टि से लगभग एक शताब्दी की भाषा-शैली का विकास इसमें देखा जा सकता है। भारतेन्दु युग की रचनाएँ इस दृष्टि से संकलित नहीं की गई हैं कि इनकी भाषा आज-कल की भाषा की तुलना में बहुत भी भिन्न थी। सच बात तो यह है कि तब हिन्दी गद्य का स्वरूप ही अनिश्चित था। भारतेन्दु के समय तक साहित्य का माध्यम गद्य नहीं था। इस समय के लेखकों की दो विशेषताएँ थीं। एक तो सब में हिन्दी की सेवा करने का उत्साह था, दूसरे सब की भाषा-शैलियाँ एक दूसरे से बहुत दूर थीं। आज भी किन्हीं दो लेखकों की शैलियों में अंतर का स्पष्ट निर्देश किया जा सकता है, पर इसके साथ ही भाषा का एक स्थिर स्वरूप भी विकसित हो चुका है जिसको अपनाने की सभी लेखक यथा-शक्ति चेष्टा करते हैं।

भारतेन्दु के समय में शब्दों के प्रयोग निश्चित नहीं हो पाए थे। प्रत्येक लेखक अपनी जानकारी

और मान्यता के अनुसार शब्दों का प्रयोग कर लेता था। इसके साथ ही लेखक स्थानीय शब्दों का भी व्यवहार कर लेते थे। भारतेन्दु की भाषा में काशी में प्रयुक्त विशिष्ट पदावली ढूंढ़ी जा सकती है। उसी प्रकार लाला श्रीनिवासदास की भाषा में दिल्ली के प्रयोग प्रायः मिल जाते हैं।

वाक्य-रचना में भी बड़ी अव्यवस्था थी। लेखकों को हम प्रायः सरल वाक्यों का प्रयोग करते पाते हैं। यदि कोई लेखक तनिक भी जटिल या गुंफित वाक्य-रचना करना चाहता था तो उसकी वाक्य-रचना कहीं उलझ जाती थी। व्यवहार द्वारा उपवाक्यों को एक बड़े वाक्य में पिरोने के लिए उपयुक्त संयोजकों का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया था। समर्थ भाषा के लिए छोटे और सरल वाक्यों का जहाँ महत्त्व है वहीं मिश्रित और गुंफित वाक्य-रचना भी अपेक्षित है। रामचंद्र शुक्ल, हजारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय, नगेन्द्र ऐसे लेखकों में बड़े-बड़े वाक्यों का प्रयोग मिलता है। पर इस स्थिति तक पहुँचने में भाषा को लगभग एक शताब्दी की लंबी यात्रा करनी पड़ी।

पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा की अस्थिरता दूर करने के लिए अथक प्रयत्न किया। 'हरिश्चंद्र चंद्रिका' और सन् १९२० ई० की 'सरस्वती' पत्रिका की भाषा की परस्पर तुलना करके देखने से द्विवेदी जी की सेवा का मूल्य आँका जा सकता है। रामचंद्र शुक्ल, श्यामसुंदर दास, पूर्णसिंह, प्रेमचंद तथा उस समय के कुछ अन्य लेखकों के हाथ में पड़कर भाषा का स्वरूप परिमार्जित और स्थिर हुआ। प्रेमचंद उर्दू की ओर से हिन्दी में आए थे। इनकी भाषा में गति थी, मुहावरों का उचित प्रयोग था और विविध भावों को व्यक्त करने की शक्ति थी। प्रेमचंद ने लोक-प्रचलित पदावली से अपना संबंध सदा बनाए रखा।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के आसपास एक विशेष प्रवृत्ति हिन्दी में दिखाई पड़ी। यह प्रवृत्ति अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लेखकों की भाषा में अधिक थी। ये लोग अँगरेज़ी शब्दों का हिन्दी-अनुवाद करदिया करते थे। 'दृष्टिकोण', 'वातावरण' आदि बहुत से शब्द आज हमारी भाषा में घुल-मिल गए हैं पर ये शब्द अँगरेज़ी के ढाँचे पर गढ़े गए हैं। यदि भाषा की परीक्षा की जाए तो ऐसे सैकड़ों शब्द मिलेंगे।

वाक्य-रचना पर भी अँगरेज़ी का बहुत प्रभाव पड़ा है। रामचंद्र शुक्ल जैसे लेखकों तक के बहुत-से वाक्यों के भीतर अँगरेज़ी वाक्यों की स्पष्ट ध्वनि सुनाई पड़ती है। पर इन समर्थ लेखकों ने अंग्रेज़ी के प्रभाव को पचा लिया था, इसलिए वह प्रभाव सहज ही लक्षित नहीं होता।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अँगरेज़ी का प्रभाव हिन्दी पर—विशेषतः हिन्दी-गद्य पर—और भी व्यापक हो गया। नव-लेखन के अंतर्गत अँगरेज़ी की भंगिमाएँ हिन्दी में सीधी उतरती आती हैं। विज्ञान, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के अनुवादों की भाषा पर भी अँगरेज़ी का बहुत प्रभाव

पड़ा है। दो भाषाएँ जब संपर्क में आती हैं और भावों तथा विचारों का आदान-प्रदान होता है तो एक का दूसरी पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य हो जाता है। पर जब यह प्रभाव इतना अधिक हो कि भाषा का स्वरूप ही विकृत होने लगे तो उसका नियंत्रण होना चाहिए।

फिर भी सब मिलाकर आज हिन्दी-गद्य-शैली अत्यंत समृद्ध एवं विकसित हो चुकी है; उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म और गंभीर से गंभीर भावों तथा विचारों को व्यक्त करने की पूर्ण सामर्थ्य है।

निबंध का अध्ययन

निबंध को समझने और उसका रसास्वादन करने के लिए निम्नलिखित तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :

1—निबंध की विषयवस्तु

2—विषयवस्तु को प्रस्तुत करने का उद्देश्य

3—निबंध की शैली।

निबंध के लिए स्वीकृत विषयों की कोई सीमा नहीं है। देखना यह चाहिए कि अभिव्यक्त विषय किस प्रकार का है। अर्थात् उसमें किसी बाह्य दृश्य आदि का चित्रण है अथवा किसी घटना, पात्र आदि का वर्णन, किसी मनोविकार आदि का निरूपण-विश्लेषण हुआ है या किसी प्रसंग का भावात्मक विवरण।

इसके पश्चात् उद्देश्य की ओर ध्यान देना चाहिए। लेखक कभी कुछ तथ्यों, दृश्यों या व्यापारों का विवरण देकर पाठक का ज्ञानवर्द्धन-मात्र करना चाहता है, तो कभी किसी दृश्य या अतीत की स्मृति में भावात्मक शैली से रमाना चाहता है; कभी वह पाठकों को कुछ प्रेरणा देना चाहता है तो कभी किसी सीख या निष्कर्ष तक ले चलना उसका ध्येय होता है। इस प्रकार विषयवस्तु और उद्देश्य निबंध को समझने में एक बड़ी सीमा तक सहायक होते हैं।

निबंध में लेखक का दृष्टिकोण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है। वस्तुतः इसी आधार-भूमि पर अवस्थित होकर निबंध के विवरणों का सर्वेक्षण किया जाता है। अतः निबन्ध में जो मूल्य, तथ्य, आवेग-संवेग, स्मृतियाँ अथवा पूर्वाग्रह आते हैं, वे इसी पर आश्रित होते हैं और इसी के द्वारा उन्हें जाना जा सकता है। रामचंद्र शुक्ल ने जिन संस्मरणों का संकेत अपने विचारप्रधान निबंधों में किया है वे उनके विषय-संबंधी दृष्टिकोण को ही सूचित करते हैं। निबंध में आत्मपरकता का समावेश इसी उपकरण द्वारा होता है।

निबंध में कलात्मक एकान्विति का रहना आवश्यक है। लेखक विचारों की स्थापना में किसी विचार या भाव पर विशेष बल देता है, पारस्परिक तुलना और विरोध व्यक्त करता है और नाटकीय परिवर्तन द्वारा विचारधारा को अभीप्सित दिशा में मोड़ने की चेष्टा करता है। निबंध की समीक्षा में इन तथ्यों की ओर ध्यान देना चाहिए।

निबंधकार का कौशल उसकी अभिव्यंजना-शैली में निहित होता है। निबंध को समझने और सराहने के लिए मुख्य रूप से यह देखना होगा कि विषयवस्तु को अभिप्रेत उद्देश्य के लिए किस ढंग से प्रयुक्त किया गया है। किसी भी विषय के संबंध में अनेक छोटे-बड़े विवरण हो सकते हैं। लेखक अपने उद्देश्य के लिए उनमें से आवश्यक का चयन कर लेता है। अतः निबंध के अर्थबोध के लिए चयन और नियोजन को ध्यान में रखना आवश्यक है।

भाषा के विविध स्तर भी मूल आशय का प्रतिपादन करने में सहायक होते हैं। उदाहरणार्थ व्यंग्य करते समय रामचंद्र शुक्ल तद्भव शब्दावली एवं उर्दू शब्दों का प्रयोग करते हैं तथा गंभीर विचारों के लिए तत्सम पदावली का। भाषा की प्रांजलता और समृद्धि केवल शब्दचयन पर ही निर्भर नहीं है, विचारों को सुस्पष्ट वाक्यों और स्वाभाविक शैली में उपस्थित करना और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए टकसाली शब्दों, मुहावरों, लोकोक्तियों आदि का समीचीन प्रयोग निबंध को अर्थवत्ता प्रदान करता है। निबंध में गृहीत बिम्बों, उदाहरणों एवं संदर्भों को भी प्रतिपाद्य विषय से संबद्ध करके देखना चाहिए।

संक्षेप में निबंध एक कलाकृति है जो पाठक के मन में आनंद की अनुभूति उत्पन्न करने में उसी प्रकार समर्थ होती है जिस प्रकार कविता, कहानी, नाटक आदि अन्य विधाएँ। इसी रूप में उसका अध्ययन करना चाहिए।

डा० भगवतशरण उपाध्याय

डा० भगवतशरण उपाध्याय का जन्म सन् १९१० ई० में उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में हुआ। आप संस्कृत साहित्य के कुशल अध्येता एवं हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध उन्नायक हैं। आपकी विशेष रुचि पुरातत्व एवं अनुसंधान में है। आपने भारत के प्राचीन इतिहास एवं भारतीय संस्कृति का विशेष दृष्टिकोण से अध्ययन किया है। आप कुछ दिनों तक काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की शोध-पत्रिका के संपादक रहे। बाद में पुरातत्व विभाग, प्रयाग संग्रहालय एवं लखनऊ संग्रहालय के अध्यक्ष रहे। तत्पश्चात पिलानी में बिड़ला महाविद्यालय में प्राध्यापक पद पर कार्य किया। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के तत्वावधान में प्रकाशित होनेवाले हिन्दी 'विश्वकोश' के संपादक-मंडल के सदस्य रहकर उल्लेखनीय कार्य किया। संप्रति आप विक्रम विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास विभाग में प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद पर कार्य कर रहे हैं। आपने कई बार विदेशों में जाकर भारतीय संस्कृति एव साहित्य पर अनगिनत व्याख्यान दिए। हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाने के लिए आपने सौ से भी अधिक पुस्तकें लिखी हैं और आज भी आपकी लेखनी अनवरत चल रही है प्राचीन गौरव को उद्घाटित करने में, वर्तमान को प्रतिष्ठापित करने में तथा भविष्य को सुंदर बनाने में। इसके अतिरिक्त आपने मौलिक साहित्यिक रचनाएँ भी की हैं जिनमें संस्मरन, फ़ीचर, निबंध आदि मुख्य हैं। प्राचीन भारत के प्रमुख अध्येयता एवं व्याख्यागार होते हुए भी आप गतानुगतिकता एवं परंपरावादिता से ऊपर हैं और अपने मौलिक एवं स्वतंत्र विचारों के लिए लोकप्रसिद्ध हैं।

आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं :—विश्व साहित्य की रूप-रेखा, साहित्य और कला, खून के छींटे इतिहास के पन्नों पर, कलकत्ता से पीकिंग, सागर की लहरों पर, कुछ फीचर कुछ एकांकी, इतिहास साक्षी हैं, ठूंठा आम, विश्व को एशिया की देन, मंदिर और भवन, 'वुद्ध वैभव' विमेन इन ऋग्वेद, इंडिया इन कालिदास, दि एन्शेण्ट वर्ल्ड आदि। अँगरेजी में लिखी पुस्तकें विदेशों में काफ़ी लोकप्रिय हैं।

संकलित पाठ 'मैं मजदूर हूँ' ललित निबंध है जिसमें आपने मज़दूरों के महत्त्व एवं कारनामों की बड़े ही रोचक एवं प्रभावशाली ढंग से विवेचना की है। इस निबंध से आपके इतिहास-ज्ञान एवं भाषा पर अद्भुत अधिकार की बानगी मिल जाती है। इसका विवेचन भावुकतापूर्ण है एवं शैली आलंकारिक।

मैं मज़दूर हूँ

मैं मजदूर हूँ—जीवनबद्ध, श्रम-शक्ति की इकाई।

मैं मेहनतकश मज़दूर हूँ। आदमी के बनैलेपन से लेकर आज की शिष्ट सभ्यता तक की सीढ़ियों पर मेरे हथोड़े की चोट है। ज़माने ने करवट ली है, काल के प्रवाह में ज्वार-भाटे आते-जाते रहे हैं, पर मैंने कभी ज़मीन से पीठ नहीं लगाई, सुस्ताने के लिए कभी फावड़े नहीं टिकाए। मेरे बाज़ू पर ज़माना टिका है, घुटनों पर अलकस दम तोड़ती है। मेरे कंधों पर भूमंडल का भार है, उसे उठानेवाले एटलस के साथ। पर मैं जो हूँ कि कभी गरदन नहीं मोड़ता, कंधे नहीं डालता, उन्हें कभी बदलता तक नहीं।

कंधे डाल दूँ तो गज़ब हो जाए, दुनिया लड़खड़ाकर गिर पड़े, ज़माने का दौर बंद हो जाए। पर मैं कंधे नहीं डालता, न डालूँगा। मैंने निरंतर निर्माण किया है, विध्वंस न करूँगा। यदि करना हुआ तो पुनर्निर्माण करूँगा, जिसके लिए मुझे कभी थकान नहीं महसूस होती, कभी अलकस नहीं लगती, रोआँ-रोआँ फड़कता रहता है।

मेरे निर्माण की परिधि की व्यापकता अनंत है, उदयाचल से अस्ताचल तक, क्षितिज के छोरों तक। हज़ारों वर्ष पहले, कलयुग भी जब अभी अंतराल के गर्भ में था, मैंने नदियों के बहाव रोक दिए, बहाव जो अभी ताज़ा थे, प्रखर प्रकृति-वेग से प्रेरित। बहाव रोककर सुविस्तृत ह्रद बनाए, जिनपर पर्जन्य-विरहित भूमि की उर्वरा शक्ति अवलंबित हुई। बढ़ते हुए समुंदर का मैंने जल सुखाया, दलदलों को ठोस ज़मीन का जामा पहनाया और उसपर फ़सलों की हरी धानी क्यारियाँ दौड़ाईं।

कश्मीर का नाम लेते हृदय में जो आनंद की लहरें उठने लगती हैं उसकी नम दलदलभरी भूमि किसने सौन्दर्य से रँगी ? किसने झेलम के तटवर्ती आकाश को सुरभि-बोझिल वायु से मदहोश किया ? किसने उसके केसर की फैली क्यारियों में जादू की मिट्टी डाली ? कल्हण की कलम से पूछो, किसने—किसने ?

दिन सोता था, रात सोती थी, पर मैं जागता था जब नीलनद की धारा छाती पर चट्टान ढोती थी, दखिनी पहाड़ों में मेरी काटी चट्टान। इन चट्टानों को मैंने नील की सबल छाती से उठाकर अपनी छाती पर रखा, अपने बाजुओं पर, कंधों पर, गरदन पर, और चढ़ा दिया पाच सौ फुट ऊपर आसमान की छाती छेद, गीज़ा और सक्कारा के मैदानों में, अपनी ज़िन्दा छातियों से, इसलिए मुर्दा छातियाँ उस धूप से भुनी बालू में पिरामिडों की छाया में चिर निद्रा में सोएँ।

मैंने पहाड़ काटा, चट्टानें खोदकर ताँबा निकाला, टीन, सोना, चाँदी, लोहा, कोयला हीरा। पाताल में घुसकर जब तपता दिन नरक की रातों की अंधियारी लिए उन खानों में उतरता, मैं पत्थर काटता होता, अपने मालिकों के लिए सोना निकालता होता। सोना जो मेरे लिए न था। कोलार की खानों से अमरीका की नई दुनिया तक। ज़मीन की छाती फाड़-फ़ाड़कर मैंने चमकता, लोहे से कठोर हीरा निकाला और दक्षिणी अफ्रीका में आज भी निकाले जा रहा हूँ, पर उसकी चमक के नीचे मेरी काली अँधियारी जिन्दगी है।

मेरी खोदी ज़मीन को घेरे शेर-से खूँखार कुत्ते खड़े रहते हैं, मुझे घूरते, मेरी एक-एक हरकत पर छलाँग मारते। अगर मैं अपनी जगह बुत बनकर खड़ा न रहा तो पीठ फेरते ही पिडलियाँ उनके मुँह में होंगी और उनके घेरे से बाहर निकलते ही वह अमानुष अपमान जिससे अंतर खुलकर चमक जाए। मैं हीरा निकालता हूँ !

रोम का वह 'कोलोसियम' मैंने अपने हाथों खड़ा किया, जैसे कभी एथेन्स में 'अरीना' का निर्माण किया था, जहाँ मेरे से ही गरीबों को श्रीमानों की दृष्टिसुख के लिए शेरों से लड़ना होता था। वैसे ही स्पेन के वे खूनी अखाड़े भी जहाँ लड़ाकों को साँड़ों

से मौत की बाज़ी लगानी होती थी।

बाबा आदम के वनों को काट मैंने पत्थर की-सी ज़मीन खोदकर नरम कर डाली। उसे जोत-बोकर हरा कर दिया। विजयों से लौटे हुए रोमन जनरलों की प्रांतीय भूमि, मीलों फैले खेत मैंने बोए-काटे, सामंतों की दुनिया मैंने बसाई, जिसकी ऊँची भूमि पर मैंने ही किले और दुर्ग खड़े किए, जिनकी गहराइयों में आदमी को भूखे शेर की भाँति कटघरों के पीछे रखा जाता था।

अफ्रीका के जंगलों से बनैली हालत में डाके, चोरी, साज़िश द्वारा मैं खींच ले जाया गया, एक दूर की अनजानी दुनिया में, समुंदर पार। पर मेरे लिए स्वदेश-विदेश की परिपाटी न थी। मैंने वहाँ भी गोरी दुनिया का पेट भरा, अपना पेट काटकर, संसार को अघा देनेवाली उपज के बीच भी भूखा रहकर। फिर वहीं उनके लिए आसमान चूमनेवाली इमारतें खड़ी कीं, जहाँ एक-एक में गाँव-नगर की संख्या बसी, मेरी झोपड़ियों से घृणा करनेवाली दुनिया।

मैं ज़मीन को खोदकर, उसे जोत-बोकर सोना उगलने पर मजबूर करता था, पर वह सोना खुद मेरे लिए न था। मेरे लिए वह सोना आग था जिसे छूकर मुझे शूल की नोक पर जलना होता। मुझे उस फ़सल को काटकर, दा-उसाकर राशि कर देना था, पर उसका एक दाना भी छूना मेरे लिए मौत का परवाना था, तिल-तिल मरने का, उन पीड़ाओं का जिनके लिए मनुष्य की मेधा ने एक से एक जतन प्रस्तुत किए थे। हाँ, मुझे उस कटे खेत की ज़मीन पर अब चिड़ियों की भाँति फिरने का अधिकार था, जहाँ कभी कोड़ों की चोट सीने पर झेलते हुए मैंने अन्न की राशि खड़ी की थी, कि मैं अपना आहार, मिट्टी में पड़े कणों को, चुन लूँ। तब कणाद का तप मैंने पूरा किया।

हाँ, मैं उस ज़मीन के साथ बँधा ज़रूर था। उस ज़मीन की तरह मैं निरीह भी था। ज़मीन बेची जाती थी, मैं भी उसी के साथ, मय जानवरों के, बिक जाता था। न उस ज़मीन को अपनी उपज खाने का हक था, न मुझे। प्राचीन काल से ही

मेरी संज्ञा घर के मवेशियों की सार्थकता रखती थी। प्राचीन ऋषि तक ने जानवरों की ही भाँति मुझपर भी दया करने की ताकीद की थी। गृहिणी को ऋषि ने मेरे प्रति करुण होने की हिदायत करते हुए मुझे चौपायों के साथ रखा, उसे गृह के सभी जनों के साथ 'दोपायों-चौपायों' की साम्राज्ञी होने का आशीर्वाद दिया, 'साम्राज्ञी द्विपदश्चतुष्पदः !'

जंगल काटकर मैंने गाँव खड़े किए, कस्बे और नगर। मैं भूमि के साथ बिकता रहा। फिर धीरे-धीरे मैंने विशाल जनसंकुल नगर बनाए जिनमें कारखानों-मिलों का दैत्य 'कोलाहल' के साथ धुँआ उगलने लगा। उनकी चिमनियों की छाया में रात-दिन मैं पसीना बहाता रहा। जब मशीन की चपेट में आकर मैं अपाहिज हो जाता, मेरा नाम रजिस्टर से खारिज़ कर दिया जाता, जब मैं उसकी चोट से गिरकर फिर न उठ पाता तब मैं सड़क के कूड़ों में डाल दिया जाता। मेरी मृत्यु की जवाबदेही किसी की न थी, न मेरे बाल-बच्चों के प्रति, न मालिकों की अपनी सरकार के प्रति। मोन्तेस्क और मिल लिखते ही रह गए।

और मेरे बाल-बच्चे ! उनके न घर थे न द्वार। मिलों की दीवारों की आड़, धुँए के बादलों की घनी छाया और टाट-फूँस-टिन से घिरी मेरी दुनिया, जिसमें मैं ही सपरिवार न था, मेरे-से अनेक अभागे थे। और वहाँ का पापमय, घिनौना जीवन, शर्मनाक नरक के कीड़ों का। उधर की ऊँची दुनिया में, संसदों में, पाप के विरुद्ध कानून बनते रहे और कानून बनानेवालों की इधर की दुनियां में उन कानूनों को चरितार्थ करते हम कृतकृत्य होते रहे। चारों ओर अँधेरा था, घरौंदों के पीछे, उन मकान कहलानेवाले घरौंदों के, जहाँ दिन-रात की मजूरी से थका-माँदा जीवन बिना लहराए टकराता और टकरा-टकराकर टूट जाता था। और ये घरौंदे उसी तेज़ी से गला-पचा जीवन उगलते थे जिस तेज़ी से दीवारों के पीछे कारखाने तैयार माल !

बैलगाड़ी से रथ बने, रथ से महारथ ! उधर हमारी मिलों ने क्रांति की, और हमने भाप से चलनेवाले इंजन गढ़ दिए, इंजन जो ज़मीन पर दौड़ते थे, पानी पर

तैरते थे। बैलगाड़ी रेल बनी और नाव जहाज़। रेल पानी में आग लगा सैकड़ों मील घंटों में दौड़ने लगी, जहाज़ आसमान चूमती लहरों पर तूफानों में नाचने लगे। पर मैं वहीं का वहीं रह गया।

मैंने जैसे मोटर-रेल से जमीन नापी थी, वैसे ही अब अपने ही बनाए हवाई जहाज़ों से बाजों के छक्के छुड़ाने लगा, पर जैसे मैं उनका कोई नहीं। भला उनके भीतर बैठनेवालों से मेरा क्या वास्ता? नाव चलानेवाला मल्लाह नाव पर, उसे अपना कह, दिन भर बैठ लेता है, हलवाई अपनी बनाई मिठाई को जब-तब चख लेता है, पर अपनी ही जोड़ी-बनाई मोटर को, जहाज़ को, क्या अपना या उनका कह एक मिनट को भी भोग सकता हूं?

इनके लिए मैं पहाड़ों से लोहा-कोयला-टिन खोदता हूँ, अल्युमिनियम तैयार करता हूँ, तेल और पेट्रोल निकालता हूँ। तेल और पेट्रोल, जिनके विस्फोट से अनेक बार मुझ जैसों की दुनिया पलट जाती है, जिनके लिए धर्म का झंडा फहरानेवाले बेदीनोईमान हो जाल-फ़रेब करते हैं, कानून बनाते हैं, कानूनी शर्तनामों के नाम पर खूनी लड़ाइयाँ लड़ते हैं।

खूनी लड़ाइयाँ! इनके लिए भी मैं अपना खून-पसीना एक करता हूँ। लड़ाइयाँ धर्म की हैं, अधर्म की हैं, गुस्से और बर्दाश्त की हैं, हक और नाहक की हैं, लड़ाई और अमन की हैं, दोनों को मिटा देने की भी हैं, और कई किस्म की हैं जैसा उनकी किस्म-किस्म की परिभाषा बनानेवाले कहते हैं। मैं नहीं जानता उनकी परिभाषाएँ। पिस्सू और खटमल तक की जान निकलते देख एक बार घबड़ा उठनेवाला मैं दानव की भाँति दिन-रात चलते मशीनों से संहार के साधन सिरजता जा रहा हूँ, क्योंकि मेरा कारखाना हथियारों का है, तोप-बंदूकों का, गोले-बारूद का, बम का।

पिस्सू-खटमल की चोट पर आँसू बहानेवाला मैं आखिर चींटी को चीनी चटाने वालों—'कृपालु पिता' के नाम पर 'सेमिनरी' चलाने-वालों—का नौकर ही तो

हूँ। मुझे इससे क्या कि जिन मशीनों, बंदूकों, तोपों, जहाज़ों के मैं टुकड़े-हिस्से बनाता हूँ, वे एक दिन मुझ-से ही हाड़-माँस के असंख्य जनों को उड़ा देंगे। सच, इससे मुझे क्या ? मैं तो तेली का बैल हूँ, मुझे कहीं भी नाध दो मैं चलता ही जाऊँगा, उन्हीं मशीनों की तरह जिन्हें चलानेवालों के इशारों चलना होता है।

सुंदर आसमान पर पुल बाँधनेवाला मैं अपनी कुव्वत आप नहीं जानता। एक बार भी मैं नहीं सोचता कि मेरे जिन हाथों में भरे मैदानों को वगैर खून बहाए सुला देने का जादू है उनमें मसीहा का भी असर है। काश मैं इसे समझ लेता ! काश मैं इसके राज़ को अपने सामने बिखरे मृत्यु के इन साधनों को सिरजते इन्हीं की भाँति साफ़ देख लेता !

संसार आसमान के छोरों तक फैला हुआ है, धरती का विस्तार क्षितिज के पार तक वैसा ही व्यापक है जैसा आसमान, रत्नाकर का सौन्दर्य उतना ही अमित है जितना वसुंधरा का, और उनके मंथन से शहरों में समृद्धि भरी है, परंतु वह मेरे लिए क्यों नहीं है, मैं पूछता हूँ ? मुझ में कभी दानव की शक्ति थी, मेरे इस मानव की मज्जा में, मेरी इन शिराओं में फ़ौलाद के तारों की जकड़ थी, पर आज इतना निःसत्व मैं क्यों हूँ, इतना नगण्य और नंगा क्यों ?

दुनिया में क्या नहीं ? कौन-सी चीज़ मैंने अपने हाथों नहीं पैदा की ? मेरे सहारे कारखाने अमित मात्रा में माल उगलते जा रहे हैं। मैं तृण से ताड़ बनाता हूँ, तिल से पहाड़। नगर को ढो सकनेवाले जहाज़ों से लेकर सुई तक कोई महान् और अदनी चीज नहीं जो मेरे स्पर्श के जादू से जीवन धारण न कर लेती हो। पर यह सब कुछ भी मेरे लिए क्यों नहीं ? मैं इनमें से तिनका तक भी नहीं ले पाता। मैं भूखा और नंगा हूँ पर क्या ये मिलें जिनमें मैं खाने-पहनने का अपार सामान तैयार कर रहा हूँ मेरा पेट नहीं भर सकतीं, तन नहीं ढक सकतीं ? इसका उत्तर भला कौन देगा— इन्हें जो बनाता है वह मैं, या जिनके लिए बनाता हूँ वे ?

— भगवतशरण उपाध्याय

प्रश्न-अभ्यास

१. जीवन-बद्ध-श्रम-शक्ति की इकाई के रूप में मजदूर की महत्ता और उपयोगिता प्रमाणित कीजिए।

२. संसार का सारा नव-निर्माण और पुनर्निर्माण करने पर भी मजदूर इतना निःसत्व और नगण्य क्यों है ? आप उसकी दशा सुधारने के लिए क्या-क्या करना चाहेंगे ?

३. संसार के उत्कर्ष में मजदूरों के योगदान पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।

४. इस निबंध को लेखक ने किस भाव से प्रेरित होकर लिखा है ? अपने उत्तर का समर्थन इस पाठ से उपयुक्त उद्धरणों को उद्धृत करते हुए कीजिए।

५. इस पाठ को पढ़ने के बाद मज़दूरों के प्रति आपके हृदय में क्या-क्या भाव जगे ?

६. इस निबंध को लिखने का क्या उद्देश्य है ?

(क) मज़दूरों के प्रति सहानुभूति जगाना।

(ख) मजदूरों के कारनामे गिनाना।

(ग) मजदूरों की महत्ता प्रतिपादित करना।

(घ) मजदूरों की दीन-हीन दशा दर्शाना।

७. इस निबंध की रूपरेखा चौथाई पृष्ठ में तैयार कीजिए।

८. इस पाठ के शब्द-चयन और वाक्य-विन्यास की कतिपय विशेषताओं को उद्घाटित कीजिए।

गुलाब राय

बाबू गुलाबराय का जन्म सन् १८८० ई० में इटावा (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। आपकी प्रारंभिक शिक्षा मैनपुरी में हुई। आगरा से आपने एम० ए० और एल-एल० बी० परीक्षाएँ पास कीं।

गुलाबराय जी आरंभ में छतरपुर नरेश के निजी सचिव नियुक्त हुए और आपने बहुत दिनों तक वहाँ कई उच्च पदों पर कार्य किया। छतरपुर से सेवामुक्त होकर आप आगरा में बस गए और जीवन-पर्यन्त साहित्य-साधना करते रहे। 'साहित्य-संदेश' नामक आलोचना-पत्रिका का विकास आपके संपादन में हुआ। साहित्यिक सेवाओं के लिए आगरा विश्वविद्यालय ने आपको डी० लिट० की उपाधि से सम्मानित किया था। आपकी मृत्यु १९६३ ई० हुई।

गुलाबराय जी ने साहित्य के अतिरिक्त दर्शन, नीति, मनोविज्ञान आदि विषयों पर भी लिखा है। साहित्यिक क्षेत्र में 'नवरस', 'सिद्धांत और अध्ययन', 'काव्य के रूप', 'हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास' (आलोचना ग्रंथ), 'मेरी असफलताएँ' और 'मेरे निबंध', व्यक्तिपरक निबंधों के संग्रह हैं। इन निबंधों में हास्य एवं व्यंग्य का पुट विशेष रूप से मिलता है। आप अपनी बात एक सफल अध्यापक की भाँति स्पष्ट करते चलते हैं और बीच-बीच में आवश्यकता पड़ने पर उपयुक्त उदाहरण भी देते हैं।

प्रस्तुत निबंध आपके निबंध-संग्रह 'प्रबंध प्रभाकर' से लिया गया है। इसमें आपने बड़े प्रभावशाली ढंग से यह बताया है कि ऊपरी मतभेद और विभिन्नता के रहते हुए भी वास्तव में सारा भारतवर्ष एक है।

भारत की सांस्कृतिक एकता

भाषा और धर्मों एवं रीति-रिवाजों के भेद को आधार बनाकर हमारी राष्ट्रीयता के विचार को खंडित करने के लिए कुछ लोग इस देश को देश न कहकर उपमहाद्वीप कहते हैं। वे भूल जाते हैं कि प्रायः सभी देशों में जाति, भाषा और धर्मगत भेद हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में ही कई जातियाँ हैं। वहाँ भाषाएँ भी कई बोली जाती हैं, किन्तु एक केन्द्रीय भाषा सबको मिलाए हुए है। स्विटज़रलैण्ड में जर्मन, फ्रांसीसी तथा इतालवी तीन भाषाएँ बोली जाती हैं। फिर भी वह एक सुसंगठित राष्ट्र है। जिस देश में भेद नहीं, उसकी इकाई शून्य या गणित-शास्त्र की इकाई की भाँति दरिद्र इकाई है। संपन्नता भेदों में ही है, किन्तु भेद इतने न होने चाहिए कि उनमें सामंजस्य न रहे।

वैसे तो केंचुआ भी एक इकाई है, उसमें आँख, कान, नाक और हाथ-पैर का भेद नहीं; केवल एक ही स्पर्शेन्द्रिय सारी ज्ञानेन्द्रियों का प्रतिनिधित्व करती है; किन्तु क्या उसका जीवन सपन्न कहा जाएगा ? मनुष्य अपने अवयवों के बाहुल्य और इनके समायोजन और संगठन के कारण जीवधारियों में सबसे अधिक विकसित और श्रेष्ठ गिना जाता है।

भेदों के अस्तित्व से इंकार करना मूर्खता होगी और उनकी उपेक्षा करना अपने को धोखा देना होगा। हमारे समाज में भेद और अभेद दोनों ही हैं, पर हमारे अभेदों की उपेक्षा की गई या उनको नगण्य समझा गया। हमारी भौगोलिक इकाई हिमालय पर्वत और सागर से है। उसे छिन्न-भिन्न किया गया है। इसमें कुछ राजनीतिक स्वार्थ भी सहायक हुए। प्राचीन काल में राष्ट्रीयता की धारा अबाधित तो नहीं

रही है : आंतरिक द्वेष कभी-कभी प्रबल हो उठे हैं, किन्तु भारतवासी एकच्छत्र सार्वभौम राज्य से अपरिचित न थे। राजसूय, अश्वमेघ आदि यज्ञ ऐसे ही राज्य की स्थापना के ध्येय से किए जाते थे। इनके द्वारा टूटी हुई राष्ट्रीय एकता जुड़कर अविरल धारा का रूप धारण कर लेती थी।

राजनीति की अपेक्षा धर्म और संस्कृति मनुष्य के हृदय के अधिक निकट हैं। यद्यपि राजनीति का संबंध भौतिक सुख-सुविधाओं से हैं फिर भी जन-साधारण जितना धर्म से प्रभावित होता है उतना राजनीति से नहीं। हमारे भारतीय धर्मों में भेद होते हुए भी उनमें सांस्कृतिक एकता है, जो उनके अविरोध की परिचायक है। त्याग, तप एवं मध्यम मार्ग की वही संयममयी भावना हिन्दू, बौद्ध, जैन और सिख संप्रदायों में समान रूप से वर्तमान है। एक धर्म के आराध्य दूसरे धर्म में महापुरुष के रूप में स्वीकार किए गए हैं। भगवान बुद्ध तो अवतार ही माने गए हैं। भगवान ऋषभदेव का श्रीमद्भागवत में परम आदर के साथ उल्लेख हुआ है। जैन धर्म-ग्रंथों में हिन्दू-देवताओं को भी उनके देवमंडल में स्थान मिला है। भारत में उद्भूत प्रायः सभी धर्म आवागमन में विश्वास करते हैं।

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की शिक्षा हिन्दू, जैन और बौद्ध धर्मों में समान रूप से प्रतिष्ठित है। स्वस्तिक चिह्न और ओंकार मंत्र हिन्दुओं और जैनों में समान रूप से मान्य हैं। कमल और हाथी तथा अश्वत्थ वृक्ष बौद्धों और हिन्दुओं में एक रूप से पूजनीय माने जाते हैं। जैनों के अणुव्रत, हिन्दू-धर्म के योग-शास्त्र में 'यम' और बौद्धों के पंचशील प्रायः एक ही हैं। पारसियों और हिन्दुओं में अग्नि की पूजा समान रूप से होती है। ज़ेन्दावेस्ता की गाथाओं और वैदिक ऋचाओं में भाषागत समानता है। पारसी लोग गोमांस नहीं खाते।

सिख-गुरुओं ने हिन्दू-धर्म की रक्षा में योग ही नहीं दिया वरन् उसके लिए कष्ट और अत्याचार भी सहे। उन्होंने, विशेषकर गुरु नानक और गुरु गोविन्दसिंह ने,

हिन्दी में कविता की है। उनके धर्म-ग्रंथों में रामनाम की महिमा गाई गई है। गुरु गोविन्दसिंह ने चंडी का भी स्तवन किया है। 'गुरुग्रंथ साहिब' में कबीर आदि महात्माओं की वाणी आदर के साथ सुरक्षित है, उसका नित्य पाठ होता है। सिखों के गुरु लोग हमारे संतों में अग्रगण्य समझे जाते हैं और उनका आदर के साथ स्मरण किया जाता है।

मुसलमान और ईसाई धर्म एशियाई धर्म होने के कारण भारतीय धर्मों से बहुत कुछ समानता रखते हैं। यूरोप से भी पहले ईसाई धर्म को दक्षिण भारत में स्थान मिला है। कुछ लोगों का तो कहना है कि स्वयं ईसा ने भारत में ही शिक्षा पाई थो। 'दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करो जैसा कि तुम दूसरों से अपने प्रति चाहते हो'—ईसामसीह का यह कथन महाभारत के 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का ही पर्याय है। ईसाइयों की क्षमा और दया बौद्ध धर्म से मिलती-जुलती है। मैं यह नहीं कहता कि किसने किससे लिया, परंतु इन मौलिक सिद्धांतों में हिन्दू, बौद्ध और ईसाई धर्मों में समानता है। रोमन कैथोलिकों की पूजा-अर्चा, धूप-दीप, व्रत-उपवास आदि हिन्दुओं के-से हैं।

मुसलमानों और ईसाइयों ने यहाँ की संस्कृति को प्रभावित किया है, और वे यहाँ की संस्कृति से प्रभावित हुए हैं। भारतीय सूफ़ी कवियों ने वेदांत की भावभूमि को अपनाया है और उनके ग्रंथों में हिन्दू-परंपराओं, कथाओं, विचारों, देवी-देवताओं और प्रतीकों का समावेश हुआ है। तानसेन और ताज पर हिन्दू-मुसलमान समान रूप से गर्व करते हैं। जायसी, रहीम, रसखान, रसलीन आदि अनेक मुसलमान कवियों ने अपनी वाणी से हिन्दी की रसमयता बढ़ाई है। रसखान के सवैये तो सचमुच रस की खान हैं।

प्राचीन काल से भारतीय धर्म और साहित्य ने राष्ट्रीय एकता का पाठ पढ़ाया है। सभी काव्य-ग्रंथ, चाहे वे उत्तर के हों चाहे दक्षिण के, रामायण और महाभारत को अपना प्रेरणास्रोत बनाते रहे हैं। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के आम्नाय और काव्य-

ग्रंथ उत्तर दक्षिण में समान रूप से मान्य हैं। कालिदास के 'रघुवंश' और भवभूति के 'उत्तर-रामचरित' में उत्तर और दक्षिण के प्राकृतिक दृश्यों का बड़ी रसमयता के साथ वर्णन आया है।

हिन्दू-तीर्थाटन में धार्मिक भावना के साथ राष्ट्रीय भावना भी निहित है। शिवभक्त ठेठ उत्तर की गंगोत्री से जाह्नवी-जल ले जाकर दक्षिणी सीमा के रामेश्वरम्, महादेव का अभिषेक करते हैं। उत्तर में बदरी-केदार दक्षिण में रामेश्वरम् पूर्व में जगन्नाथपुरी और पश्चिम में द्वारकापुरी के तीर्थाटन में भारत की चारों दिशाओं की पूजा हो जाती है।

स्वामी शंकराचार्य ने भारत की चारों दिशाओं में अपने मठ स्थापित किए थे। उत्तर में ज्योतिर्मठ, दक्षिण में श्रृंगेरी मठ, पूर्व में गोवर्धन मठ और पश्चिम में शारदा मठ। ये भगवान शंकराचार्य की दिग्विजय के कीर्तिस्तंभ ही नहीं वरन् भारत की एकता के भी परिचायक चिह्न हैं। दक्षिण के अन्य आचार्यों के संप्रदाय अविरोध भाव से उत्तर में फूले-फले और विकसित हुए। बंगाल के चैतन्य महाप्रभु के संप्रदाय ने भी मथुरा-वृंदावन में अपनी शिष्य-परंपरा स्थापित की। इन संप्रदायों के मंदिर बने और इनकी पूजा-अर्चा ने उत्तर प्रदेश के जीवन और साहित्य को प्रभावित किया। हिन्दी साहित्य गगन के सूर्य और शशि-स्वरूप सूर और तुलसी दक्षिण के संप्रदायों से ही प्रभावित थे।

अब भाषा का प्रश्न आता है। उत्तर भारत की प्रायः सभी भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और उन सभी के शब्दों में पारिवारिक समानता है। दक्षिण की भाषाएँ भी संस्कृत से प्रभावित हुई हैं। उन्होंने भी संस्कृत की शब्दावली ग्रहण की, किसी ने थोड़ी तो किसी ने बहुत। उर्दू को छोड़चर प्रायः सभी भाषाओं की वर्णमाला एक नहीं तो एक-सी है। केवल लिपि का भेद है। मराठी और हिन्दी की लिपि भी समान है। संस्कृत की परिनिष्ठित लिपि होने के कारण देवनागरी प्रायः सभी प्रांतों में चिर-परिचित है। लिपिभेद होते हुए भी उर्दू का हिन्दी के साथ साम्य है। भाषा की जमीन

और व्याकरण प्रायः एक-से हैं। बेल-बूटे फारसी-अरबी के हैं। प्रेमचंद, अश्क, सुदर्शन, कृष्ण चंदर ने हिन्दी में भी लिखा और उर्दू में भी। भारत की प्रायः सभी भाषाओं का साहित्य भगवान राम और कृष्ण की पावन गाथाओं से आप्लावित रहा है, सभी ने संतों और वीरों का स्तवन किया है, सभी भाषाओं के साहित्य ने स्वतंत्रता की लड़ाई में योगदान किया है। भाषाओं का भेद होते हुए भी विचारों की एकध्येयता रही है।

भारत की विभिन्न भाषाओं के साहित्य का इतिहास घुला-मिला-सा प्रतीत होता है। उनके बीच कोई अभेद्य दीवार न थी। मीरा गुजराती और हिन्दी की समान रूप से कवयित्री मानी जाती हैं। मीरा के गीतों से बंगाल भी प्रभावित हुआ है। भूषण की वाणी का महाराष्ट्र में भी आदर हुआ था। संत तुकाराम आदि महाराष्ट्र-संतों ने अपनी कविता में हिन्दी को भी अपनाया। विद्यापति समान रूप से हिन्दी, मैथिली और बंगला के कवि माने जाते हैं। कबीर, दादू आदि संतों का व्यापक प्रभाव रहा है। उन्होंने अपने एकतारे की तान में सारे भारत को बाँध दिया। तुलसीकृत रामायण का मराठी और बंगला में भी अनुवाद हुआ। सूरदास के भजनों को प्रायः सभी प्रांतों के गवैयों और भक्तों ने अपनाया। बंगला के 'वंदेमातरम' और 'जन-गण-मन' राष्ट्रीय गीत बने।

हमारा एक जातीय व्यक्तित्व है। वेश-भूषा, रहन-सहन और शक्ल-सूरत में भेद होते हुए भी भारतवासी अपने जातीय व्यक्तित्व से पहचान लिए जाते हैं। वह व्यक्तित्व हमारी जातीय मनोवृत्ति, जीवन-मीमांसा, रहन-सहन, रीति-रिवाज, उठने बैठने के ढंग, चाल-ढाल, वेश-भूषा, साहित्य, संगीत और कला में अभिव्यक्त होता है। विदेशी प्रभाव पड़ने पर भी वह बहुत अंशों में अक्षुण बना हुआ है। वही हमारी एकता का मूल सूत्र है।

—गुलाबराय

प्रश्न-अभ्यास

१. विदेशी शासकों ने भारत पर शासन करते रहने के लिए क्या-क्या षड्यंत्र रचे ?

२. भारत को एक राष्ट्र नहीं मानने के लिए विदेशी क्या-क्या तर्क देते हैं ? लेखक ने उन तर्कों का किस प्रकार खंडन किया है ?

३. 'जिस देश में भेद नहीं······सामंजस्य न रहे।' इन पंक्तियों की व्याख्या करते हुए कुछ उदाहरण देकर सिद्ध कीजिए कि संपन्नता भेदों में ही है।

४. 'प्राचीन भारत में राष्ट्रीय एकता वर्तमान थी' इस कथन की पुष्टि लेखक ने किस प्रकार की है ? प्राचीन इतिहास की जानकारी के आधार पर आप भी एक दो उदाहरण देकर इस कथन की पुष्टि कीजिए।

५. धर्म और संस्कृति राजनीति से किस प्रकार श्रेष्ठ है ?

६. "हमारे भारतीय धर्मों में भेद होते हुए भी उनमें सांस्कृतिक एकता है, जो उनके अविरोध की परिचायक है।" कुछ उदाहरण देकर इस कथन की पुष्टि कीजिए।

७. इस्लाम व ईसाई धर्मों और भारतीय धर्मों में वर्तमान समानताओं को सोदाहरण उद्घाटित कीजिए।

८. प्रमाणित कीजिए कि विविध भारतीय भाषाओं तथा उनके साहित्य दोनों में मूलभूत समानताएँ वर्तमान हैं और उनमें राष्ट्रीयता की अविरल धारा प्रवाहित होती रही है।

९. जातीय मनोवृत्ति, जीवन-दर्शन, रहन-सहन, रीति-रिवाज और कला के आधार पर भारत के विशिष्ट जातीय व्यक्तित्व का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

१०. भारतीय संस्कृति पर गुलाबराय, वासुदेव शरण अग्रवाल, दिनकर, इंद्रविद्या- वाचस्पति, भगवतशरण उपाध्याय, हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि के निबंधों को पढ़िए।

नगेन्द्र

डा० नगेन्द्र का जन्म अतरौली, जिला अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश) में सन् १६१५ ई० में हुआ था। आप अँगरेज़ी तथा हिन्दी-साहित्य के एम० ए० हैं। आगरा विश्वविद्यालय से आपने सन् १६४७ ई० में डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। आरंभ में, कुछ वर्षों तक, दिल्ली के कामर्स कालेज में अँगरेजी साहित्य का अध्यापन किया फिर आकाशवाणी में हिन्दी समाचार-विभाग के अधीक्षक रहे और आजकल आप दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्रोफ़ेसर हैं।

नगेन्द्र जी ने कवि-रूप में साहित्य में प्रवेश किया पर शीघ्र ही समालोचना आपका विशेष क्षेत्र बन गई। 'सुमित्रानंदन पंत' आपकी पहली आलोचना-पुस्तक है। इसके उपरांत 'साकेत एक अध्ययन', 'आधुनिक हिन्दी नाटक', 'विचार और अनुभूति', 'रीतिकाव्य की भूमिका', 'देव और उनकी कविता', 'अनुसंधान और आलोचना', 'आधुनिक कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ', 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका', 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' आदि आपके अनेक आलोचना-ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। 'रस-सिद्धांत' आपकी सैद्धांतिक आलोचना की अप्रतिम पुस्तक है।

नगेन्द्र जी काव्यशास्त्र, रीति-साहित्य और आधुनिक काव्य के मर्मज्ञ आलोचक हैं। तत्व-चिन्तक होने के साथ ही आपने कवि-हृदय भी पाया है। आपकी चिन्तन-शक्ति जहाँ कवि की कृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण और उपयुक्त मूल्यांकन करने में समर्थ है वहाँ आपकी भावुकता सहज ही कवि की अनुभूति से तादात्म्य स्थापित कर लेती है।

आपकी शैली सतर्क एवं प्रखर है। ऐसा प्रतीत होता है लेखक प्रत्येक शब्द का नाप-तोल कर प्रयोग कर रहा है। प्रत्येक वाक्य अपने-अपने अंग-उपांग सहित व्यवस्थित और सुगठित रहता है।

'मेरी मास्को-यात्रा' एक यात्रा-वृत्तांत है जिसमें मास्को का आँखों देखा हाल तो वर्णित ही है, साथ ही लेखक की उसके प्रति क्या प्रतिक्रिया है, यह भी है। सोवियत रूस ने एक छोटी-सी अवधि में जो प्रगति की है और वहाँ का जनमानस और जनजीवन कैसा है आदि की भी झलक मिल जाती है। लेखक जहाँ-जहाँ सोवियत रूस के सौन्दर्य को देखकर अभिभूत हो गया है वहाँ-वहाँ काव्यात्मक वर्णन स्वयं फूट निकला है जिससे पाठ अत्यंत रोचक बन गया है। सोवियत रूस के बारे में लेखक ने बहुत-सी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भी दी हैं।

मेरी मास्को-यात्रा

१६ अगस्त, १९६७ को पूर्वाह्न में ११-३० बजे हम इल्यूशिन विमान द्वारा ताशकंद से मास्को के लिए रवाना हुए। यह दूरी लगभग ४,००० किलो मीटर की है और ४-३० घंटे में तय होती है। नियत समय पर वायुयान मास्को के राष्ट्रीय हवाई-अड्डे पर पहुँच गया। उतरते हुए विमान से दृश्यमान मास्को का वह दिगंत विस्तार और विराट् ऐश्वर्य अद्भुत था। वहाँ के विशाल वायुयानों को देखकर पुराणों की यह कल्पना साकार हो उठी कि आदिम युग में पर्वत भी उड़ा करते थे। अंतर्राष्ट्रीय हवाई-अड्डे का विस्तीर्ण प्रांगण दृष्टि को बाँध लेता था। उन भव्य भवनों के विराट् आयामों में मानो मानव-मन की ऊर्जा राशिभूत हो गई थी। ऐसे ही परिवेश से अभिभूत होकर कदाचित् कालिदास ने हिमालय के अनंत हिम-प्रसार की भगवान शंकर के राशिभूत अट्टहास से उपमा दी थी। मास्को के इस विराट् परिदृश्य को देखकर यह लगता था जैसे मेरे अपने व्यक्तित्व का विस्तार हो रहा है—यह अनुभव कुछ ऐसा ही था, जैसा कि हिमालय या समुद्र के अनंत प्रसार को देखकर होता है। केवल एक ही भेद था—प्रकृति के ऐश्वर्य के माध्यम से जहाँ परोक्ष सत्ता के विराट् रूप का आभास होता है, वहाँ इस नगर के वैभव को देखकर मानव के असीम गौरव का प्रभाव मन पर पड़ता था।

मास्को का रूसी नाम मस्क्वा है। सोवियत-संघ का यह सबसे बड़ा शहर है और विश्व में इसका स्थान पाँचवाँ या छठा है। इसका नामकरण मस्क्वा नदी के नाम पर हुआ है जो अब शहर के बीच में होकर बहती है। आबादी करीब पैंसठ लाख है और इतिहास लगभग आठ सौ वर्ष पुराना। द्वितीय विश्वयुद्ध में सोवियत-संघ के

लिए मास्को का संरक्षण न केवल राष्ट्रीय सम्मान का, वरन् जीवन-मरण का प्रश्न बन गया था और उसमें विजय प्राप्त करने के बाद मास्को नगर को 'आर्डर ऑफ़ लेनिन' से अलंकृत किया गया था।

विमान से उतरते ही मेरे मित्र, हिन्दी-उर्दू के रूसी विद्वान्—डा० दीमशित्स तथा मैत्री-संघ के अन्य प्रतिनिधियों ने हमारा स्वागत किया। हमारे आवास की व्यवस्था 'यूक्राइना' में की गई थी। 'यूक्राइना' मास्को का बड़ा ही आलीशान होटल है जिसमें लगभग २० मंज़िलें हैं। होटल की इमारत बाहर से बड़ी भव्य और भीतर से उतनी ही स्वच्छ है। नई होने पर भी उसमें रूस की मध्ययुगीन वस्तु-शैली का प्रयोग है। हम लोग पाँचवीं मंज़िल पर ठहरे थे—और मेरे कमरे का नंबर था ५३०। लिफ़्ट पर चढ़ते-उतरते समय मैं हाथ का पंजा दिखाकर पाँचवीं मंज़िल का संकेत करता था और वहाँ पहुँचकर मेज पर लगे चित्र पर उँगली रखकर कमरा नं० ५३० की चाबी माँगता था। 'पाँच' और 'पाँच-सौ-तीस' के रूसी पर्याय भी मैंने याद कर लिए थे।

१६ अगस्त की शाम को मैत्री-भवन में भारतीय स्वातंत्र्य-पर्व का आयोजन हुआ, जिसमें सोवियत-संघ के उप-प्रधानमंत्री तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारी, भारतीय दूतावास के सदस्य एवं कर्मचारी तथा अनेक प्रवासी भारतीय नर-नारी उपस्थित थे। इस उत्सव में पूर्ण व्यवस्था और सद्भाव का वातावरण था: आतिथेय वर्ग की ओर से प्रस्तुत स्वागत-कार्यक्रम में—उनके भाषणों और वक्तव्यों में—भारत के प्रति हार्दिक सौहार्द की अभिव्यंजना थी, उनके वचन और व्यवहार से यह स्पष्ट था कि वे हृदय से भारत की सुख-शांति के अभिलाषी हैं।

अभिनंदन के उपरांत सांस्कृतिक कार्यक्रम की योजना की गई जिसमें नृत्य-गीत के समारोह के साथ-साथ व्यायाम और कौतुक आदि का भी प्रदर्शन था। रूसी शैली का हंस-नृत्य अत्यंत भाव-पेशल प्रयोग था। उसके सर्वथा विपरीत था संगीत का कार्यक्रम जिसमें रूस का राष्ट्रीय पौरुष मुखरित था—गायक के स्वर और उसके सहचारी वाद्यनाद का वैभव अपूर्व था, लगता था मानो पर्वत-कंदराओं में मेघों का

मंदघोष प्रतिध्वनित हो रहा हो। मुझ जैसा व्यक्ति भी जिसका मन भारतीय संगीत में भी अर्थ के सौन्दर्य से आगे प्रायः नहीं बढ पाता, रूसी संगीत के इस नाद गांभीर्य से अप्रभावित नहीं रह सका। व्यायाम और जादू के खेल पूरी सफ़ाई और फुर्ती के साथ पेश किए गए थे जो एक संपन्न जाति के स्वस्थ मन और स्वस्थ तन के प्रतीक थे। रूस में पुतलियों के खेल बाल-मनोरंजन के साधन-मात्र न रहकर अब एक विकसित कला का रूप धारण कर चुके हैं। मास्को में उनके लिए अलग मंच बना हुआ है, जहाँ पुतलियों के द्वारा बाकायदा छोटे-छोटे रूपकों का प्रदर्शन होता है।

हमारी आतिथेया- श्रीमती येरशोवा हमें एक व्यंग्य-नाट्य दिखाने ले गईं जिसमें अमरीकी अर्थ-व्यवस्था पर कटाक्ष था। यह अपने-आप में पूर्ण एक छाया-नाटक था जो ५-६ पुतलियों के द्वारा प्रस्तुत किया गया था। इन पुतलियों का संचालन नेपथ्य से कुछ प्रशिक्षित कलाकार कर रहे थे। पुतलियाँ प्रायः उतनी ही बड़ी थीं जितनी कि हमारे यहाँ होती हैं, परंतु परदे पर उनकी छाया सामान्य स्त्री-पुरुषों के आकार की ही जान पड़ती थी। वे उसी तरह उठती-बैठतीं, चलती-फिरतीं और व्यवहार करती थीं—उसी तरह अपने राग-द्वेष, शोक-क्रोध की अभिव्यक्ति करती थीं, जिस तरह साधारण मनुष्य करते हैं। उनके संवाद टेप किए हुएं थे—और छाया-प्रकाश का प्रयोग इतना व्यवस्थित था कि पुतलियों की सूक्ष्म मुद्राएँ भी बिलकुल साफ़ नज़र आती थीं। चित्र की माध्यम-भाषा रूसी थी, अतः हमारी मेजबान श्रीमती येरशोवा बीच की कुर्सी पर बैठी हुई साथ-साथ अँगरेज़ी रूपांतर करती चलती थीं। श्रीमती येरशोवा का अंतर्बाह्य व्यक्तित्व अत्यंत मधुर था—उनकी रूपाकृति तथा वाणी-व्यवहार में एक सहज मार्दव था जिसका मन पर बड़ा सुखद प्रभाव पड़ता था।

मास्को की जनता नाटक-सिनेमा आदि की बड़ी शौकीन है। वहाँ न जाने कितने सिनेमाघर हैं, जहाँ नगर की जनसंख्या का एक प्रतिशत भाग एक-साथ बैठकर मनोरंजन कर सकता है। मास्को के सबसे प्रसिद्ध रंगमंच हैं बोलशोई थियेटर

और आर्ट थियेटर जिसका नाम गोर्की आर्ट थियेटर हो गया है। १८ तारीख की शाम को हम तोलसतोय के प्रसिद्ध उपन्यास 'युद्ध और शांति' पर आधृत फ़िल्म के युद्ध-दृश्य देखने गए। यह सिनेमाघर तो सामान्य ही था, पर इसका परदा बहुत बड़ा था—सामान्य परदे से कम-से-कम चार गुना आकार था उसका। यहाँ प्रायः ऐसी फिल्में दिखाई जाती हैं जिनमें दृश्य-विस्तार अधिक होता है। इस फिल्म में 'युद्ध और शांति' में वर्णित संग्राम के वर्णित भयंकर दृश्यों को उनके पूरे विस्तार के साथ अत्यंत यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया गया था। युद्ध के अनेक चलचित्र मैंने देखे थे किन्तु ऐसा भीषण रूप प्रायः नहीं देखा था। सिनेमा का एक नया रूप हमने प्रदर्शनी में देखा, जिसमें दर्शक बीच में खड़ा होकर चारों ओर परदों पर घूमते हुए दृश्यों का अंग बन जाता है। चित्रशालाएं भी काफ़ी हैं—इनमें से दो का निरीक्षण हमने किया। इनमें युद्ध के चित्र, विशेष कर अक्तूबर की महान् क्रांति के चित्र प्रायः रहते हैं। इस चित्रकला में मार्दव और सूक्ष्म व्यंजना की अपेक्षा ऊर्जा एवं यथार्थ-दर्शन का प्राधान्य था · रंग गाढ़े और चटकीले थे—रेखाएँ पुष्ट और गहरी। रूस के शिक्षाविदों का विश्वास है कि प्रारंभ से ही इस तरह के चित्र आदि देखने से जनता जीवन-संघर्ष के हर पहलू का सामना करने के लिए तैयार हो जाती है—बच्चों के दिल मजबूत हो जाते हैं और युद्ध का भय उनके मन से निकल जाता है। इस प्रकार 'युद्ध के अभ्यास' की पहली शिक्षा वे यहीं से शुरू करते हैं।

मेरे लिए मैत्री-संघ की ओर से कुछ साहित्यिक कार्यक्रमों का आयोजन किया गया था जिसमें मुख्य था—गोर्की-संग्रहालय और तोलसतोय-संग्रहालय का निरीक्षण। गोर्की-संग्रहालय की स्थापना सन् १९६१ में की गई थी, जबकि सोवियत सरकार के एक निर्णय के अनुसार मास्को के उस भवन को, जहाँ लेखक ने अपने जीवन के अंतिम पाँच वर्ष व्यतीत किए थे, गोर्की-संग्रहालय का रूप दे दिया गया था। द्वार की दीर्घा को पार कर हमने गोर्की के अध्ययन-कक्ष में प्रवेश किया, जहाँ बीच में एक लंबी-चौड़ी मेज थी, पुराने सिक्के और तमगे आदि सजाकर रखे हुए थे मेज के पास एक बड़ा

सोफ़ा और गद्दीदार कुर्सियाँ थीं जहाँ वे प्रायः अपने अतिथियों से भेंट किया करते थे। यह मेज़ गोर्की के विशेष आदेश पर उनकी आवश्यकता के अनुसार बनाई गई थी : इसकी ऊँचाई इसलिए कुछ अधिक रखी गई थी जिससे कि गोर्की के क्षयग्रस्त फेफड़ों को आराम मिल सके, लंबाई-चौड़ाई इसलिए ज़्यादा थी कि गोर्की की तरह-तरह की अध्ययन व लेखन सामग्री को यथास्थान रखा जा सके। लेखन-सामग्री के अंतर्गत दो-एक लकड़ी के होल्डर थे, कुछ काली व कुछ लाल नीली पेन्सिलें थीं जिन्हें गोर्की स्वयं तराश कर रखते थे। काली पेन्सिलें प्रायः नोट लिखने के काम आती थीं और लाल-नीली पेन्सिलों से गोर्की लेखों और पुस्तकों पर निशान लगाया करते थे। बीच में लिखने के बड़े-बड़े रूलदार काग़ज तरतीब से रखे थे, जिनमें काफ़ी चौड़ा हाशिया था—इस हाशिए का उपयोग संशोधन करने के लिए होता था। पास में ही छोटी-छोटी चिटों का पैकेट था, जिनपर वे नए विचारों और कल्पनाओं को अंकित कर लिया करते थे। यद्यपि गोर्की की सख़्त हिदायत थी कि इन्हें उपयोग के बाद फौरन नष्ट कर दिया जाए और वे प्रायः स्वयं ही ऐसा कर दिया करते थे, फिर भी उनके पुत्र अलीवज़ेविच ने, जो एक प्रकार से उनके सचिव का भी काम करते थे, इनमें से कुछ टुकड़ों को बचाकर रख लिया था। आज रूस के अनेक आलोचक और शोधक उस महान् उपन्यासकार की सृजन-प्रक्रिया को समझने में इनका सम्यक उपयोग करते हैं। गोर्की प्रातः ९ बजे यहाँ आकर अपना लेखन-कार्य आरंभ कर देते थ और दो बजे उठते थे—पूर्वाह्न में वे नियमित रूप से साहित्य-रचना ही करते थे। अपराह्न में वे नव-लेखकों की पांडुलिपियों का संशोधन, व्यक्तिगत एवं साहित्यिक पत्राचार और पत्र-पत्रिकाओं का संपादन आदि करते थे।

संग्रहालय का मर्मस्थल है गोर्की का शयन-कक्ष। इसमें गोर्की की शैया और उनके वस्त्र आज भी संरक्षित हैं। गोर्की को लगभग ११ बजे पढ़ते-पढ़ते सोने की आदत थी। शैया के बराबर एक सोफ़ा पड़ा है और उसके सिरहाने छोटी-सी मेज़ है जिसपर लेखक की पौत्री मर्फ़ा की तस्वीर रखी हुई है। शयन-कक्ष में इस तस्वीर को

देखकर अनायास ही मेरे मन में गोर्की के विषय में अनेक कोमल कल्पनाएँ जग गईं। इतने ही में हमारी निर्देशिका ने मेज़ का दराज़ खोला और एक अन्य चित्र निकालकर मेरे सामने रख दिया। यही चित्र गोर्की के एकमात्र पुत्र, मर्फ़ा के पिता अलीवज़ेविच का था, जो गोर्की की मृत्यु से दो-एक वर्ष पहले दिवंगत हो गए थे। इसे देखकर मेरी वे कोमल कल्पनाएँ आँसुओं से आर्द्र हो गईं। रुग्ण गोर्की में अलीवज़ेविच के चित्र के आघात को सीधा झेलने की ताकत नहीं रह गई थी, इसलिए उसे वे दराज़ के भीतर रखते थे और मर्फ़ा के चित्र की आड़ लेकर इस आघात को सहने का प्रयत्न करते थे। मैं सोचने लगा कि लाल क्रांति का यह साहित्यिक सेनानी क्या वास्तव में इतना कमज़ोर था ? परंतु मेरे मन ने तुरंत ही उत्तर दिया कि यह समाजवादी यथार्थ-दर्शन के उद्गाता का सार्वजनिक व्याख्यान-कक्ष नहीं है—'माँ' के रचियता का एकांत शयन-कक्ष है। गोर्की-संग्रहालय के भीतर मैं जिज्ञासा और संभ्रम के भाव लेकर गया था, पर करुणा से भीगा मन लेकर बाहर आया।

तोल्सतोय का मुख्य आवास और संग्रहालय यास्नाया पोलियाना में है जो मास्को से लगभग २०० किलोमीटर दूर है। मेरी वहाँ जाने की प्रबल इच्छा थी, परंतु मेरे साथी पूरा एक दिन उसपर व्यय करने को तैयार नहीं थे। अतः मुझे मास्को-स्थित तोल्सतोय-संग्रहालय से ही संतोष करना पड़ा। यह तोल्सतोय का शीत-कालीन आवास था जो एक विशाल उद्यान के मध्य में स्थित है। यहाँ एक ओर तोल्सतोय के कुल की सामंतीय गरिमा और दूसरी ओर उनके अपने व्यक्तिगत जीवन की सादगी का प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। इस भवन का आहार-कक्ष काफ़ी बड़ा था और साज-सामान कीमती था। परिवार के प्रत्येक सदस्य के लिए अलग-अलग कमरे थे—एक कमरा उनके सबसे छोटे बच्चे और उसकी अभिभाविका का था जिसमें बच्चे के खेलने व पढ़ने-लिखने की चीज़ें आज भी वैसी ही रखी थीं। ऊपर के एक कमरे में शिकार का सामान था—कई तरह की बंदूकें और रीछों की खालें थीं : इनमें वह रीछ भी था, जिससे प्राण-रक्षा करने के लिए तोल्सतोय को काफ़ी

संघर्ष करना पड़ा था। शांति का यह पुजारी खूँखार शिकारी भी था—यह जानकर मुझे थोड़ा कुतूहल हुआ। भवन के मध्य-भाग में लेखक और उनकी पत्नी का शयन-कक्ष था जो राजसी सज्जा से संपन्न था : तोल्सतोय की सादगी के स्थान पर यहाँ उनकी पत्नी की राजसी प्रकृति का प्रभाव अधिक था। तोल्सतोय की पत्नी का स्वभाव कुछ आक्रामक था—उन्हें अपने पति की साध वृत्ति और दानशीलता के प्रति अधिक सहानुभूति नहीं थी। परंतु दूसरी ओर अपने पति की रचनाओं की पांडुलिपि स्वयं ही तैयार करने का भी उनका अत्यंत प्रबल आग्रह रहता था—'युद्ध और शांति' की पांडुलिपि का तोल्सतोय ने तीन-चार बार संशोधन किया था और हर बार काउंटेस ने अपने हाथ से ही उसकी पांडुलिपि तैयार की थी। नारी की मनोवृत्ति का यह विरोधाभास रोचक होते हुए भी विचित्र नहीं था : उस सामंतीय महिला मन का एक ओर पति की साधु प्रवृत्तियों के विरुद्ध जितना विद्रोह करता था, दूसरी ओर उनके साहित्यिक गौरव का सहभोग करने के लिए उतना ही व्यग्र भी रहता था। फिर भी, मेरे मुँह से निकल गया : बेचारे तोल्सतोय के घर में ही युद्ध और शांति का उपन्यास चल रहा था।

मेरे लिए रूस-यात्रा का सबसे प्रमुख आकर्षण था मास्को विश्वविद्यालय। इसकी स्थापना सन् १७५५ में श्री लोमोनोसोव ने की थी। संसार के प्रसिद्ध शिक्षा-केन्द्रों में मास्को विश्वविद्यालय का स्थान अन्यतम है। विश्वविद्यालय के मुख्य द्वार पर स्थित लोमोनोसोव की मूर्ति मानो इसके शैक्षिक गौरव की प्रतीक है। यह इमारत ३४ मंज़िल की है, इसमें १४ विभाग व अनेक उपविभाग और १,७०० प्रयोगशालाएँ हैं, जो ज्ञान-विज्ञान के नवीनतम प्रसाधनों से संपन्न हैं। अधिकांश विभाग विज्ञान तथा उद्योग-विज्ञान से संबद्ध हैं—मानविकी विद्याओं में केवल प्राच्यभाषा और भाषा-विज्ञान के ही केन्द्र यहाँ हैं, शेष नगर के मध्य में स्थित विश्वविद्यालय के प्राचीन भवनों में आवासित हैं। सामान्य विभागों के अतिरिक्त यहाँ चार शोध-संस्थान, तीन संग्रहालय, चार वेधशालाएँ तथा कुछ अन्य केन्द्र भी हैं, जो ज्ञान-विज्ञान की बहुविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। विद्यार्थियों की संख्या लगभग तीस हज़ार है जिनमें से प्रायः आधे

विद्यार्थी पत्राचार तथा सांध्य-कालीन पाठ्यक्रमों से संबद्ध हैं। प्राध्यापक चार हज़ार के लगभग हैं—अर्थात् सात-आठ विद्यार्थियों के लिए एक अध्यापक की व्यवस्था है। अध्यापक का वेतन-मान काफ़ी अच्छा है—प्रोफ़ेसर को पाँच-छह हज़ार रुपया मासिक मिलता है। ग्रंथालय में लगभग पचपन लाख पुस्तकें हैं। छात्रावास अत्यंत स्वच्छ एवं सुरुचिपूर्ण हैं—स्नातकोत्तर छात्रों के लिए अलग-अलग कमरों की व्यवस्था है, छात्राओं के लिए अलग आवास हैं, परंतु दंपति साथ-साथ रह सकते हैं। विश्वविद्यालय बंद था, अतः वहाँ के आचार्यों से भेंट करने का अवसर तो हमें नहीं मिला, परंतु उसके बाह्य वैभव का प्रभाव भी कम गहरा नहीं था। उसके विराट् भवन और अपार साधन-संपदा को देख कर विश्वविद्यालय के शब्दार्थ की—उसके सार्वभौम रूप की—कल्पना मानो साकार हो गई।

अन्य देशों की भाँति सोवियत-संघ में मानविकी विद्याओं की अपेक्षा भौतिक विज्ञान और समाज-विज्ञान पर अधिक बल है। शिक्षा का यहाँ व्यावहारिक जीवन के साथ प्रत्यक्ष और घनिष्ठ संबंध है: इसीलिए भौतिक जीवन के विकास में सहायक विषयों पर स्वभावतः अधिक ध्यान रहता है और ज्ञान के औद्योगिक पक्ष को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया जाता है। प्राचीन भारत में विद्या और धर्म का जिस प्रकार अविच्छिन्न संबंध था, इसी प्रकार सोवियत.संघ में विद्या और व्यवहार में अनिवार्य संबंध है। इसीलिए उद्योग-विज्ञान, अर्थशास्त्र तथा उनके सहायक विषयों का जिस स्तर पर विकास हो रहा है, उस स्तर पर दर्शन और सौन्दर्यशास्त्र आदि का नहीं हो रहा। साहित्य का उच्चतर अध्ययन और अनुसंधान प्रायः शोध-प्रतिष्ठानों में ही होता है।

अन्य औद्योगिक केन्द्रों की भाँति मास्को में भी एक विकास-प्रदर्शनी का स्थायी आयोजन है जहाँ सोवियत-संघ की उपलब्धियों की झाँकी अनायास ही मिल जाती है। जिनके पास समय का अभाव हो, उन्हें यह प्रदर्शनी अवश्य देखनी चाहिए। प्रदर्शनी की ओर जाते हुए, सबसे पहले हमारा ध्यान गया एक बड़ी ऊँची राकेट-जैसी

इमारत की ओर जो अंतरिक्ष-अभियान की सिद्धियों की प्रतीक और उसके साहसी शहीदों की स्मारक है। विशाल प्रांगण के भीतर अनेक कक्ष और मंडप हैं जो सोवियत-राष्ट्र के बहुविध विकास का मानचित्र प्रस्तुत करते हैं। मुख्य द्वार में प्रवेश करते ही हम रंगमंच के पास पहुँचे जहाँ दर्शकों के विश्राम के लिए नृत्यगीत आदि की व्यवस्था है। विज्ञान, शिक्षा और कला की प्रदर्शनी देखने के बाद हमने अंतरिक्ष-यान के प्रारूप का समीप जाकर निरीक्षण किया। पृथ्वी पर एक विशाल यंत्र रखा हुआ है जिसके अंदर काफ़ी ऊँचाई पर राकेट है। पहले यह पूरे-का-पूरा यंत्र बड़े वेग से आकाश में उड़ता है और फिर जब वह एक निश्चित ऊँचाई पर पहुँच जाता है तो उसमें से राकेट छूटकर अंतरिक्ष में उड़ने लगता है और आधार-यंत्र बीच में ही नष्ट हो जाता है। इस अंतरिक्ष-यान के सामने खड़े होकर मैं मानव-मेधा के बढ़ते हुए अभियान का विराट् दृश्य कल्पना की आँखों से देखने लगा और 'कुरुक्षेत्र' की निम्नोक्त पंक्तियाँ मेरी अंतश्चेतना में गूंज गईं :—

यह मनुज,
जिसका गगन में जा रहा है यान,
खोलकर अपना हृदय गिरि, सिन्धु, भू, आकाश
हैं सुना जिसको चुके निज गुह्यतम इतिहास।
खुल गए परदे, रहा अब क्या यहाँ अज्ञेय,
किन्तु नर को चाहिए नित विघ्न कुछ दुर्जेय,
सोचने को और करने को नया संघर्ष,
नव्य जय का क्षेत्र, पाने को नया उत्कर्ष।

सोवियत-संघ के राष्ट्रीय एवं राजनीतिक जीवन का स्नायु-केन्द्र है क्रेमलिन। संसद भवन सचिवालय और पार्टी का सभा-भवन आदि यहीं हैं। यहीं वह प्रसिद्ध लाल चौक (रेड स्क्वायर) है, 'जहाँ अक्तूबर' की महान् क्रांति के अवसर पर सोवियत राष्ट्र का विशाल सैनिक-प्रदर्शन होता है। क्रांति से पूर्व रूस के प्राचीन शासकों का

राज्यगार यहीं था। उनके राजभवन का एक भाग आज 'ऐतिहासिक संग्रहालय' बन गया है जहाँ सम्राटों के अपूर्व ऐश्वर्य के अवशेष—अमूल्य वस्त्रालंकार, शस्त्रास्त्र, यान और शिविकाएँ, राजसी अश्व तथा वैभव-विलास के अनेक प्रसाधन—यथावत् सुरक्षित हैं। वर्तमान और अतीत का यह अंतर कितना रंगीन था? पचास वर्ष में परिवर्तन का चक्र इतने वेग से घूम सकता है—यह सोचकर विशेष आश्चर्य तो हमें नहीं हुआ, क्योंकि कुछ-कुछ ऐसे ही दृश्य भारत के रजवाड़ों में भी देखने को मिलते हैं, फिर भी विधि की विडंबना का एक अपूर्व चित्र हमारे सामने उपस्थित हो गया।

इतने में ही हम लोग लेनिन-समाधि के निकट पहुँच गए जहाँ का वातावरण एकदम गंभीर और श्रद्धा-भरित था। लेनिन का यह स्मारक क्रेमलिन का हृदय और मास्को का पुण्य तीर्थ है। वहाँ पूर्वाह्न में दर्शकों का ताँता लग जाता है, और यह पंक्ति प्रायः तीन-चार मील लंबी होती है। सोवियत-संघ की जनता, देश-विदेश के लोग—आबाल-वृद्ध नर-नारी धूप, वर्षा और हिमपात की चिन्ता न कर, निश्चल भाव से पंक्तिबद्ध खड़े रहते हैं। उन्हें देखकर श्री वेंकटेश्वर के मंदिर का दृश्य मेरी कल्पना में झूल गया जहाँ मीलों तक फैला हुआ भक्त-समुदाय भगवान के दर्शन के लिए इसी प्रकार पंक्तिबद्ध खड़ा रहता है। विवेक ने प्रश्न किया कि ये लोग तो भक्त नहीं हैं, परंतु तुरंत ही मन ने उत्तर दिया कि अविचल आस्तिक बुद्धि के बिना न इस प्रकार की श्रद्धा सभव है और न जीवन की प्रगति। आस्तिक भावना के बिना मनुष्य के लिए जीना ही दूभर है—विकास या प्रगति की तो बात ही क्या?

'धर्म' शब्द का प्रयोग वहाँ नहीं है, कम-से-कम इस संदर्भ में तो वह सोवियत जीवन-दर्शन के सर्वथा प्रतिकूल पड़ेगा, परंतु मैं मन में सोचने लगा कि यह आस्था क्या अधार्मिक हो सकती है? और, वास्तव में, उस समाधि के भीतर बिलकुल मंदिर या मस्जिद का-सा ही वातावरण है: वैसी ही पवित्र शांति, वही भौतिक संसर्गों से मुक्त होने की भावना। लेनिन का शरीर आज भी उसी शांत मुद्रा में विद्यमान है, उसके ऊपर बिजली का हल्का-सा प्रकाश रहता है जिससे उनकी आकृति का प्रत्येक अवयव

स्पष्ट लक्षित हो सके। प्राणों की अदम्य ऊर्जा रचनात्मक बनने पर कैसी स्निग्ध हो जाती है, समर्पित जीवन का अंत कितना शांतिमय होता है, मानव-चेतना की यह अंतिम अनुभूति लेनिन की मुद्रा में सहज रूप से अंकित है।

पाँच दिन का समय ही कितना होता है— और वास्तव में मास्को के अनेक दर्शनीय स्थान, जैसे लेनिन-ग्रंथागार, लेनिन-संग्रहालय, मार्क्स-स्मारक, मास्को-स्टेडियम आदि को हम सिर्फ़ बाहर से ही देख पाए। फिर भी, मैंने जो कुछ देखा वह काफ़ी गहराई से देखा, अतः मेरे मन पटल पर जो स्मृति-चित्र अंकित हुए हैं, वे काफ़ी स्पष्ट हैं। मास्को का जन-जीवन स्वच्छ और स्वस्थ है। परिवार की संस्था में रूस-वासियों का विश्वास अब भी बना हुआ है। माता-पिता, भाई-बहन आदि के रक्त-संबंधों की रक्षा वे पूरी कर्तव्य-भावना के साथ करते हैं। दांपत्य जीवन वहाँ का बहुत सुखी है, स्त्री और पुरुष दोनों ही प्रायः काम करते हैं, परंतु आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होने पर भी वैवाहिक सदाचार में निष्ठा रखते हैं। ऐसी स्त्रियाँ वहाँ अनेक हैं जो पति की मृत्यु के बाद दूसरा विवाह नहीं करतीं। सब मिलाकर यहाँ का जीवन-दर्शन स्वस्थ और शुद्ध है, लोभ, कार्पण्य, तृष्णा आदि विकार सामान्य जन-जीवन में नहीं हैं।

२१ की रात को साढ़े ग्यारह बजे रूस की अंतर्राष्ट्रीय विमान-सेवा एयरोफ़्लोट के विशालकाय वायुयान द्वारा मैं दिल्ली के लिए रवाना हो गया। भारी मन से अत्यंत स्नेहपूर्वक मैंने रूसी मित्रों से विदा ली। कुछ निद्रा और कुछ तंद्रा के बाद सूर्य का प्रकाश गवाक्षों में से आने लगा और आध घंटे के भीतर लड़खड़ाती अँगरेज़ी में, केबिन से यह सुखद घोषणा सुनाई पड़ी कि थोड़ी ही देर में हमारा हवाई-जहाज़ पालम अड्डे पर उतरने वाला है। और पालम आ गया—वही चिरपरिचित, चिर-कांक्षित पालम, दिल्ली का सिंहद्वार—दिल्ली जहाँ मेरा विश्वविद्यालय है, मेरा अध्ययन-कक्ष है, परि-जन-प्रियजन से भरा मेरा आवास है। कितना महान् था विदेश, पर कितना प्रिय है मेरा देश !

—नगेन्द्र

प्रश्न-अभ्यास

१. द्वितीय विश्व युद्ध में मास्को की सुरक्षा रूसियों के जीवन-मरण का प्रश्न क्यों बन गई थी ?
२. रूसी पुतलियों के खेल की विशेषताएँ बताइए।
३. गोर्की कौन थे ? उनके स्मारक-संग्रहालय का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।
४. 'बेचारे तोलसतोय के घर में ही युद्ध और शांति का उपन्यास चल रहा था, लेखक के मुँह से यह वाक्य अनायास क्यों निकल गया ?
५. लेखक ने मास्को की जिस वस्तु का सर्वाधिक रोचक एवं विशुद्ध वर्णन किया है उसका संक्षेप में वर्णन कीजिए। उस स्थल की भाषा-शैली की विशेषताएँ भी बताइए।
६. 'उसके (मास्को विश्वविद्यालय के) विराट् भवन और अपार साधन-संपदा को देखकर विश्वविद्यालय के शब्दार्थ की—उसके सार्वभौम रूप की—कल्पना मानो साकार हो गई।' व्याख्या कीजिए।
७. सोवियत संघ की शिक्षा-व्यवस्था सर्वथा व्यावहारिक है। कैसे ? आप उनमे से कौन-कौन-सी बातें भारतीय शिक्षा के लिए उपयोगी मानते हैं ?
८. लेखक ने लेनिन के स्मारक को क्रेमलिन का हृदय और मास्को का पुण्यतीर्थ क्यों कहा है ?
९. "कितना महान था विदेश, पर कितना प्रिय है मेरा देश !" लेखक के इस उद्गार को स्पष्ट कीजिए।
१०. यह यात्रा वृत्तांत 'तंत्रालोक से यंत्रालोक तक' नामक पुस्तक से लिया गया है'। उसे पुस्तकालय से लेकर पढ़िए।

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' जी का जन्म सन् १९०६ ई० में सहारनपुर जिले के देवबंद कस्बे में हुआ था। प्रारंभ से ही राजनीतिक एवं सामाजिक कार्यों में गहरी दिलचस्पी लेने के कारण आपको अनेक बार जेल-यात्रा करनी पड़ी। आपने पत्रकारिता के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। 'ज्ञानोदय' का आप एक लंबे अर्से तक संपादन कर चुके हैं। संप्रति आप सहारनपुर से 'नया जीवन' नामक पत्रिका का संपादन कर रहे हैं। स्वयं लिखने पढ़ने के अलावा आपने अपने वैयक्तिक स्नेह और संपर्क से हिन्दी के अनेक नए लेखकों को प्रेरणा-प्रोत्साहन दिया है। आपने हिन्दी के श्रेष्ठ रेखा-चित्र, संस्मरण एवं ललित निबंध लिखे हैं। आपकी शैली दृष्टांतपरक एवं मर्म को छूनेवाली है। आप छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी बात को पूरी सहजता से कहने में सिद्धहस्त हैं। आपके लेखन में प्राय सर्वत्र ताज़गी है। आपकी रचनाओं में कलागत आत्मपरकता होते हुए भी एक ऐसी तटस्थता बनी रहती है जो मर्म को छूकर ही रहती है। आपने हिन्दी नव-लेखन को नई दिशा दी है और आपने जो कुछ लिखा है उसका व्यक्तित्व सर्वथा अनूठा है। आपके कथ्य एवं अभिव्यक्ति प्रायः दोनों में ही नयापन और ताज़गी है। हिन्दी में लघु कथा, संस्मरणात्मक निबंध-शैली और रिपोतार्ज की विधाओं के प्रवर्तन, रेखाचित्र और संस्मरण विधाओं के पोषण, विशिष्ट पत्रकारिता एवं राष्ट्रीय हित में अपने उद्‌बोधक विषय-विश्लेषण आदि कार्यों के लिए आप विशेष रूप से स्मरण किए जाते हैं।

आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं—नई पीढ़ी : नए विचार, आकाश के तारे : धरती के फूल, जिन्दगी मुस्कराई, माटी हो गई सोना, बाजे पायलिया के घुंघरु, दीप जले : शख बजे, महके आँगन : चहके द्वार, कण बोले : क्षण मुस्काये, बूंद सागर लहराया आदि।

'बल-बहादुरी' यों विवेचनात्मक निबंध को कोटि में आती है, किन्तु इसकी विधा के संबंध में मतभेद की काफ़ी गुंजाइश है। संपूर्ण निबंध समास शैली में लिखा है जिसका प्रत्येक वाक्य सूक्ति का काम करता है। ढाई-तीन पृष्ठों के निबंध में गागर में सागर भरने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। इस निबंध का निष्कर्ष है—जनकल्याण करनेवाली बहादुरी ही सात्विक है, ग्रहणीय है।

बल-बहादुरी

बल में पुरुषत्व का निवास है और सहृदयता में देवत्व का। बल के अभाव में परिलक्षित होता है क्लीबत्व का दयनीय दर्शन और सहृदयता की शून्यता में तांडव करती है, पापपुंज-प्रोज्वलित पैशाचिकता !

क्लीबत्व भय का पिता है और उसकी सचहरी है दीनता, पर पैशाचिकता की सखी है क्रूरता और वह अज्ञान के पुत्र अहंकार का पोषण करती है।

पुरुषत्व अभय का जनक है और देवत्व शांति का। अभय और शांति का यह सुंदर सम्मेलन ही मानवता के विकास की पुण्य-भूमि है।

रावण भी बली था और राम भी, कृष्ण में भी बल का अधिष्ठान था और कंस में भी, पर एक की आज जयंती मनाई जाती है और दूसरे का स्मरण हमारे हृदयों में घृणा के उद्रेक का कारण होता है।

बात क्या है ?

एक ने अपने बल का उपयोग किया जनता के अधिकारों की रक्षा में और दूसरे ने उनके अपहरण में, एक के बल का पथ-प्रदर्शक था प्रेम और दूसरे का स्वार्थ, बस दोनों का यही अंतर है। इसका अर्थ यह हुआ कि सबल के बल का सदुपयोग ही उसकी सफलता की एकमात्र कुंजी है।

बल एक है, पर उपयोग के साँचे में ढलकर हम दो रूपों में देखते हैं। आत्मा का संस्पर्श उसे वीरता के पवित्र एवं स्पृहणीय नाम से उद्‌घोषित करता है और देह का क्रूरता के जघन्य एवं घृणित नाम से।

दूसरे शब्दों में विवेक का साहचर्य उसे स्वर्ग की सीमा में ले जाता है और

अविवेक का नरक की।

सामान्यत: बल अंधा है और उसकी गति पथ-प्रदर्शक के अधीन है।

राष्ट्र एवं जातियों के गौरव की स्थिति पूर्णतः कोकिल के शिशुओं जैसी है। उसका जन्म होता है, शक्ति की कल्याणमयी गोद में, पर वह पलता है प्रेम के पवित्र पालने में। बल उसकी नसों में अभिमान एवं कर्मण्यता के रक्त का संचार करता है और प्रेम उसे त्याग का अमृत पिलाकर अमर करने का प्रयत्न। बल एवं प्रेम का यह सात्त्विक सहयोग ही राष्ट्रों के निर्माण की मूल शिला और इन दोनों का पारस्परिक विरोध ही विश्व के विशाल राष्ट्रों एवं जातियों के खंडहरों का सच्चा एवं हृदयवेधी इतिहास है।

बल आकर्षण का केन्द्र है। बल का उपयुक्त प्रदर्शन अपनों और बिगानों, सभी को अपनी ओर आकर्षित करता है। सबल को सभी मुग्ध दृष्टि से देखते हैं, प्रेम और श्रद्धा का स्नेहोपहार उसके चरणों में समर्पित कर सभी अपने को धन्य समझते हैं, पर वीर अपने प्रतिद्वंद्वी वीर के एक प्रशंसा-वाक्य को जनसाधारण के अतिशयोक्तिपूर्ण अनेक भाषणों से अधिक महत्त्व देता है। वास्तव में एक कवि ही दूसरे कवि की सच्ची प्रशंसा करने का अधिकारी है और एक वीर ही दूसरे वीर का सच्चा सम्मान कर सकता है।

इतिहास-रत्न जयमल और वीर शिरोमणि फत्ता का हम कितना ही गुण-गान करें। पर उनका सच्चा सम्मान तो मुगल सम्राट वीर अकबर ही कर सकता था।

झाँसी की वीर महारानी लक्ष्मीबाई के सम्मान में हम कितने ही काव्यों का निर्माण क्यों न करें, उस देवी का वास्तविक सम्मान ब्रिटिश सेना के वीर सेनापति ह्यू रोज के वे शब्द हैं, जो आज भी इतिहास के स्वर्ण-पृष्ठों में अपनी दिव्य-प्रकाश-माला के साथ जगमगा रहे हैं।

बल और बुद्धि का वही संबंध है जो देह और आँख का। बुद्धि-कौशल के बिना बल का कुछ अर्थ नहीं और बल के अभाव से बुद्धि-कौशल पंगु है।

राजपूतों में बल था, ऐसा बल, विश्व-इतिहास के पृष्ठों में जिसकी कोई उपमा नहीं, पर पराजय के अतिरिक्त उन्हें क्या मिला ?

वे जहाँ लड़े सिंह की भांति लड़े। शत्रु और मित्र सभी ने खुले दिल उनके शौर्य की प्रशंसा की, पर इससे क्या ?

कल्पना के मोदक हमें कुछ काल के लिए आनंद के मधुर आवेश में भले ही भुला दें, पर हमारी क्षुधा की शाँति नहीं कर सकते।

शाहजहाँ का उत्तराधिकारी दारा, साठ हजार से भी अधिक बलराशि का स्वामी था और उसका छोटा भाई औरंगज़ेब इससे आधी से भी कम, पर बुद्धि-कौशल के अभाव में एक का अंत इतना दयनीय है कि पत्थर भी पसीज उठे और दूसरा इसी के सहारे साम्राज्य का अधीश्वर बन बैठा।

बल के साथ बुद्धि का एकत्र संयोग सौभाग्य-श्री का पुनीत वरदान है। जिस मनुष्य जाति, या राष्ट्र को महामाया का यह वरदान प्राप्त है, सफलता उसके सामने हाथ बाँधे खड़ी रहने में अपने जीवन की चरितार्थता मानती है और विजय उसकी आँख के एक सूक्ष्म संकेत पर नाचने में अपना गौरव अनुभव करती है।

यह संयोग सत्त्वाश्रित होने पर सौन्दर्य एवं प्रेम के सम्मिलन-सा मनोहर, प्रकृति एवं पुरुष के सम्मिलिन-सा पुनीत और काव्य एवं संगीत के सम्मिलन-सा अजेय हो उठता है।

बल की चरम सीमा कहाँ है ?

शत्रुदल-गंजन में, केसरी के साथ खेल खेलने में या फिर देश और धर्म के लिये हँसते-हँसते अपने प्राणों की आहुति देने में ?

नहीं, बल की चरम सीमा वीर की उस अविचल-मुसकान में है, जो चारों ओर पराजय और पराभव का वातावरण उपस्थित होने पर भी उसके अरुण अधर-मंडल पर अपने पुण्य-पुनीत प्रकाशमाला के साथ थिरका करती है।

बर्बरता के राक्षसी तांडव के बीच चुनी जानेवाली दीवार में आकंठ निमग्न गुरु-

गोविन्दसिंह के आत्मज सरल शिशुओं के अधर-मंडल पर विकसित होनेवाली अविचल स्मित रेखा पर कौन सहृदय है; जो नैपोलियन और गैरीवाल्डी, राणाप्रताप और शिवाजी ही नहीं, विश्व की समस्त वीरता का सार न्यौछावर करने में हिचकेगा ?

विश्व के इतिहास-उपवन में वीरता-बल्लरी के उदाहरण-सुमनों की कमी नहीं। एक से-एक सुरभित एवं एक-से एक सुंदर, पर उनमें सर्वोत्कृष्ट एवं दिव्य के नाम से उद्घोषित सुमनों का विकास विजय वैभव की वरेण्य-वैजयंती की ऊँची फहरान के पार्श्व देश में नहीं हुआ, पराजय की पुण्य-परागमाला ही उनका प्रसूतिगृह है।

पश्चिम शरीर बल का उपासक है, और भारत आत्मबल-का। अपने-अपने क्षेत्र और समय में दोनों ही बल खूब फले-फूले और विकास की चरम सीमा तक पहुँचे। प्राचीनतम अतीत के अनंतर भी बुद्ध के रूप म भारत ने एक बार फिर अपने पक्ष की उज्ज्वलता घोषित की, पर अभी विश्व के विशाल प्रांगण में उसके पक्ष की सर्वोत्कृष्टता प्रमाणित होनी अवशिष्ट थी कि प्रकृति ने गांधी की महासृष्टि की, जो युद्ध की पाशविकता की अहिंसा के साथ सफलतापूर्वक जोड़ एक सांस्कृतिक अनुष्ठान का रूप दे सका और यों भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक नया अध्याय जोड़ने में सफल हुआ।

—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

प्रश्न अभ्यास

१—लेखक ने बल के साथ सहृदयता का उल्लेख कहाँ किया है और दोनों में कहाँ जाकर सामंजस्य दिखाया है ?

२—बल के सदुपयोग और बल के दुरुपयोग के क्या-क्या उदाहरण लेखक ने प्रस्तुत किए हैं ? इनके दो-दो उदाहरण आप अपनी ओर से दीजिए।

३—"सबल के बल का सदुपयोग ही उसके साफल्य की कुंजी है।"

सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

४—बल और वीरता में लेखक ने क्या अंतर बताया है? बल को लेखक ने अंधा क्यों कहा है?

५—"वीर अपने प्रतिद्वंद्वी वीर के एक प्रशंसा-वाक्य को जनसाधारण के अतिशयोक्तिपूर्ण अनेक भाषणों से अधिक महत्त्व देता है?" इस कथन की सार्थकता सिद्ध कीजिए।

६—बल और बुद्धि के अन्योन्याश्रित संबंधों को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए। जीवन और जगत् में सफलता प्राप्त करने के लिए दोनों का संयोग क्यों आवश्यक है?

७—बल की चरम सीमा कहाँ है?

(क) शत्रुओं के विनाश में।

(ख) शक्तिशाली व्यक्तियों के साथ जूझने में।

(ग) देश और धर्म के लिए हँसते-हँसते बलि हो जाने में।

(घ) पराजय और पराभव में भी अविचल-अटल रहने में।

८—शरीर बल और आत्मबल में लेखक ने किसे श्रेष्ठ कहा है? आज विश्व-कल्याण के लिए दोनों में कौन उपयोगी है?

९—इन रूपकों को स्पष्ट कीजिए—इतिहास-उपवन, वीरता-बल्लरी, पराजय की पुण्य परागमाला।

१०—"क्लीबत्व भय का······पोषण करती है" वाक्य के रूपक को स्पष्ट कीजिए।

११—इस पाठ में भाववाचक संज्ञाओं का अपेक्षाकृत अधिक प्रयोग हुआ है। कर्ता और कर्म के रूप में प्रयुक्त किन्हीं दस भाववाचक संज्ञाओं का चयन कीजिए और बताइए कि इनसे शैलीगत कैसी विशेषताएँ आ गई हैं।

१२—व्याख्या कीजिए :—

(क) बल में पुरुषत्व······पैशाचिकता!

(ख) बल एवं प्रेम का······इतिहास है।

(ग) यह संयोग सत्वाश्रित······हो उठता है।

विष्णु प्रभाकर

श्री विष्णु प्रभाकर का जन्म २१ जून, सन् १९१२ ई० को मुजफ्फर नगर जिले में हुआ। आपकी प्रारंभिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में ही हुई।

कुछ कारणों से आपको अपने मामा के साथ शिक्षा के लिए पंजाब जाना पड़ा। वहीं एक हाई स्कूल में आपने हिन्दी, इतिहास, संस्कृत और धर्म-शिक्षा, आदि विषयों का अध्ययन किया। आपके मामा जी आर्य समाज के अच्छे कार्यकर्ता थे और गांधी जी के आंदोलनों से बहुत प्रभावित थे। उनके संरक्षण में रहने के कारण आपके विचारों पर गांधी जी के जीवन-दर्शन का बहुत प्रभाव पड़ा।

शिक्षा समाप्त करके आपने सरकारी नौकरी कर ली। नौकरी करते हुए भी आप साहित्य के अध्ययन और लेखन में लगे रहे। कहानी लिखने में आपका मन अधिक रमता था। सन् १९३१ ई० में अपकी पहली कहानी प्रकाशित हुई। सन् १९३३ ई में आप हिसार नगर की शौकिया नाटक कंपनियों के संपर्क में आए और उनमें से एक कंपनी में अभिनेता से लेकर मंत्री तक का कार्य किया। सन् १९३८ ई० में 'हंस' का "एकांकी विशेषांक' प्रकाशित हुआ। उसे पढ़ने के उपरांत और कुछ मित्रों की प्रेरणा से आपने सन् १९३९ ई० में प्रथम एकांकी लिखा जिसका शीर्षक था 'हत्या के बाद'। वह 'हंस' में प्रकाशित हुआ और अपने युग के अच्छे एकांकियों में माना गया। विभाजन के उपरांत आकाशवाणी में ध्वनि-नाट्यों की माँग बढ़ी। तब से आप निरंतर रेडियो-रूपक लिखते आ रहे है।

रेडियो-रूपक के अतिरिक्त आपने अच्छे रंगमंचीय नाटकभी लिखे हैं। आपके पूर्ण नाटक है— 'डाक्टर', 'नवप्रभात', समीप' और 'होरी'। एकांकियों के संग्रह है— 'बाहर एकांकी', 'दस बजे रात' 'क्या वह दोषी था? 'अशोक' 'प्रकाश और परछाई', तथा 'ये रेखाएँ ये दायरे'।

'सीमा रेखा' में आपने राष्ट्र की ज्वलंत समस्या— हड़ताल, बंध राष्ट्रीय संपत्ति की क्षति, गोली-कांड आदि को लिया है और उसका बड़ा ही उपयुक्त समाधान बताया है—" जनतंत्र में सरकार और जनता के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं होती…।"

सीमा-रेखा

पात्र—लक्ष्मीचंद्र, शरतचंद्र, सुभाषचंद्र,

कैप्टन विजय

तारा, अन्नपूर्णा, सविता, उमा

[दूसरे भाई, उपमंत्री शरतचंद्र का ड्राइंग रूम । आयु ५२ वर्ष । आधुनिक पर सादगी की छाप । दीवार पर गांधी जी का तैल-चित्र है । दो-चार चित्र तिपाइयों पर भी हैं । पुस्तकें काफ़ी हैं । बीचोंबीच एक सोफ़ा सेट है । उत्तर की ओर सामने दो द्वार हैं जो बाहर बरामदे में खुलते हैं । उसके पार सड़क है । पूर्व और पश्चिम के द्वार घर के अंदर जाते हैं । सोफ़े व मेज़ों के आस-पास कुर्सियाँ हैं । पर्दा उठने पर मंच खाली है । दो क्षण बाद शरतचंद्र तेज़ी से आते हैं । बेहद परेशान हैं । कई क्षण बेचैनी में घूमते हैं । फिर टेलीफोन उठा लेते हैं । नंबर मिलाते हैं ।]

शरत : हलो, मैं शरत बोल रहा हूँ । विजय का कुछ पता लगा'''क्या? क्या अभी तक नहीं लौटे ? झगड़ा बढ़ गया है । क्या ? गोली'''गोली चलानी पड़ी । भीड़ बैंक के पास बेकाबू हो गई थी । बैंक को लूटा ? नहीं'''कहीं और लूटमार हुई ? नहीं । कोई घायल ? अभी कुछ पता नहीं । ओह, देखो अभी पता करके बताओ । विजय आए तो मुझे टेलीफोन करने को कहो—तुरंत । समझे, मैं घर पर ही हूँ ।

(दूसरा नंबर मिलाना चाहते हैं कि उनकी पत्नी अन्नपूर्णा घबराई हुई बाहर से आती है ।)

अन्नपूर्णा : आपने कुछ सुना है ?

शरत : हाँ, सुना है गोली चल गई ।

अन्नपूर्णा : अपने राज में भी गोली चलती है ?

शरत : अपना राज समझता कौन है ? जब तक अपना राज नहीं समझेंगे तब तक गोली चलेगी ही। लेकिन खैर, तुम कहाँ गई थीं ?

अन्नपूर्णा : जीजी के पास। रास्ते में सुना रामगंज में गोली चल गई। बाजार बंद हो रहे हैं। भय छाया हुआ है। लोग सरकार को गालियाँ दे रहे हैं।

शरत : (चोगा रखकर आगे आ जाते हैं।) सरकार को गाली ही दी जाती है। गोली चली तो गाली देते हैं। बैंक लुट जाता तब भी गाली ही देते।

अन्नपूर्णा : (एकदम) बैंक! कौन-सा बैंक लुट रहा था ? बैंक से तो कुछ झगड़ा नहीं था। कल आपके पीछे कुछ विद्यार्थी बसवालों से झगड़ पड़े थे और आप जानते हैं कि विद्यार्थी……

शरत : (एकदम) कि विद्यार्थी कानून की चिन्ता नहीं करते। बच्चे हैं, अल्हड़ हैं। (तेज़ होकर) यह भी कोई बात है ? लोग पागल हो जाते हैं। कानून अपने हाथ में ले लेते हैं। गोली चली है तो ज़रूर कोई कारण रहा होगा। कुछ लोगों ने बैंक पर धावा बोला होगा। पुलिस पर पत्थर फेंके होंगे।
(सविता का प्रवेश—चौथे भाई, नेता सुभाषचंद्र की पत्नी, आयु ३५ वर्ष।)

सविता : फेंके होंगे तो इसका यह अर्थ नहीं कि पत्थर के जवाब में गोली चला दी जाए। गोली उन्हें आत्मरक्षा के लिए नहीं दी जाती, जनता की रक्षा के लिए दी जाती है।

अन्नपूर्णा : सविता, तुम कहाँ से आ रही हो ?
(लक्ष्मीचंद्र का प्रवेश व्यापारी, सबसे बड़े भाई, आयु ५६ वर्ष।)

शरत : तुम क्या कह रही हो ?

सविता : मैं ठीक कह रही हूँ……

लक्ष्मी : तुम बिलकुल गलत कह रही हो। पुलिस गोली न चलाती तो बैंक लुट जाता, बाज़ार लुट जाता, चारों ओर लूट-मार मच जाती, शासन की जड़ें हिल जातीं।

सविता : शासन की जड़ें हिलतीं या न हिलतीं दादा जी, पर आपकी जड़ें ज़रूर हिल जातीं। आपका व्यापार ठप हो जाता। आपका नुकसान होता।

लक्ष्मी : हाँ, मेरा नुकसान होता। मैं सरकार की प्रजा हूँ। प्रजा की रक्षा करना सरकार का फ़र्ज़ है···

सविता : यानी सरकार की पुलिस आपकी रक्षा करने के लिए है?

लक्ष्मी : हाँ, मेरी रक्षा के लिए है।

सविता : केवल आपकी?

अन्नपूर्णा : न, न, सविता। इनका मतलब केवल अपने से नहीं है। भीड़ इनका ही नुकसान करके न रह जाती। वह सारे शहर को बरबाद कर देती।

सविता : भीड़ में इतनी शक्ति है, जीजी?

शरत : भीड़ में कितनी शक्ति है, सवाल यह नहीं है।

सविता : तो क्या है?

शरत : सवाल यह है कि क्या भीड़ को कानून अपने हाथ में लेने का अधिकार है? मैं समझता हूँ उसे यह अधिकार नहीं है।

सविता : और यदि वह लेती है तो—

शरत : तो वह विद्रोह है और विद्रोह को दबाने का सरकार को पूरा-पूरा अधिकार है।

सविता : लेकिन विद्रोह क्यों किया गया है, यह देखना क्या सरकार का कर्तव्य नहीं है? (टेलीफोन की घंटी बजती है। शरत एकदम चोंगा उठाते हैं। सब उनके पास आते हैं।)

शरत : हलो, हाँ मैं ही हूँ। क्या स्थिति अभी काबू में नहीं है? लूटमार तो नहीं

हुई न ? अच्छा घायल कितने हुए ? पाँच, वहीं मर गए । बीस घायल अस्पताल में हैं—मैं अभी आता हूँ, अभी··· (टेलीफोन का चोंगा रखकर तेज़ी से जाने को मुड़ते हैं ।)

अन्नपूर्णा : (एकदम) नहीं, नहीं, आप ऐसे नहीं जा सकते ।

लक्ष्मी : हाँ, पहले फोन करके पुलिस बुला लो ।

सविता : पुलिस क्या करेगी ? चलिए मैं चलती हूँ ।

शरत : आप चिन्ता न करें । पुलिस की गाड़ी बाहर खड़ी है ।

सविता : (व्यंग्य से) जरूर होगी । जनता के नेता अब पुलिस की गाड़ी में ही जा सकते हैं । (आवेश में) जिन्होंने जनता का नेतृत्व किया, जनता के आगे होकर गोलियाँ खाईं, जो एक दिन जनता की आँखों के तारे थे, वे ही आज पुलिस के पहरे में जनता से मिलने जाते हैं ।

(शरत तिलमिलाकर कुछ कहना चाहते हैं कि तभी तीसरे भाई विजय, पुलिस कप्तान, आयु ४८ वर्ष, पूरी वर्दी में प्रवेश करते हैं ।)

लक्ष्मी : (एकदम) विजय !

सविता : कप्तान साहब, आप यहाँ ?

अन्नपूर्णा : विजय अब क्या हाल है ?

शरत : विजय, तुमने यह क्या कर डाला ? तुमने गोली क्यों चलाई ? तुम्हें सोचना चाहिए था कि···

लक्ष्मी : विजय ने जो कुछ किया सोच-समझकर किया है और ठीक किया है ।

अन्नपूर्णा : हाँ, बिना सोचे-समझे कोई काम कैसे किया जा सकता है । सोचा तो होगा ही, पर···

शरत : नहीं, नहीं, वह बहुत बुरा हुआ । जानते नहीं अब जनता का राज है और जनता के राज में, जनतंत्र में, जनता की प्रतिष्ठा होती है ।

विजय : लेकिन गुंडों की नहीं ।

सविता : वे गुंडे हैं ?

लक्ष्मी : हाँ, गुंडे हैं। दंगा करनेवाले गुंडे होते हैं, शोहदे होते हैं।

शरत : नहीं भइया ! वे सब गुंडे नहीं होते। हाँ, गुंडों के बहकावे में ज़रूर आ जाते हैं।

सविता : यह भी खूब रही। जनता कुछ गुंडों के बहकावे में आ जाए और आप लोगों की, जो कल तक उनके सब-कुछ थे, कोई बात न सुने।

शरत : (तिलमिलाकर) सविता…सविता…

सविता : सुनिए भाई साहब ! बात यह है कि आप अपना संतुलन खो बैठे हैं। आप निरंकुश होते जा रहे हैं। आप अपने को केवल शासक मानने लगे हैं। आप भूल गए हैं कि जन-राज में शासक कोई नहीं होते हैं। सब सेवक होते हैं।

विजय : (थका-सा) सेवक होते हैं, तो क्या सेवक मर जाने के लिए हैं ?

सविता : हाँ, मर जाने के लिए हैं। कोई मरकर देखे तो…

लक्ष्मी : सविता, बहू ! तुम बहुत आगे बढ़ रही हो। स्वतंत्रता का युग है तो इसका यह मतलब नहीं कि बड़े-छोटे का विचार न किया जाए।

अन्नपूर्णा : हाँ सविता, तुम्हें इतना तेज नहीं होना चाहिए।

सविता : मैं क्षमा चाहती हूँ। आप सब मुझसे बड़े हैं। आपका अपमान मैं कभी नहीं कर सकती, ऐसा सोच भी नहीं सकती। पर इस नाते-रिश्ते से ऊपर भी तो हम कुछ हैं। हम स्वतंत्र भारत की प्रजा हैं, हम एक स्वतंत्र देश के नागरिक हैं, हम इनसान हैं।

विजय : इनसान हैं तो सभी हैं। स्वतंत्र देश के नागरिक हैं तो सभी हैं। कानून सब पर लागू होता है।

लक्ष्मी : बेशक सब पर लागू होता है। सब समान हैं।

सविता : बेशक सब समान हैं। दादाजी, पर जिनपर व्यवस्था और न्याय की ज़िम्मेदारी है, उनका दायित्व अधिक है।

शरत : जरूर…है, इसलिए मुझे जाना है। लेकिन जाने से पहले मैं जानना चाहूँगा विजय, कि आखिर बात कैसे बढ़ गई ?

विजय : मैं तो वहाँ था नहीं। कल के झगड़े के बारे में आप जानते ही हैं। आज फिर विद्यार्थियों ने प्रदर्शन किए। डिपो पर हमला किया। वहाँ से वे बैंक के पास आए…

शरत : क्या उन्होंने बैंक पर हमला किया ?

विजय : कर सकते थे। शायद वे यही चाहते थे।

शरत : कौन ? विद्यार्थी ?

विजय : यह तो नहीं कह सकता। भीड़ में केवल विद्यार्थी ही नहीं थे। शरारती लोग ऐसे अवसरों की ताक में रहते हैं। पुलिस ने भीड़ को रोका तो उन्होंने पत्थर फेंके·

अन्नपूर्णा : पुलिस पर पत्थर फेंके ?

लक्ष्मी : तब तो ज़रूर उनका बैंक लूटने का इरादा था।

शरत : क्या पुलिस वालों को चोटें आईं ?

विजय : हाँ, दस-बारह सिपाही घायल हो गए। एक इंस्पेक्टर का सिर फूट गया।

सविता : बस !

लक्ष्मी : तुम चाहती थीं कि वे सब मर जाते।

(चौथे भाई सुभाषचंद्र का प्रवेश, जन-नेता, आयु ४४ वर्ष)

सुभाष : हाँ, वे मर जाते तो ठीक होता।

शरत : सुभाष !

अन्नपूर्णा : सुभाष, यह तुम क्या कह रहे हो ?

लक्ष्मी : तुम तो कम्युनिस्ट हो गए हो और अपनी बहू को भी तुमने ऐसा ही बना दिया है।

(बाहर से शोर उठता है)

सुभाष : दादाजी, मैं न कभी कम्युनिस्ट था, न हूँ और न कभी बनूंगा पर मैं स्वतंत्र भारत में गोली चलाना जुर्म मानता हूँ।

लक्ष्मी : चाहे जनता कुछ भी करे ? उसे सब अधिकार हैं ?

सुभाष : बेशक है। उसी ने इन लोगों के (शरत की ओर इशारा करता है) हाथ में शासन की बागडोर सौंपी है।

शरत : किसलिए सौंपी है ? रक्षा के लिए या बरबादी के लिए ?
(बाहर से शोर तेज होता है। सबिता चौंकती है। धीरे से बोलती है और बाहर जाती है। शेष लोग तेज-तेज बोलते रहते हैं।)

सबिता : (अलग से) यह शोर कैसा है ? देखूं तो···
(खिसक जाती है)

सुभाष : (शरत की बात का उत्तर देते हुए) रक्षा के लिए।

शरत : लेकिन जब जनता स्वयं नाश करने पर तुल जाए तो क्या हमें उसे ऐसा करने देना चाहिए ?

सुभाष : नहीं।

विजय : (एकदम) यही तो हमने किया है।

लक्ष्मी : और ठीक किया है।

शरत : और ऐसा करने का उन्हें अधिकार है। वे हैं ही इसलिए। तुम भी इसे मानते हो तो फिर कहना क्या चाहते हो ?

सुभाष : यही कि हमें राज्य की रक्षा करते-करते प्राण दे देने चाहिए, प्राण लेने नहीं चाहिए। हमें देने का अधिकार है, लेने का नहीं।

शरत : सुभाष, यह कोरा आदर्शवाद है।

सुभाष : कर्तव्य का पालन करते हुए मरना यदि आदर्शवाद है तो मैं कहूँगा कि विश्व के प्रत्येक नागरिक को ऐसा ही आदर्शवादी होना चाहिए।

शरत : सुभाष, तुम केवल बोलना जानते हो।

सुभाष : आपसे ही सीखा है, भाई साहब।

विजय : लेकिन ज़िम्मेदारी संभालना नहीं सीखा।

सुभाष : वह भी सीखा है। मैं जनता से प्रतिज्ञा करके आया हूँ कि आज शाम तक गोली चलाने वाले कप्तान पुलिस को मुअत्तिल कराके छोड़ूँगा।

अन्नपूर्णा : क्या'''क्या कहा तुमने ?

लक्ष्मी : अपने ही घर में तुम अपनों के दुश्मन बनकर आए हो ?

सुभाष : अपना-पराया मैं कुछ नहीं जानता। मैं जनता का प्रतिनिधि हूँ। मैं माननीय उपमंत्री श्री शरतचंद्र को बताने आया हूँ कि उनके एक अधिकारी ने निहत्थी जनता पर गोली चलाकर जो बर्बर काम किया है उसकी जाँच करवानी होगी और जब तक वह जाँच पूरी नहीं होती तब तक गोली चलाने से संबंधित सभी व्यक्तियों को मुअत्तिल करना होगा।

शरत : यह किसकी माँग है ?

सुभाष : उस जनता की जिसने आपको गद्दी सौंपी है, जिससे आज आप दूर भागते हैं, डरते हैं।

शरत : मैं डरता हूँ ?

सुभाष : हाँ, आप डरते हैं। यदि न डरते तो घर में छिपकर बैठ रहने की बजाय जनता के पास जाते। तब यह नौबत न आती, गोली न चलती, निर्दोष निहत्थे नागरिक न मरते।

शरत : लेकिन तुम भी तो जनता के नेता हो, तुमने कौन-सा तीर मार लिया ?

सुभाष : मैंने क्या किया है, यह मेरे मुँह से सुनकर क्या करेंगे, पर इतना कहे देता हूँ कि जनता संयत न रहती तो कप्तान विजयचंद्र यहाँ बैठे दिखाई न देते। इनसे पूछिए तो कि क्या इन्हें बंदूकें इसलिए दी गई हैं कि ज़रा-सा पत्थर आ लगे तो जनता को गोली से भून दें'''

लक्ष्मी : गोली न चलती तो'''

सुभाष : (एकदम) दादाजी आप न बोलें। आप व्यापारी हैं। आपका सिद्धांत आपका स्वार्थ है।

लक्ष्मी : (एकदम आवेश में) मैं तो स्वार्थी हूँ, पर तुम अपनी कहो। तुम्हारी नेता-गिरी भी तो मुझ स्वार्थी के पैसे से ही चलती है।

सुभाष : ठीक है उतना पैसा सार्थक होता है—पर आप यह क्यों भूल गए कि उस दिन जब कुछ व्यापारी पकड़े गए थे तो आपने विजय भइया को कितना कोसा था।

लक्ष्मी : और, आज तुम कोस रहे हो। क्योंकि तुम मंत्री नहीं हो, विरोधी दल के हो।

सुभाष : हाँ, मैं विरोधी दल का हूँ, लेकिन दादाजी, मैं आपसे बातें नहीं कर रहा हूँ।

लक्ष्मी : (क्रोध में) तो मैं ही कब तुमसे बातें कर रहा हूँ, वाह !

(तेजी से अंदर जाते हैं।)

अन्नपूर्णा : दादाजी, दादाजी···

(पीछे-पीछे जाती है, विजय भी जाते हैं।)

सुभाष : मैं माननीय उपमंत्री महोदय से पूछता हूँ कि···

शरत : (एकदम) और मैं तुमसे पूछता हूँ कि क्या जनता के राज में भी सड़कों पर प्रदर्शन होने चाहिए, भीड़ को कानून हाथ में लेना चाहिए ?

सुभाष : जब तक सरकार और उसके अधिकारी ठीक आचरण नहीं करेंगे, तब तक जनता प्रदर्शन करती ही रहेगी। कानून हाथ में लेती रहेगी। भाई साहब, इस नौकरशाही ने, शासन की इस भूख ने आपको जनता से दूर कर दिया है।

शरत : सुभाष, तुम बार-बार एक ही बात की रट लगाए जा रहे हो।

सुभाष : मैं ठीक कह रहा हूँ। जनता सरकार के ढाँचे को उतना महत्त्व नहीं देती

जिलना अधिकारियों की ईमानदारी और हमदर्दी को। आप चलिए मेरे साथ···

(सहसा शोर बढ़ता है।)

शरत : (एकदम) हाँ मैं चलूँगा, मुझे तो कभी का चले जाना था, पर, यह शोर कैसा है ?

सुभाष : अवश्य कोई बात है। देखूँ···

(जाने को मुड़ता है तभी लक्ष्मीचंद्र की पत्नी तारा देवी विक्षिप्त-सी वहाँ आती है।)

तारा : (पागल-सी) विजय कहाँ है ?

(चारों तरफ़ देखती है।)

सुभाष : भाभी जी, क्या बात है ?

तारा : मैं पूछती हूँ विजय कहाँ है ? उसका मनचाहा हो गया। उसकी गोली अरविन्द के सीने के पार हो गई···

शरत : (एकदम) भाभी ?

सुभाष : भाभी, तुम क्या कह रही हो ?

(सविता का प्रवेश)

सविता : भाभी ठीक कह रही हैं। अरविन्द जनता की सरकार की गोली का शिकार हो गया।

(लक्ष्मीचंद्र, विजय, अन्नपूर्णा का प्रवेश)

लक्ष्मी : कौन गोली का शिकार हो गया ?

सविता : अरविन्द।

लक्ष्मी : (काँपकर) क्या अरविन्द मर गया ?

तारा : हाँ, गोली उसके सीने के पार हो गई। वह मर गया।

(सब हक्के-बक्के रह जाते हैं। पागल-से एक दूसरे को देखते हैं। लक्ष्मी-

चंद्र सोफ़े पर गिर पड़ते हैं। विजय दोनों हाथों से मुँह ढक लेते हैं। अन्न-पूर्णा पागल-सी तारा को संभालती है और बोलती है।)

अन्नपूर्णा : अरे मेरे अरविन्द को किसने मार डाला ? नाश हो जाए इस पुलिस का, बिना गोली कोई बात ही नहीं करता। अरे विजय, यह तुमने क्या किया ?

विजय : (पागल-सा) ओह ! यह क्या हुआ ? अरविन्द वहाँ क्यों गया था ?

(टेलीफोन की घंटी बजती है; सविता उठती है)

सविता : हलो, जी हाँ, (विजय से) कप्तान साहब आपका फोन है।

विजय : (फोन लेकर) जी हाँ, क्या···भीड़ बेकाबू हो गई है, टालीगंज में, हाँ, अभी आया।

(चोंगा पटक कर तेजी से किसी की ओर देखे बिना भागता है।)

सुभाष : मैं भी जाता हूँ, कहीं कुछ हो न जाए।

(जाता है)

शरत : मैं भी चलता हूँ।

(मुड़ता है, पर जब तारा बोलती है तो ठिठक जाता है।)

अन्नपूर्णा : तारा भाभी जी अंदर चलें।

(उठाती है।)

तारा : (पूर्ववत्) सब जाओ पर अरविन्द क्या आएगा ? उसने किसी का क्या बिगाड़ा था ? वह चिल्लाया—मैं दंगा नहीं करता मैं बाजार जाता हूँ···

(विक्षुब्ध हो जाती है।)

लक्ष्मी : पर मदांध पुलिसवालों ने एक न सुनी। पुलिस को अपनी जान इतनी प्यारी है कि एक दस वर्ष के बच्चे से भी उन्हें डर लगा···

सविता : (जाते-जाते) किसी ने उसकी आवाज नहीं सुनी। किसी ने उसकी ओर नहीं देखा।

लक्ष्मी : सब अंधे हैं। ताकत के अंधे। जो सामने आता है उसे कुचल देना चाहते

हैं। चाहे वह धूल हो चाहे पत्थर···

शरत : (जाता हुआ व्यथा से) ओह, यह क्या हो रहा है ? यह क्या हुआ ?

लक्ष्मी : वही हुआ जो विजय चाहता था, जो तुम चाहते थे।

शरत : (एकदम) दादाजी···

लक्ष्मी : (पूर्ववत) तुमने मेरा घर बरबाद कर दिया। मेरे बच्चे को मार डाला। तुम हत्यारे हो···

शरत : दादा जी, और मैं क्या कहूँ···

लक्ष्मी : (पूर्ववत्)जब पैसे की जरूरत होती है तो मेरे पास भागे आते हो। टैक्स माँगते हो, दान माँगते हो, व्यापार में पैसा लगाने को कहते हो और···मुझ पर गोली चलाते हो।

शरत : दादा जी, गोली उन्होंने जानबूझ कर नहीं चलाई। अरविन्द तो बच्चा था। उससे किसी का क्या बैर था ?

लक्ष्मी : बैर क्यों नहीं था। वह जनता में था और तुम हो जनता के शत्रु ! मैं अभी जाकर विजय से पूछता हूँ···

(जाने को उठते हैं, सविता आती है।)

सविता : अभी रुकिए दादा जी। भाभी जी को दौरा पड़ गया है···
(टेलीफोन की घंटी बजती है, उठाती है) हलो, जी हाँ (शरत से) आपका फोन है।

शरत : (फोन लेकर) हलो, जी हाँ। क्या मंत्रिमंडल की बैठक हो रही है ? मुझे भी बुलाया है ? मैं अभी आया।
(फोन रखकर जाने को मुड़ते हैं। तभी सुभाष का तेज़ी से प्रवेश)

सुभाष : भाई साहब। आपको अभी चलना है।

शरत : मैं चल ही रहा हूँ। मंत्रिमंडल की बैठक हो रही है।

सुभाष : वहाँ नहीं, आपको मेरे साथ चलना है। आपको जनता के पास चलना है।

जनता में बड़ी उत्तेजना है। विद्यार्थी पीछे रह गए, दूसरे समाजद्रोही तत्त्व आगे आ गए हैं और विजय ने गोली चलाने से इंकार कर दिया है।

शरत : (पागल-सा) विजय ने गोली चलाने से इंकार कर दिया ?

सुभाष : जी हाँ।

शरत : वह कहाँ है ?

सुभाष : भीड़ के सामने।

शरत : वह भीड़ के सामने है। (एकदम दृढ़ होकर) चलो सुभाष मैं देखता हूँ, जनता क्या चाहती है।

(दोनों जाते हैं।)

सविता : मैं भी चलती हूँ।

लक्ष्मी : मैं भी चलता हूँ।

सविता : नहीं, नहीं, आप ठहरें। आप भाभी जी को संभालें।

(जाती है। तभी अन्नपूर्णा आती है।)

अन्नपूर्णा : क्या हुआ दादा जी, सब कहाँ गए ?

लक्ष्मी : सब गए। सुभाष आया था। कहता था विजय ने गोली चलाने से इंकार कर दिया। अब···अब तो इंकार करना ही था। वे तो मेरे बच्चे को मारना चाहते थे······

अन्नपूर्णा : नहीं, नहीं, दादाजी, यह बात नहीं थी।

लक्ष्मी : यह बात कैसे नहीं थी ? मैं उन सबको जानता हूँ। वे मेरे पैसे से आगे बढ़े और मुझको बरबाद कर दिया। मैं पूछता हूँ उन्होंने पहले ही गोली चलाने से इंकार क्यों न किया। क्योंकि···क्योंकि···

अन्नपूर्णा : नहीं दादाजी, नहीं···

लक्ष्मी : (आवेश) ये मेरे छोटे भाई···एक ने मुझे स्वार्थी, देशद्रोही कहा, दूसरे ने मेरे बेटे को मार डाला। मेरे मासूम बच्चे को मार डाला, मार डाला···

(रोकर गिर पड़ते हैं।)

अन्नपूर्णा : (संभालती हुई) दादा जी, दादाजी ! ओह, यह एक ही घर में क्या होने लगा ! भाई-भाई में यह मनमुटाव। (एकदम) नहीं नहीं, यह नहीं होगा। दादाजी, आप गलत समझ रहे हैं...

लक्ष्मी : (आँखें खोलकर) मैं गलत समझ रहा हूँ, मैं गलत समझ रहा हूँ ? अरविन्द मेरे बच्चे, तू चला गया, मैं तुझसे दो बातें भी न कर सका। तू तो भीड़ में नहीं था ! अरविन्द...

(तारा का प्रवेश)

तारा : अरविन्द ! क्या अरविन्द आया है ? कहाँ है ?

(अन्नपूर्णा तारा को पकड़ती है)

अन्नपूर्णा : भाभी जी, भाभी जी, आप क्यों उठ आईं ? हम अस्पताल चलते हैं। आप अपने को संभालिए।

(अंदर ले जाती है। लक्ष्मी भी जाते हैं। तभी अस्त-व्यस्त परेशान सविता का प्रवेश)

सविता : (बोलती जाती है) अद्भुत दृश्य था, अपार भीड़ थी, उनसे आगे खड़े थे कप्तान भइया। दूर से देख सकी। किसी ने पास जाने ही नहीं दिया। एक रेला आया और मैं पीछे आ पड़ी।

(अन्नपूर्णा आती है)

अन्नपूर्णा : तुम आ गईं ! वे लोग कहाँ हैं ? सुभाष कहाँ है ?

सविता : कुछ पता नहीं, मुझे किसी का कुछ पता नहीं। आगे नहीं बढ़ सकी और वे दोनों आगे बढ़े चले गए। एक बार भीड़ के बीच में सबको देखा, फिर उस ज्वार-भाटे में सब कुछ छिप गया। (टेलीफोन की घंटी बजती है, उठती है) हलो, जी हाँ, जी वे तो गए। जी हाँ, भीड़ में जाते मैंने देखा था। जी हाँ (फोन रखती है,) मंत्रिमंडल की बैठक में शरत भाई साहब का

इंतजार हो रहा। वे अभी तक पहुँचे ही नहीं। मैं कहती हूँ ये लोग मंत्रि-मंडल की बैठक क्यों कर रहे हैं। जो लोग विदेशियों की गोलियों से नहीं डरे, वे अपने ही बच्चों और भाइयों से क्यों डरते हैं ? जनता में क्यों नहीं आते···

अन्नपूर्णा : क्योंकि शासन भीड़ में आकर नहीं चलाया जाता ? आखिर जनतंत्र भी तो कानून का राज है।

सविता : है, पर···(एकदम) नहीं, अब बहस करने का समय नहीं है। सोचने का और काम करने का समय है। बेचारा अरविन्द ! उसकी मौत क्यों हुई ? जन-राज्य में एक निर्दोष, निरीह बालक की हत्या क्यों हुई ? (टेलीफोन की घंटी फिर बजती है, उठाकर) हलो, क्या, हाँ, हाँ, कप्तान साहब तो कभी के चले गए। क्या उनका पता नहीं मिल रहा ? नहीं, नहीं···वे भीड़ के सामने थे। मैंने देखा था। जी हाँ, मैंने देखा था। उधर का क्या हाल है···ठीक नहीं है। उनके हुक्म के बिना कुछ नहीं कर सकते···हाँ, हाँ आए तो कह दूँगी। क्या···कोई आया है ? हाँ, हाँ, पूछिए हलो हलो···हलो (फोन रखकर) कनेक्शन काट दिया···अवश्य कोई बात है। (जाने को मुड़ती है।) मैं जाती हूँ···

अन्नपूर्णा : सविता, तुम न जाओ। ठहरो तो सविता···(सविता नहीं रुकती) गई।

लक्ष्मी : (आकर) कौन गई ? क्या बात है ?

अन्नपूर्णा : जरूर कोई बात है। सविता टेलीफोन कर रही थी, पता नहीं किसी ने क्या कहा, भागी चली गई।

लक्ष्मी : तो मैं भी जाता हूँ। अरविन्द को भी लाना है।

(गला रुँध जाता है, तेज़ी से जाते हैं)

अन्नपूर्णा : दादा जी, अभी रुकिए। किसी को आ जाने दीजिए।

लक्ष्मी : घबराओ नहीं, मैं बच्चा नहीं हूँ।
(जाते हैं, दूसरे द्वार से विजय की पत्नी उमा, आयु ४२ वर्ष, पागलों की तरह आती है।)

उमा : जीजी सब कहाँ हैं ?

अन्नपूर्णा : मुझे पता नहीं। यहाँ से तो कभी के गए। क्या तुझे सविता नहीं मिली ?

उमा : मुझे कोई नहीं मिला। अरविन्द की खबर सुनकर भागी आ रही हूँ। जीजी···जीजी, मैं भाभी जी को कैसे मुँह दिखाऊँगी ? मैं मर क्यों न गई।

अन्नपूर्णा : (शून्यवत्) न जाने क्या होने वाला है। एक ही घर के लोग एक दूसरे को खा रहे हैं। (बाहर भीड़ का शोर) यह क्या ? लोग इधर आ रहे हैं।

उमा : (द्वार पर जाकर देखती है, चीख पड़ती है।) जीजी···ई-ई···

अन्नपूर्णा : क्या हुआ उमा ?
(उठकर तेजी से आगे बढ़ती है। तभी घायल शरत वहाँ आते हैं। मुख पर घाव है। एक हाथ बँधा है।)

अन्नपूर्णा, (काँपकर) आप ? यह क्या हुआ ?

शरत : वही जो होना चाहिए था। विजय भीड़ में कुचला गया, पर उसने गोली नहीं चलाई।

उमा : कुचले गए, कौन ?

शरत : विजय कुचला गया। चला गया।

उमा : (चीख कर) भाई साहब वे कहाँ हैं ?
(भागती है)

अन्नपूर्णा : (शरत से) यह तुम क्या कह रहे हो ?

शरत : भीड़ संतुलन खो बैठी थी। विवेक खो बैठी थी। वह चिल्लाती रही— 'अरविन्द कहाँ है ? अरविन्द को लौटाओ।' और विजय भीड़ के सामने

अड़ा रहा—'मुझसे अरविन्द का बदला लो। मैंने अरविन्द को मारा है। तुम मुझे मार डालो।'

उमा : और भीड़ ने उन्हें मार डाला ?

शरत : पता नहीं किसने मार डाला। उनके गिरते ही भीड़ पर जैसे अंकुश लग गया, पर···पर जब वहाँ शांति हुई तो विजय और सुभाष दोनों कुचले हुए पड़े थे।

उमा : सुभाष भी !

अन्नपूर्णा : सुभाष भी कुचला गया। हाय···

शरत : हाँ, सुभाष भी कुचला गया। लेकिन खबरदार जो इनके लिए रोए। रोने से उन्हें दुख होगा। उन्होंने प्राण दे दिए, पर शासन और जनता का संतुलन ठीक कर दिया। वे शहीद हो गए, पर दूसरों को बचा गए। नगर में अब बिल्कुल शांति है। सब मौन सगर्व इन बलिदानों की चर्चा कर रहे हैं। सब शोक-संतप्त हैं। (बाहर देखकर) लो, वे आ गए। रोना मत··· रोना मत (आगे बढ़कर) हाँ, वहीं लिटा दो···

(तभी लक्ष्मीचंद्र और सविता के साथ पुलिस तथा दूसरे अधिकारियों का प्रवेश। धीरे-धीरे वे विजय, सुभाष और अरविन्द की लाशें बराबर के कमरे में लाकर रखते हैं। एक भयंकर सन्नाटा छाया रहता है। सविता का मुख पत्थर की तरह कठोर है। लक्ष्मीचंद्र तूफान की तरह काँप रहे हैं। शरत दृढ़ता से प्रबंध में लगे हैं। सहसा उमा तेजी से बढ़ती है। बराबर के कमरे में झाँककर चीख मारती है।)

उमा : माँ···री···ई···यह क्या हुआ ?

(तारा अंदर से आती है)

तारा : कैसा शोर है ? अन्नपूर्णा, अरविन्द आ गया ? कहाँ है ?

शरत : भाभी यह देखो, कमरे में तीनों लेटे हैं। कभी नहीं उठेंगे। यह अरविन्द

और सुभाष हैं—यह जनता की क्षति है। और इधर यह विजय सरकार की क्षति है।

अन्नपूर्णा : (रोकर) यह तुम कैसी बावलोंकी-सी बातें करते हो। यह सब मेरे घर की क्षति है।

सविता : (उसी तरह पत्थरवत्) नहीं जीजी। यह घर की नहीं, सारे देश की क्षति है, देश क्या हमसे और हम क्या देश से अलग हैं ?

शरत : तुमने ठीक कहा सविता यह हमारे देश की क्षति है। जनतंत्र में सरकार और जनता के बीच कोई विभाजक-रेखा नहीं होती···

(पर्दा गिरता है।)

—विष्णु प्रभाकर

प्रश्न-अभ्यास

१. इस एकांकी में उठाई गई समस्या किस-किस से संबंधित है ? निम्नांकित पाँच उत्तरों मे सही उत्तर छाँटिए।

(क) परिवार से

(ख) राष्ट्र से

(ग) सरकार से

(घ) विद्यार्थियों से

(ङ) समाज से

(च) पुलिस से

२. कप्तान विजय ने भीड़ पर गोली चलाने से इंकार क्यों कर दिया ? सही उत्तर छाँटिए।

(क) भीड़ पर गोली चलाने का आदेश उसे सरकार से प्राप्त नहीं था।

(ख) शरतचंद्र ने उसे गोली चलाने से मना कर दिया था।

(ग) दस वर्षीय अरविन्द की मृत्यु से वह मर्माहत हो गया था।

(घ) भीड़ पर गोली चलाने के बजाय वह उसे समझाकर शांत करना चाहता था।

(ङ) भीड़ पर गोली चलाने के कारण उसे मुअत्तिल हो जाने का डर था।

(च) वह अरविन्द की मृत्यु का प्रायश्चित करना चाहता था।

३. इस एकांकी में कौन-सी समस्या उठाई गई है और उसका क्या समाधान प्रस्तुत किया गया है ? इस समाधान की व्यावहारिकता पर टिप्पणी कीजिए।

४. इस एकांकी में लेखक ने एक ही परिवार से पात्रों को किस उद्देश्य से रखा है ?

५. इस एकांकी के पात्र समाज के किन-किन वर्गों का प्रतिनिधित्व करते हैं ? इन वर्गों के चयन की सार्थकता पर टिप्पणी कीजिए।

६. लेखक ने सुभाषचंद्र का बलिदान किस उद्देश्य से कराया है ? इस बलिदान पर टिप्पणी कीजिए।

७. इस एकांकी में भारतीय परिवार के वातावरण की झलक कहाँ-कहाँ और किस-किस रूप में मिलती है ?

८. इस एकांकी के निष्कर्ष वाक्य का चयन कीजिए और उसका संबंध इसके शीर्षक से स्थापित कीजिए।

विनोबा भावे

आचार्य विनोबा का पूरा नाम विनायक राव भावे है। आपका जन्म सन् १८९५ ई० में गगोदा ग्राम (महाराष्ट्र) में हुआ था। आप बड़े मेधावी छात्र थे। विद्यार्थी-जीवन में आपने गणित और संस्कृत का विशेष अध्ययन किया। माता की प्रेरणा से आपने आजीवन अविवाहित रहकर देश-सेवा का व्रत ले लिया।

विनोबा जी बहुत दिनों तक साबरमती आश्रम में महात्मा गांधी के संपर्क में रहे। आपका जीवन सत्य और अहिंसा के सिद्धांतों पर आधारित है। महात्मा गांधी कहा करते थे कि सत्य और अहिंसा का सच्चा अनुयायी देखना हो तो विनोबा को देखो। महात्मा जी ने सन् १९४० ई० के व्यक्तिगत सत्याग्रह के लिए आपको ही पहला सत्याग्रही चुना था।

विनोबा जी का मूल जीवन-दर्शन है सर्वोदय। भूदान, ग्रामदान और संपत्तिदान के प्रचार द्वारा आप देश में एक क्रांति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे हैं। आपने इन्हीं सिद्धांतों के प्रचार के लिए, विगत बीस वर्षों से सारे देश में पद-यात्रा करते रहे हैं। संप्रति आप पवनार आश्रम में रहकर चिन्तन-मनन कर रहे हैं।

आप संस्कृत के गंभीर विद्वान हैं और मराठी, गुजराती, हिन्दी आदि अनेक भाषाओं के ज्ञाता हैं। भारतीय दर्शन आपका प्रिय विषय है। आप गांधीवादी विचारधारा के व्याख्याता हैं। आपकी भाषा आपके विचारों की अनुगामिनी है। छोटे और सरल वाक्यों में चिन्तन तथा अनुभूति का बल रहता है। राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर भी आपने बड़ी गहराई से विचार किया है। आपकी दृढ़ धारणा है कि ज्ञान का प्रसार निजी भाषा द्वारा ही हो सकता है।

विनोबा जी की शैली प्रवचनात्मक है। प्रवचन-शैली में वक्ता की यह चेष्टा होती है कि वह अपने विचार श्रोताओं के हृदय तक पहुँचा दे। वह भाषण की झड़ी नहीं लगाता, बल्कि बूँद-बूँद करके अपने विचार देता है। वाक्य छोटे-छोटे होते हैं जो हृदय पर सीधा प्रभाव डालते हैं।

'जीवन और शिक्षण' एक विचारात्मक निबंध है जिसमें शिक्षा की मूलभूत समस्याएँ उठाई गई हैं तथा उनके निदान भी प्रस्तुत किए गए हैं। आज समस्त विश्व में शिक्षा की समस्या अत्यंत ज्वलंत है जिसका यदि समय रहते निराकरण नहीं किया गया, तो विश्व-सभ्यता का भविष्य अंधकारमय है। भारतीय शिक्षा पद्धति में भी तत्काल सुधार करने की आवश्यकता है। इस देश में विनोबा जी जैसे उच्चकोटि के समाजसेवी, शिक्षासेवी एवं चिन्तक के अनुभव विशेष रूप से विचारणीय हैं।

जीवन और शिक्षण

आज की विचित्र शिक्षण-पद्धति के कारण जीवन के दो टुकड़े हो जाते हैं। आयु के पहले पंद्रह-बीस वर्ष में आदमी जीने के झंझट में न पड़कर सिर्फ़ शिक्षा प्राप्त करे और बाद, शिक्षण को बस्ते में लपेटकर रख, मरने तक जिए।

यह रीति प्रकृति की योजना के विरुद्ध है। हाथ-भर लंबाई का बालक साढ़े तीन हाथ कैसे हो जाता है, यह उसके अथवा औरों के ध्यान में भी नहीं आता। शरीर की वृद्धि रोज होती रहती है। यह वृद्धि सावकाश क्रम-क्रम से, थोड़ी-थोड़ी होती है। इसलिए उसके होने का भास तक नहीं होता। यह नहीं होता कि आज रात को सोए, तब दो फुट ऊँचाई थी और सबेरे उठकर देखा तो ढाई फुट हो गई। आज की शिक्षण-पद्धति का तो यह ढंग है कि अमुक वर्ष के बिलकुल आखिरी दिन तक मनुष्य, जीवन के विषय में, पूर्ण रूप से गैर-जिम्मेदार रहे तो भी कोई हर्ज़ नहीं। यही नहीं, उसे गैर-ज़िम्मेदार रहना चाहिए और आगामी वर्ष का पहला दिन निकले कि सारी ज़िम्मेदारी उठा लेने को तैयार हो जाना चाहिए। संपूर्ण गैर-ज़िम्मेदारी से संपूर्ण ज़िम्मेदारी में कूदना तो एक हनुमान-कूद ही हुई। ऐसी हनुमान-कूद की कोशिश में हाथ-पैर टूट जाएँ, तो क्या अचरज !

भगवान ने अर्जुन से कुरुक्षेत्र में ही भगवद्‌गीता कही। पहले भगवद्‌गीता का 'क्लास' लेकर फिर अर्जुन को कुरुक्षेत्र में नहीं ढकेला। तभी उसे वह गीता पची। हम जिसे जीवन की तैयारी का ज्ञान कहते हैं, उसे जीवन से बिलकुल अलिप्त रखना चाहते हैं, इसलिए उक्त ज्ञान में मौत की ही तैयारी होती है।

बीस वर्ष का उत्साही युवक अध्ययन में मग्न है। तरह-तरह के ऊँचे विचारों के महल बना रहा है। "मैं शिवाजी महाराज की तरह मातृभूमि की सेवा करूँगा।

मैं वाल्मीकि-सा कवि बनूंगा। मैं न्यूटन की तरह खोज करूंगा।" एक दो, चार—जाने क्या-क्या कल्पना करता है। ऐसी कल्पना करने का भाग्य भी थोड़े को ही मिलता है। पर जिनको मिलता है, उनकी ही बात लेते हैं। इन कल्पनाओं का क्या नतीजा निकलता है? जब नोन-तेल-लकड़ी के फेरे में पड़ा, जब पेट का प्रश्न सामने आया, तब बेचारा दीन बन जाता है। जीवन की ज़िम्मेदारी क्या चीज़ है, आजतक इसकी बिलकुल ही कल्पना नहीं थी और अब तो पहाड़ सामने खड़ा हो गया। फिर क्या करता है? फिर, पेट के लिए वन-वन फिरनेवाले शिवाजी; करुण गीत गानेवाले वाल्मीकि और कभी नौकरी की, तो कभी औरत की; कभी लड़की के लिए वर की और अंत में श्मशान का शोध करनेवाले न्यूटन—इस प्रकार की भूमिका लेकर अपनी कल्पना का समाधान करता है। यह हनुमान-कूद का फल है।

मैट्रिक के एक विद्यार्थी से पूछा—"क्यों जी, तुम आगे क्या करोगे?"

"आगे क्या? कालेज में जाऊँगा।"

"ठीक है। कालेज में तो जाओगे। लेकिन उसके बाद? यह सवाल तो बना ही रहता है।"

"सवाल तो बना रहता है। पर अभी से उसका विचार क्यों किया जाए, आगे देखा जाएगा।"

फिर तीन साल बाद उसी विद्यार्थी से वही सवाल पूछा।

"अभी तक कोई विचार नहीं हुआ।"

"विचार हुआ नहीं, यानी? लेकिन, विचार किया था, क्या?"

"नहीं साहब, विचार किया ही नहीं। क्या विचार करें? कुछ सूझता नहीं। पर अभी डेढ़ बरस बाकी है। आगे देखा जाएगा।"

"आगे देखा जाएगा।"—ये वही शब्द हैं, जो तीन वर्ष पहले कहे गए थे। पर पहले की आवाज में बेफिक्री थी। आज की आवाज़ में थोड़ी चिंता की झलक थी।

फिर डेढ़ वर्ष के बाद उसी प्रश्नकर्ता ने उसी विद्यार्थी से—अथवा कहो, अब

'गृहस्थ' से—वही प्रश्न पूछा। इस बार चेहरा चिंताक्रांत था। आवाज़ की बेफिक्री बिलकुल गायब थी। ततः किं ? ततः किं ? यह शंकराचार्यजी का पूछा हुआ सनातन सवाल अब दिमाग में कसकर चक्कर लगाने लगा था। पर, उसका जवाब नहीं था।

आज की मौत कल पर ढकेलते-ढकेलते एक दिन ऐसा आ जाता है कि उस दिन मरना ही पड़ता है। यह प्रसंग उनपर नहीं आता, जो 'मरण के पहले' मर लेते हैं। जो अपना मरण आँखों से देखते हैं, जो मरण का 'अगाऊ' अनुभव कर लेते हैं उनका मरण है। और, जो मरण के अगाऊ अनुभव से जी चुराते हैं, खिचते हैं, उनकी छाती पर मरण आ पड़ता है। सामने खंभा है, यह बात अंधे को उस खंभे का छाती में प्रत्यक्ष धक्का लगने के बाद मालूम होती है। आँखवाले को यह खंभा पहले ही दिखाई देता है। अतः उसका धक्का उसकी छाती को नहीं लगता।

जिन्दगी की जिम्मेदारी कोई निरी मौत नहीं है और मौत कौन ऐसी बड़ी मौत है ? अनुभव के अभाव से यह सारा हौआ है। जीवन और मरण दोनों आनंद की वस्तु होनी चाहिए। कारण, अपने परम प्रिय पिता ने—ईश्वर ने—वे हमें दिए हैं। ईश्वर ने जीवन दुखमय नहीं रचा। पर, हमें जीवन जीना आना चाहिए। कौन पिता है, जो अपने बच्चों के लिए परेशानी की ज़िन्दगी चाहेगा ? तिस पर ईश्वर के प्रेम और करुणा का कोई पार है ? वह अपने लाड़ले बच्चों के लिए सुखमय जीवन का निर्माण करेगा कि परेशानियों और झंझटों से भरा जीवन रचेगा ? कल्पना की क्या आवश्यकता है, प्रत्यक्ष ही देखिए न। हमारे लिए जो चीज़ जितनी ज़रूरी है, उसके उतनी ही सुलभता से मिलने का इंतज़ाम ईश्वर की ओर से है। पानी से हवा ज़्यादा ज़रूरी है, तो ईश्वर ने हवा को अधिक सुलभ किया है। जहाँ नाक है, वहाँ हवा मौजूद है। पानी से अन्न की ज़रूरत कम होने की वजह से पानी प्राप्त करने की बनिस्बत अन्न प्राप्त करने में अधिक परिश्रम करना पड़ता है। आत्मा सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु होने के कारण, वह हरएक को हमेशा के लिए दे डाली गई है। ईश्वर की ऐसी प्रेम-पूर्ण

योजना है। इसका ख्याल न करके हम निकम्मे, जड़ जवाहरात जमा करने में जितने जड़ बन जाएँ, उतनी तकलीफ़ हमें होगी। पर, यह हमारी जड़ता का दोष है, ईश्वर का नहीं।

जिन्दगी जिम्मेदारी की कोई डरावनी चीज़ नहीं है। वह आनंद से ओत-प्रोत है, बशर्ते कि ईश्वर की रची हुई जीवन की सरल योजना को ध्यान में रखते हुए अयुक्त वासनाओं को दबाकर रखा जाए। पर, जैसे वह आनंद से भरी हुई वस्तु है, वैसे ही शिक्षा से भी भरपूर है। यह पक्की बात समझनी चाहिए कि जो जिन्दगी की जिम्मेदारी से वंचित हुआ, वह सारे शिक्षण का फल गँवा बैठा। बहुतों की धारणा है कि बचपन से ही जिन्दगी की जिम्मेदारी का खयाल अगर बच्चों में पैदा हो जाए, तो जीवन कुम्हला जाएगा। पर, जिन्दगी की जिम्मेदारी का भान होने से अगर जीवन कुम्हलाता हो, तो फिर वह जीवन-वस्तु ही रहने लायक नहीं है। पर, आज वह धारणा बहुतेरे शिक्षण-शास्त्रियों की भी है, और इसका मुख्य कारण है जीवन के विषय में दुष्ट कल्पना। जीवन, यानी संघर्ष, यह मान लेना—ईसप-नीति के अरसिक माने हुए, परंतु वास्तविक मर्म को समझनेवाले मुर्गे ने, सीख लेकर, ज्वार के दानों की अपेक्षा मोतियों को लेना-देना छोड़ दिया, तो जीवन के अंदर कलह जाता रहेगा और जीवन में सहकार दाखिल हो जाएगा। बंदर के हाथ में मोतियों की माला (मरकट-भूषण अंग)—यह कहावत जिन्होंने गढ़ी है उन्होंने मनुष्य का मनुष्यत्व सिद्ध न करके मनुष्य के पूर्वजों के संबंध में डार्विन का सिद्धांत ही सिद्ध किया है। हनुमान के हाथ में मोतियों की मालावाली कहावत जिन्होंने रची, वे अपने मनुष्य के प्रति वफादार रहे।

जीवन अगर भयानक वस्तु हो, कलह हो, तो बच्चों को उसमें दाखिल मत करो और खुद भी मत जिओ। पर, अगर जीने लायक वस्तु हो, तो लड़कों को उसमें जरूर दाखिल करो। विना उसके उन्हें शिक्षण नहीं मिलने का। भगवद्गीता जैसे कुरुक्षेत्र

में कही गई, वैसी शिक्षा जीवन-क्षेत्र में देनी चाहिए, दी जा सकती है। 'दी जा सकती है'—यह भाषा भी ठीक नहीं है, वहीं वह मिल सकती है।

अर्जुन के सामने प्रत्यक्ष कर्तव्य करते हुए सवाल पैदा हुआ। उसका उत्तर देने के लिए भगवद्गीता निर्मित हुई। इसी का नाम शिक्षा है। बच्चों को खेत में काम करने दो। वहाँ कोई सवाल पैदा हो, तो उसका उत्तर देने के लिए सृष्टि-शास्त्र अथवा पदार्थ-विज्ञान की या दूसरी चीज़ की जरूरत हो, उसका ज्ञान दो। यह सच्चा शिक्षण होगा। बच्चों को रसोई बनाने दो। उसमें जहाँ ज़रूरत हो, रसायनशास्त्र सिखाओ। पर, असली बात यह है कि उनको 'जीवन जीने' दो। व्यवहार में लाभ करनेवाले आदमी को भी शिक्षण मिलता ही रहता है। वैसे ही छोटे बच्चे को भी मिले। भेद इतना ही होगा कि बच्चों के आसपास जरूरत के अनुसार मार्गदर्शन करानेवाले मनुष्य मौजूद हों। ये आदमी भी 'सिखानेवाले' बनकर 'नियुक्त' नहीं होंगे। ये भी जीवन जीनेवाले हों, जैसे व्यवहार में आदमी जीवन जीते हैं। अंतर इतना ही है कि इन 'शिक्षक' कहलानेवाले का जीवन विचारमय होगा—उसमें के विचार मौके पर बच्चों को समझाकर बताने की योग्यता इनमें होगी। पर 'शिक्षक' नाम के किसी स्वतंत्र धंधे की ज़रूरत नहीं है, न 'विद्यार्थी' नाम के मनुष्य-कोटि के बाहर के किसी प्राणी की। और, क्या करते हो, पूछने पर 'पढ़ता हूँ' या 'पढ़ाता हूँ', ऐसे जवाब की ज़रूरत नहीं है। 'खेती करता हूँ' अथवा 'बुनता हूँ', ऐसा शुद्ध पेशेवर कहिए या व्यावहारिक कहिए, पर जीवन के भीतर से उत्तर आना चाहिए। इसके लिए उदाहरण विद्यार्थी राम-लक्ष्मण और गुरु विश्वामित्र का लेना चाहिए। विश्वामित्र यज्ञ करते थे। उसकी रक्षा के लिए उन्होंने दशरथ से लड़कों की याचना की। उसी काम के लिए दशरथ ने लड़कों को भेजा। लड़कों में भी यह जिम्मेदारी की भावना थी कि हम यज्ञ-रक्षक के 'काम' के लिए जाते हैं। उसमें उन्हें अपूर्व शिक्षा मिली। पर, यह बताना हो कि राम-लक्ष्मण ने क्या किया, तो कहना होगा कि 'यज्ञ-रक्षा' की। 'शिक्षण प्राप्त किया', नहीं कहा जाएगा। पर, शिक्षण उन्हें मिला, जो मिलना ही था।

शिक्षण कर्तव्य का, कर्म का आनुषंगिक फल है। जो कोई कर्तव्य करता है, उसे जाने-अनजाने वह मिलता ही है। लड़कों को भी वह उसी तरह मिलना चाहिए। औरों को वह ठोकरें खा-खाकर मिलता है। छोटे लड़कों में आज उतनी शक्ति नहीं आई है, इसलिए उनके आसपास ऐसा वातावरण बनाना चाहिए कि वे बहुत ठोकरें न खाने पाएँ और धीरे-धीरे वे स्वावलंबी बनें, ऐसी अपेक्षा और योजना होनी चाहिए। 'शिक्षण फल है' और 'मा फलेषु कदाचन'—यह मर्यादा फल के लिए भी लागू है—खास शिक्षण के लिए कोई कर्म करना, यह भी काम हुआ—और उसमें भी 'इदमद्य-मया लब्धम्'—आज मैंने वह पाया, 'इदं प्राप्स्ये'—कल वह पाऊँगा इत्यादि वासनाएँ आती ही हैं। इसलिए, इस 'शिक्षण-मोह' से छूटना चाहिए। इस मोह से जो छूटा, उसे सर्वोत्तम शिक्षण मिला समझना चाहिए। माँ बीमार है, उसी की सेवा करने में मुझे खूब शिक्षण मिलेगा। पर इस शिक्षण के लोभ से मुझे माता की सेवा नहीं करनी है। वह तो मेरा पवित्र कर्तव्य है, इस भावना से मुझे माता की सेवा करनी चाहिए। अथवा, माता बीमार है और उसकी सेवा करने से मेरी दूसरी चीज़—जिसे मैं शिक्षण समझता हूँ—वह जाती है, तो इस शिक्षण के नष्ट होने के डर से मुझे माता की सेवा नहीं टालनी चाहिए।

प्राथमिक महत्त्व के जीवनोपयोगी परिश्रम को शिक्षण में स्थान मिलना चाहिए। कुछ शिक्षण-शास्त्रियों का इस पर यह कहना है कि ये परिश्रम शिक्षण की दृष्टि से ही दाखिल किए जाएँ, पेट भरने की दृष्टि से नहीं। आज पेट भरने का जो विकृत अर्थ प्रचलित है, उससे घबड़ाकर यह कहा जाता है और कुछ हद तक वह ठीक है। पर, मनुष्य को 'पेट' देने में ईश्वर का हेतु है। ईमानदारी से 'पेट भरना' मनुष्य साध ले, तो समाज के बहुतेरे दुख और पातक नष्ट हो जाएँ। इसी से मुनि ने 'योऽर्थ-शुचिः स हि शुचि'—जो आर्थिक दृष्टि से पवित्र है, वही पवित्र है; यह यथार्थ उद्गार प्रकट किया है। 'सर्वेषामविरोधेन' कैसे जिएँ, इस शिक्षण में सारा शिक्षण समा जाता है। अविरोधवृत्ति से शरीर-यात्रा करना मनुष्य का प्रथम कर्तव्य है। यह कर्तव्य करने

से उसकी आध्यात्मिक उन्नति होगी। इसी से शरीर-यात्रा के लिए उपयोगी परिश्रम करने को ही शास्त्रकारों ने 'यज्ञ' नाम दिया है। 'उदरभरण नोहे, जाणिजे यज्ञ कर्म' यह उदर-भरण नहीं है, इसे यज्ञ-कर्म जान। वामन पंडित का यह वचन प्रसिद्ध है। अतः मैं शरीर-यात्रा के लिए परिश्रम करता हूँ यह भावना उचित है। शरीर-यात्रा से मतलब अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर की यात्रा न समझकर समाज-शरीर की यात्रा, यह अर्थ मन में बैठाना चाहिए। मेरी शरीर-यात्रा यानी समाज की सेवा और इसलिए ईश्वर की पूजा. इतना समीकरण दृढ़ होना चाहिए। और, इस ईश्वर-सेवा में देह खपाना मेरा कर्तव्य है और वह मुझे करना चाहिए, यह भावना हरएक में होनी चाहिए। इसलिए वह छोटे बच्चों में भी होनी चाहिए। इसके लिए अपनी शक्तिभर उन्हें जीवन में भाग लेने का मौका देना चाहिए। और जीवन को मुख्य केन्द्र बनाकर उनके आसपास आवश्यकतानुसार सारे शिक्षण की रचना करनी चाहिए।

इससे जीवन के दो खंड न होंगे। जीवन की जिम्मेदारी अचानक आ पड़ने से उत्पन्न होनेवाली अड़चन पैदा न होगी। अनजाने शिक्षा मिलती रहेगी, पर 'शिक्षण का मोह' नहीं चिपकेगा और निष्काम कर्म की ओर प्रवृत्ति होगी।

—विनोबा भावे

प्रश्न-अभ्यास

१. प्रचलित शिक्षा-प्रणाली को लेखक ने विचित्र क्यों कहा है ? इसमें वर्तमान विचित्रता को उद्‌घाटित कीजिए।

२. "संपूर्ण गैर-जिम्मेदारी से संपूर्ण जिम्मेदारी में कूदना तो एक हनुमान कूद ही हुई।" यह वाक्य लेखक ने किस प्रसंग में कहा है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए 'हनुमान-कूद' को स्पष्ट कीजिए।

३. भगवद्‌गीता और अर्जुन का उल्लेख जिस बात को स्पष्ट करने के लिए लेखक ने किया है, उसे लगभग सौ शब्दों में लिखिए।

४. विद्यार्थी के पहली बार और दूसरी बार के इस कथन—"आगे देखा जाएगा" में क्या अंतर था? इस अंतर का कारण बताइए। इस संबंध में आप अपनी बातें भी बताइए।

५. अंधे और आंखवाले का उल्लेख लेखक ने जिस प्रसंग और जिस उद्देश्य से किया है, उसका वर्णन कीजिए।

६. ईश्वर की किस प्रेमपूर्ण योजना का लेखक ने वर्णन किया है?

७. जिम्मेदारी का जीवन के साथ क्या संबंध है? आप इस संबंध में लेखक के निष्कर्ष के साथ कहाँ तक सहमत हैं?

८. विनोबा जी के अनुसार शिक्षा का स्वरूप निर्धारित कीजिए। उस शिक्षा-पद्धति में शिक्षक और शिक्षार्थी का क्या संबंध होगा?

९. "जीवन अगर···दाखिल करो।" इस गद्यांश का सारांश लिखिए।

१०. "शिक्षण कर्तव्य का, कर्म का आनुषंगिक फल है।" विवेचना कीजिए।

११. जो शिक्षा आप पा रहे हैं और जिस शिक्षा के बारे में विनोबा जी ने बताया है, उनमें से आप अपने लिए किसे विशेष उपयुक्त पाते हैं? सकारण उत्तर दीजिए।

धर्मवीर भारती

भारती जी का जन्म २५ दिसंबर १९२६ ई० को इलाहाबाद में हुआ। आपकी शिक्षा-दीक्षा भी उसी नगर में हुई जहाँ से आपने एम० ए० और पीएच० डी० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। कुछ वर्षों तक साप्ताहिक 'संगम' का संपादन करने के पश्चात् आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक नियुक्त हो गए। सन् १९५९ से आप साप्ताहिक 'धर्मयुग' के संपादक हैं।

धर्मवीर भारती उच्चकोटि के कवि होने के साथ-साथ प्रभावशाली कथाकार और नाटककार भी हैं। आपकी कविताओं और नाटकों में दार्शनिक स्वर प्रमुख है। अपनी कहानियों और उपन्यासों में आपने सामाजिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं को उठाया है। आपकी भाषा विषयानुकूल और सहज तथा आपकी शैली मर्मस्पर्शी होती है। व्यंग्य लिखने में भी भारती जी सिद्धहस्त हैं। सन् १९७२ में भारत सरकार ने आपको 'पद्मश्री' से अलंकृत किया।

भारती जी की प्रमुख कृतियाँ हैं 'गुनाहों का देवता', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' (उपन्यास), 'ठंडा लोहा', 'सात गीत वर्ष', 'कनुप्रिया' (कविता), 'बंद गली का आखिरी मकान' (कहानी संग्रह), 'नदी प्यासी थी,' (नाटक), 'कहनी अनकहनी, 'ठेले पर हिमालय', 'पश्यंती' (निबंध संग्रह)। 'देशांतर' नाम से आपने विश्व-कविताओं का हिन्दी अनुवाद भी किया है।

सन् १९७१ के अंत में बंगला देश के स्वतंत्रता-युद्ध का आँखों देखा विवरण प्रस्तुत करने के लिए आप पूर्वी मोर्चे पर चल रहे युद्ध क्षेत्र में गए और अनेक जोखिम उठाकर वहाँ से आपने जो वृत्तांत 'धर्मयुग' में प्रस्तुत किया, उसने भारत की जनता में बंगला देश के प्रति सक्रिय सहानुभूति जगाने में बहुत बड़ा योगदान दिया। प्रस्तुत रिपोर्ताज वहीं से संकलित है।

'ब्रह्मपुत्र की मोर्चेबंदी' शिल्प की दृष्टि से रिपोर्ताज का उत्कृष्ट उदाहरण है विशेषकर युद्ध-साहित्य के क्षेत्र में। इसमें लेखक ने एक ओर भारतीय सेना के कौशलपूर्ण शौर्य का वर्णन किया है तो दूसरी ओर बंगला देश के मुक्ति-आंदोलन को स्वर प्रदान किया है। इस यात्रा के सिलसिले में लेखक को युद्ध का जो रोमांचक अनुभव हुआ वह सचमुच ही लोमहर्षक है।

ब्रह्मपुत्र की मोर्चेबंदी

फ़ौज का सबेरा भी खूब होता है। रात को जो शहर चारों ओर बस गया था, वह सारा सिमटकर लारियों और ट्रकों में भर चुका है और दो टुकड़ियाँ आगे मार्च भी कर चुकी हैं। हम जब अलसाते-अलसाते उठते हैं, तब तक हमारी इमारत के सारे सिपाही बिस्तरे बाँधकर ट्रकों पर सवार हो चुके हैं। मेस से नाश्ते का बुलावा आ चुका है, नाश्ते के बाद मेस भी ट्रकों पर लाद दी जाएगी।

साढ़े सात बज चुके थे और हमें ब्रिगेडियर और जनरल के पहुँचने के पहले शेरपुर पहुँचना था। जीप तैयार थी। सड़क के दोनों ओर हर पुलिया, हर गाँव पर बच्चे-जवान-बूढ़े खड़े थे जो हमें देखते ही 'जय बाँगला' से आसमान गुंजा देते। जीप देखते ही खेतों से बच्चे 'जय बाँगला' चिल्लाते हुए दौड़ते थे। हर चेहरे पर एक उल्लास था, एक संतोष। जीप रुकवाकर लोग आते, हाथ मिलाते, धन्यवाद देते। रास्ता घंटे-भर का है, लेकिन निश्चय ही यह स्वागत देर करा देगा।

शेरपुर के कुछ पहले पक्की सड़क शुरू हो जाती है। तीन दिन से धूल उड़ाती कच्ची सड़कों पर धक्के खाने के बाद यह पक्की सड़क वरदान-सी लगती है। मालूम होता है कि शेरपुर होती हुई यह ब्रह्मपुत्र के किनारे तक जाती है। शायद कभी जमालपुर पर पुल बनाने का इरादा रहा हो, पर कभी बना नहीं। और, यही वजह है कि ब्रह्मपुत्र के उस पार जमालपुर पर पाकिस्तानी सेना ने बहुत सख्त मोर्चेबंदी कर रखी है। वे नहीं चाहते थे कि इधर से भारतीय सेना बढ़कर उस किनारे पर कब्जा करे और दोनों किनारे जोड़कर पुल बना सकें। मैं चलती जीप में नक्शा निकालकर देखता हूँ, तो जमालपुर के मोर्चे का महत्त्व समझ में आता जाता है। अखबारों में जैसोर

और कोमिल्ला की खबरें भरी पड़ी हैं । लगता है, जैसोर और कोमिल्ला से ही बढ़कर हमारी सेनाएँ ढाका में दाखिल हो जाएँगी। लेकिन उधर बीच में बहुत-सी छोटी-बड़ी नदियाँ हैं। दर्जनों। अतः एक-एक स्थान पर पुल बनाने या नावों को जोड़कर ट्रक पार कराने में हफ्तों लग जाएँगे। लेकिन उत्तर से जनरल नागरा की इस सेना के मार्ग में भारतीय सीमा से ढाका तक केवल एक नदी है, ब्रह्मपुत्र। हमारी सेना उसे पार कर ले, तो माधोपुर, टंगाइल से जयदेवपुर होते हुए ढाका तक सीधी पक्की सड़क है। रास्ते में कोई रुकावट नहीं। इसीलिए जमालपुर का युद्ध वस्तुतः ढाका का युद्ध है। हमने जमालपुर ले लिया कि फिर ढाका को गिरते देर नहीं लगेगी।

तो बाँगला देश की मुक्ति का असली मोर्चा ब्रह्मपुत्र पर है। पूर्वी कमान की सारी रण-योजना सचमुच बड़ी कुशलता से बनाई गई है। जनरल नागरा और ब्रिगेडियर क्लेर बहुत सावधानी से बढ़ रहे हैं। जनरल को विश्वास है कि सबसे पहले वे और क्लेर ही ढाका पहुँचेंगे।

लेकिन जब हम शेरपुर पहुँचते हैं, तो दूसरा मोर्चा लगा हुआ है। आज़ाद उत्फुल्ल नागरिकों का मोर्चा, भारतीय मित्रों के स्वागत के लिए रंग-बिरंगी लुंगियाँ पहने किशोर, युवक, ईद के-से कपड़े पहने बच्चे, कुर्ता-पाजामा और गले में रूमाल डाले बूढ़े मौलाना, स्टेनगन लिए मुक्तिवाहिनी के जत्थे। सड़क पर आस-पास के गाँवों से आए किसान भारतीय सेना की हर ट्रक, हर जीप का 'जय बाँगला' चिल्लाकर स्वागत करते हुए, उनसे हाथ मिलाते हुए, मना करने पर भी उन्हें पान, सिगरेट ला-ला कर देते हुए। लाउडस्पीकर पर मुक्तिवाहिनी का कोई सैनिक कुछ बोल रहा है—बाँगला समझने की कोशिश करता हूँ। वह कह रहा है, "१५ दिन पहले हम पर पाकिस्तानी फ़ौज की हुकूमत थी, इसलिए आपने ईद नहीं मनाई। आज आज़ादी की ईद है। अब हम कभी गुलाम नहीं होंगे। हमारे भारतीय मित्र अपनी जान देकर हमारे लिए यह आजादी की ईद लाए हैं।"

कृतज्ञता और ममता किसी भी कौम की बहुत बड़ी सिफ़त होती है। मुक्ति-वाहिनी के जवान हमें घेरकर मंच तक पहुँचाते हैं। हैलिकॉप्टर की आवाज़ सुन पड़ती है। लोग उछल-उछलकर .खते हैं। चक्कर काटकर हैलिकॉप्टर नीचे आता है। हवा के तेज़ झोंके, धूल का अंधड़। एक ओर की भीड़ छँटती है, सफेद कपड़ा उड़ जाता है। जनरल उतरते हैं, पीछे क्लेर। और, भीड़ ने दोनों को लपेट लिया। मालाओं से लाद दिया है। बूढ़े आगे बढ़कर दोनों योद्धाओं को गले लगाते हैं। दुआएँ देते हैं। एक बूढ़ा फूटकर रो पड़ता है और रोता जाता है। लोग अपने बच्चों को गोद में उठाकर उनसे मालाएँ डलवाते हैं।

बलबीर सिंह हमें अलग ले जाकर बताते हैं कि जनरल नागरा और ब्रिगेडियर क्लेर हैलिकॉप्टर से जल्दी ही ब्रह्मपुत्र के किनारे जा रहे हैं, स्वयं वह क्षेत्र देखकर आगे की योजना बनाने। हम अब बातचीत छोड़कर तुरंत जीप से जाएँ। ब्रह्मपुत्र वहाँ से कई मील दूर है, लेकिन जनरल की सख्त हिदायत है कि ब्रह्मपुत्र के दो मील इधर जो पोस्ट है, बस वहीं रुककर जनरल का इंतजार करें। उससे एक इंच आगे नहीं जाना है। दोनों ओर से गोलाबारी हो रही है। अगर गोलाबारी शुरू हो जाए, तो जीप को खुली सड़क पर न छोड़ें किसी पेड़ के नीचे या झुरमुट के पीछे खड़ी कर किसी आड़ में लेट जाएँ। बलबीर सिंह बाद में जनरल के साथ आएँगे।

अब हमारी जीप तेज़ी से पक्की सड़क पर दौड़ रही है। सहसा हवाई जहाजों की आवाज़ आती है, हमारे दो बमवर्षक उड़ते हुए जमालपुर की ओर जा रहे हैं। रात को दुश्मन के बेतार से संदेश पकड़ा गया था। सुना जाता है कि सेनाध्यक्ष नियाजी ने ढाका से जमालपुर के कमांडर सुलतान अहमद को हुक्म दिया है कि न केवल जमाल-पुर नहीं छोड़े, वरन् दूसरी जगहों से लौटी फ़ौज को इकट्ठा कर, हो सके तो ब्रह्मपुत्र के इस पार ही भारतीय सेना पर हमला करके उसे घेर ले। किसी हालत में ब्रह्मपुत्र के तट तक नहीं पहुँचने दे। हमारे कमांडर ने अपनी वायुसेना से मदद माँगी है कि

हमारे बमवर्षक दिन में ४ सार्टीज़ (बमवर्षक उड़ानें) लेकर जमालपुर में उनके सैनिक मुख्यालय, उनके शस्त्रागार और छावनी को बंबार्ड करें। सार्टीज़ शुरू हो गई हैं। हमारे बमवर्षक विमान उड़ते हुए उस पार जमालपुर पर चक्कर लगा रहे हैं। उधर से तोपें चलने लगी हैं। आसमान सहसा सजीव हो उठा है। हमारे विमान सहसा चील की तरह झपट्टा मारते हैं और दो भयानक धमाके सुनाई पड़ते हैं। दूर तक गाँव, खेत, सड़क किनारे के पेड़ मानो काँप उठते हैं। आधे मिनट बाद दो धमाके, और फिर हमारे विमान घूमकर जिधर से आए हैं, उधर ही तेजी से लौट जाते हैं। पाँच मिनट बाद उधर की पाकिस्तानी तोपों की गरज सुनाई पड़ती है। हम जीप से उतरते हैं, पर सड़क पर लौटते भारतीय सैनिक हमें बताते हैं कि अभी हम आगे जा सकते हैं। ये तोपें हमारी ओर नहीं, भारतीय सेना की उस टुकड़ी की ओर चल रही हैं, जो रातों-रात बख्शीगंज के पास से चुपचाप नदी पारकर जमालपुर के बाएँ बाजू में जाकर मोर्चेबंदी कर रही हैं। "अच्छा तो हमारे जवान उन्हें घेर रहे हैं ?" "हाँ, जनरल का हुक्म है कि उनके भागने और ढाका पहुँचने के रास्ते बंद कर दो। वे भागे, तो ढाका की सड़क ध्वस्त करते हुए जाएँगे।" जमालपुर की विशाल सेना के बाजू में जाकर हमारी इतनी छोटी टुकड़ी किस भयानक खतरे में होगी, हम यह कल्पना करके सिहर उठते हैं। भारतीय सैनिक किस फ़ौलाद का बना होता है !

जनरल का हैलिकॉप्टर इधर आकर उतरा है। जनरल नागरा हैं, ब्रिगेडियर क्लेर हैं, जो हमें पहले मिले थे। इंजीनियरिंग यूनिट के ब्रिगेडियर एन० एल० बेरी हैं। क्लेर के अंगरक्षक बलवीर सिंह हैं, नागरा के अंगरक्षक मेजर वामी हैं। और, दो-एक और नए चेहरे। हमें पहले पहुँचा देखकर जनरल नागरा खुश हैं, "शाबाश"। बाईं ओर के केले और आम के कुंजों में हमारा तोपखाना है। उनके अधिकारी और स्थल सेना के लोग जनरल के पास आकर सैल्यूट देते हैं। जनरल उनके कंधों पर हाथ रखकर पूछते हैं कि कोई तकलीफ़ तो नहीं। एक सैनिक मुंह बनाकर कहता है, "जबर्दस्त दुश्मनों से पाला पड़ा है साहब। हम पीछा करते-करते थक गए, वे कंबख्त

भागते-भागते नहीं थके। शेलिंग से उनकी एक अगनबोट भी डुबा दी, लेकिन उनका भागना नहीं रुका।"

"कहाँ तक भागेंगे ?" क्लेर ने कहा, "पाकिस्तान बहुत दूर है।"

अब यहाँ से हमें पैदल जाना है। दो मील दूर ब्रह्मपुत्र पर। चूंकि अब हम उनके तोपखाने और मशीनगनों की मार के अंतर हैं, अत: जनरल का हुक्म है कि सड़क पर हम बिखरकर चलें, झुंड बनाकर नहीं। सड़क के इधर-उधर ज़रा भी न जाएँ, क्योंकि सुरंगें बिछी हैं। जनरल के साथ-साथ एक वायरलेस आपरेटर चल रहा है, जो वायरलेस से बराबर बातें करता जा रहा है। सड़क के दोनों ओर हाथ में सुरंगों का पता लगाने वाली घड़ी लेकर दो सैनिक चल रहे हैं, ज़रा आगे-आगे। यद्यपि खतरा है, लेकिन कई फर्लांग तक कुछ नहीं होता। और, अब ब्रह्मपुत्र दीखने लगी है। उस पार किनारे-किनारे मीलों तक बसा है जमालपुर। उत्तर में ढाका की रक्षापंक्ति की प्रथम दुर्भेद्य सैनिक छावनी। मैं बलबीर सिंह से दूरबीन माँगकर देखता हूँ। क्लेर मना करते हैं यहाँ से नहीं, उधर बंकर खाई में बैठकर देखना ठीक होगा। अब बालू है और कुछ कँटीली-झाड़ियाँ। बालू में उन्होंने एक बहुत बड़ी छावनी बनाई थी। तीन ओर गहरी खाई और हर कोने पर तथा बीच-बीच में बंकर। इन बंकरों में बेहद हथियार मिले। रात तक पाकिस्तानी यहाँ जमे थे। आधी रात भागे हैं। मुझे सिहरन होती है। जहाँ हम खाइयों में खड़े हैं, दस घंटे पहले तक यहाँ दुश्मन अपने हथियारों के साथ जमा था।

मेजर वामी के हाथ में प्लास्टिक कवर में लिपटे, जो बहुत बड़े नक्शे थे, वे जमीन पर फैला दिए गए हैं और खाई में खड़े होकर जनरल क्लेर, बेरी और दूसरे अधिकारी उन्हें देखकर आगे की रणनीति तय कर रहे हैं। बीच-बीच में वायरलेस पर संदेश आ-जा रहे हैं। कोई संदेश आता है और क्लेर रिसीवर का मुँह जनरल के कान के पास कर देते हैं। जनरल के चेहरे पर खुशी की लहर दौड़ जाती है। फिर संदेश भेजते हैं, 'सुनो, देखा गया है कि एक ट्रेन तैयार खड़ी है। उनकी सेना उस पर कुछ

लाद रही है। अगर यह सच है तो ट्रेन को रोको। उनके जाने के सब रास्ते बंद कर दो।""""नहीं, सड़क तोड़ो नहीं, पेड़ काटकर सड़क पर डाल दो।'

उस तरफ़ जमालपुर में बेहद खामोशी है। आदमी तो आदमी, सड़क पर, किनारे घाट पर, एक चिड़िया नज़र नहीं आती। उनकी तोपों का कहीं पता नहीं। हमारी तोपें भी खामोश हैं। "हमारे बमवर्षकों ने उनकी सिट्टी-पिट्टी भुला दी है," कोई कहता है। "चलिए, अब उस बाएँ वाली जगह से किनारे चलकर देखेंगे। वहाँ से जमालपुर का घाट सबसे नजदीक है," जनरल कहते हैं। यहाँ पर तो नदी ने मोड़ लिया है और कगार नीचे है। नदी पतली है, पर रेत का फैलाव बहुत है, इधर भी, उधर भी। वहाँ पर दोनों किनारे बहुत नजदीक आ गए हैं।

जनरल वहाँ जाकर उसे खुद देखना चाहते हैं। अब फिर दूसरी पार्टी। बिल्कुल हमारे ऊपर से हमारे बमवर्षक जाते हैं। और फिर दो-चार खौफनाक धमाके, और फिर खामोशी। जमालपुर में एक जगह से ज़ोर का धुआँ उठ रहा है। पाकिस्तानी तोपें बिल्कुल खामोश हैं।

बंकर से निकलकर हम फिर सड़क पर आते हैं, लेकिन सड़क पर नहीं चलते। मुक्तिवाहिनी के संपर्क अधिकारी अबू यूसुफ हमें सड़क पार खेतों में उतारकर झुरमुटों में से ले चलते हैं। छिपते हुए हम रुक-रुककर देखते हैं दूरबीन से, जमालपुर सुनसान है। खेतों के पार एक गाँव है। घनी हरियाली वाला। हम गाँव में पहुँचकर क्षण भर को रुकते हैं। यूसुफ गाँववालों से कुछ बातें करते हैं। उनके माथे पर चिन्ता है। उनको खबर मिली है कि कोई रजाकार हमारी गतिविधियों की खबर जमालपुर को भेज रहा है। लेकिन खबर दो घंटे पहले की है। वे कुछ करने की स्थिति में होते, तो अभी तक कर चुकते। हम गाँव से निकलते हैं। अब गाँव और ब्रह्मपुत्र के बीच में आधे मील का खुला फैलाव है। कुछ दूर तक खेत और उसके बाद रेत। खेत में कहीं-कहीं तिल के पीले फूल खिले हैं, कहीं-कहीं बैगन की छोटी-छोटी पौध, जिसमें इक्के-दुक्के नीले फूल। आदेश है कि हम एक दूसरे से काफ़ी दूर-दूर पर, तितर-बितर होकर चलें,

यथासंभव पीले फूलों वाले खेत में न चलें, क्योंकि रंग की पृष्ठ-भूमि में दुश्मन हमें आसानी से देख लेगा। अब खेत पार हो गए हैं। रेत काफ़ी महीन और सूखी हुई है। पाँव रखने से उड़ती है। इधर कगार बहुत ऊँचा है, नदी सिर्फ़ ५०० गज चौड़ी है। उधर जमालपुर का कगार नीचा है। घाट तक सड़क आती है। जमालपुर में घाट के किनारे एक पंक्चर हुई नागरिक बस खड़ी है। इधर हमारी ओर एक स्थान पर एक पक्की कांक्रीट की जेटी है, नीचे से बालू खिसक गई है। और बाहर निकली जेटी का एक भाग टूट गया है, पर छड़ों के सहारे लटक रहा है। सामने ब्रह्मपुत्र के पानी में बाँस गाड़कर मछली के जाल सुखाने की खड़ी मचान बनी है। इसी जेटी के पास बाँस के मचान के पीछे खड़े होकर जनरल और उनके सहयोगी मौका-मुआयना कर रहे हैं। वह है जमालपुर की पानी की टंकी, यह है रेडियो टावर, यह है चार-मंजिली एक ऊँची लाल नागरिक इमारत, वह है कालेज का पिछवाड़ा; बलबीर सिंह की दूरबीन हाथ से हाथ में घूम रही है। "वह देखिए एक जीप आई है घाट पर, लेकिन नहीं, बैक करके बस के पीछे चली गई" कोई बताता है, फिर सब सुनसान। एक मिनट की अजीब चुप्पी। चुप्पी तोड़ते हैं ब्रिगेडियर क्लेर। जनरल के कंधों पर हाथ रखकर कहते हैं, "अब वापस चलना चाहिए, काम तो हो गया।"

और हमारा मुड़ना था कि "शू···शू···शू···शिक।" कोई चीज़ हमारे बीच से गुजरती है और पास की रेत में धँस जाती है। रेत का गुबार उठता है, पलक मारते ब्रिगेडियर क्लेर लेट जाते हैं और अपने साथ जनरल को खींच लेते हैं, "लेट जाओ। दुश्मन फ़ायर कर रहा है।" और वाक्य पूरा नहीं होता। हम लेट भी नहीं पाते कि "शू···शिक" और फिर तो बौछार। मेरी आँखों के आगे एक क्षण के लिए घुप अँधेरा-सा और फिर लाल उड़ते चकत्ते-से। शायद भय, शायद···! साथ के दो विदेशी फोटोग्राफर कांकीट स्लैब के नीचे हैं, उसके बाद बाहर जनरल नागरा और सबसे इधर खुले में मैं। वे चीज़ें ठीक हमारे ऊपर से गुजर रही हैं और बस पाँच-छह गज़ की दूरी पर गिर रही हैं। दिल की धड़कन रुकने-सी लगी है। क्लेर कुछ कहते हैं पर हमारे कान

जैसे सिर्फ़ 'शू'''शू'''शिक' सुन रहे हैं और मुझे ज़रा-सी चेतना आती है। कहाँ हैं बालकृष्ण, ब्रिगेडियर बेरी, कैप्टन भटनागर ? मैं गर्दन घुमाता हूँ, जनरल कड़कती आवाज़ में कहते हैं, "हिलो मत, चिथड़े उड़ जाएँगे। वे रिकॉयललेस गन चला रहे हैं।" रिकॉयललेस गन टैंक उड़ाने के काम आती है। मेरे होंठ सूख गए हैं, गला चिपक गया है, लेकिन जहाँ तक मुझे याद है, रिकॉयललेस न सुनकर मैं हँसने की कोशिश करता हुआ कहता हूँ, "वे हमें टैंक समझ रहे हैं क्या ?" लेकिन आवाज़ शायद काँप रही है। फिर भी बोलने से एक बात होती है। मैं देखता हूँ, ब्रह्मपुत्र का शांत जल, चमकती धूप और हर दस सैकंड के बाद अपने बिलकुल नज़दीक उनके निशाने। "अब उन्होंने मोर्टार भी चलाने शुरू कर दिए।" क्लेर कहते हैं—जनरल नागरा और ब्रिगेडियर क्लेर बिलकुल शांत हैं और वे फ़ायरिंग की क्या टेकनीक दुश्मन इस्तेमाल कर रहा है, इसकी बात हँस-हँसकर कर रहे हैं। कैसा विचित्र आत्मबल है हमारे योद्धाओं का। मोर्टार के गोले मेरे बिलकुल नीचे पानी में गिरते हैं। छीटों से मैं भीग जाता हूँ। फ्रेंच कैमरामैन मार्क रिबू क्रांकीट स्लैब के नीचे से मेरा नाम लेकर चिल्लाकर कुछ कहता है। मुझे मोर्टार के विस्फोट में कुछ सुनाई नहीं पड़ता। कोई हाथ बढ़ाकर मेरे गले में पड़ा रंगीन झोला खींचकर अंदर फेंक देता है। क्लेर इशारा कर रहे हैं कि जमीन से चिपककर लेट जाओ। जनरल अपना हैट उतारकर अंदर फेंक देते हैं और फिर जाने कौन-कौन लेटा-लेटा मेरे ऊपर बालू फेंक रहा है। नाक, कान, होंठ, गर्दन सब रेत से भर जाते हैं। बाद में मालूम हुआ कि जनरल और उनके दाएँ मैं बिलकुल खुले में थे और जनरल के हैट की लाल पट्टी और मेरी पीली कमीज और नीला झोला धूप में खूब चमक रहा था और वे लोग ठीक उसी पर निशाना साध रहे थे। यही राज़ था कि गोले ठीक मेरे सामने और दाएँ पाँच-छह गज़ की दूरी पर गिर रहे थे। बालू फेंककर मेरी कमीज़ ढाँकी जा रही थी।

हमारे बिल्कुल पीछे से गन का एक राउंड छूटता है। पहला ख्याल यही होता है कि दुश्मन पीछे भी आ गया है, लेकिन ब्रिगेडियर बेरी कुछ चिल्लाकर कहते हैं

जिससे मालूम होता है—बलवीर सिंह जान का खतरा लेकर घुटनों के बल खेत की मेड़ पर बैठकर गन चला रहे हैं। शायद बलबीर सिंह की गन का इशारा था कि इधर से हमारे तोपखाने ने फ़ायर शुरू कर दिया। आधे मिनट के बाद शायद हमारे तोपखाने की वजह से उन्होंने अपने मोर्टार और रिकॉयललेस की पोज़ीशन बदली होगी, क्योंकि आधे मिनट के लिए फ़ायरिंग बंद हुई। "लौटिए और छितराकर। फ़ायरिंग हो तो लेटिए, फिर बढ़िए" हम उठकर भागते हैं। और फिर फ़ायरिंग जारी। लेटना, फिर भागना, फिर लेटना, फिर भागना। भागते-भागते मैं देखता हूँ कि बालकृष्ण आगे हैं, बाईं ओर, पीछे मैं हूँ और सबसे पीछे ब्रिगेडियर बेरी। बाद में मालूम हुआ कि गोले की चोट से उड़ा एक कांक्रीट का टुकड़ा उनके पैर में लग गया है।

सांस चढ़ गई थी। मुंह पर खून झलकने लगा था। आँखों से धुँधला दिख रहा था। कुछ तो खून का दबाव, कुछ पलकों में भरी रेत, थोड़ी देर में यह भी होश नहीं रहा कि फ़ायरिंग कब आई किस ओर आई, बस अंधाधुंध गिरते-पड़ते, लेटते-उठते भागना और वह भी रेत में, ऊँचे-नीचे खेतों में—गाँव अभी कितनी दूर है? देखने में वह रहा, पहुँचने में हर खेत पार करने में चार-चार फ़ायरिंग!

और मृत्युयात्रा का दूसरा चरण शुरू होता है। हम खेतों में दूर-दूर छितराकर चल रहे हैं। उन्होंने भी मोर्टार और रिकॉयललेस की जगह मीडियम मशीनगन चलाना शुरू कर दिया है। पर अब हम लेटते नहीं, बस सावधानी से बढ़ रहे हैं। जब अपनी जीपों के पास अपनी तोपखाने की यूनिट के किनारे पहुँचे, तब जाँघें इस कदर भर गई थीं कि हर कदम उठाने में कराहने की तबीयत होती थी।

हम बेहद थकान महसूस कर रहे हैं, पर आराम कहाँ करें? हमारा सामान-बिस्तर तो सब बख्शीगंज में है। लेकिन मेजर राजपाल बताते हैं कि आपका सब सामान सेना के साथ शेरपुर आ गया है। बख्शीगंज में तो अब तक पीछे वाली यूनिट आ चुकी होगी। सामान हमारा उसी सामने के गोविन्दचंद्र इंस्टीट्यूशन के बाएँ बाजू के एक कमरे में लगा दिया गया है। गजब है उनका इंतजाम कि जहाँ हजारों सैनिकों,

सैकड़ों सप्लाई की ट्रकों, टनों हथियारों के ठीक समय पर ठीक जगह पहुँचाने का इंतजाम है, वहीं हमारा छोटे-से छोटा सामान भी हमारे बिना पहुँच जाता है।

ब्रिगेडियर बेरी ने बिना दूरबीन के देखा था कि जीप आई थी और बैक होकर बस के पीछे चली गई थी। उसी पर वे रिकॉयललेस गन लादकर लाए थे। बस की आड़ से चला रहे थे। रिकॉयललेस गन और मोर्टार में एक फर्क होता है—मोर्टार का गोला जहाँ गिरता है, वहाँ से उछलकर स्प्लिटर चारों ओर दस गज़ के दायरे में गिरते हैं। अतः आप पर ही गोला न गिरे दो-एक गज़ दूर गिरे तो आप बच सकते हैं। वह गोला आसमान में एक बिन्दु तक जाकर सीधे नीचे गिरता है। पर रिकॉयललेस की मार सबसे घातक होती है। ज़मीन से बिल्कुल ऊपर तिरछी आती है और अगर आप ज़रा भी हिले, ६ इंच ऊपर भी, तो चिथड़े उड़ जाएँ। टैंक की फौलाद को भी भेद देती है। और कहीं वहाँ बालू न होकर कंकड़ पत्थर होते तब तो हमको कोई नहीं बचा सकता था। हर गोले के बाद जो स्प्लिटर उड़ते, वे सबको ले डालते, चाहे हम लेटते, चाहे छिपते। हमें क्या मालूम था कि ब्रह्मपुत्र का जल हज़ारों वर्षों से हिमालय के पत्थर पीस-पीसकर जो बालू बनाता रहा है वह इसीलिए कि इन घातक गोलों को सोख ले। बालू की वजह से हम बचे हैं, यह जानकर ही उन्होंने गाँव के बाद हमपर मीडियम मशीनगन चलाना शुरू किया था, क्योंकि यदि वह निशाने पर बैठ जाए तो फिर बचना मुश्किल था।

सुरक्षा के कवच में पहुँचकर अब फुरसत मिल पाती है कि उन क्षणों को एक बार निश्चिन्तता से फिर मन में जी भर देखें, उस समय मैं क्या सोच रहा था ! कैसी लगती है मौत, जब वह सर पर निर्बाध नाच रही हो ! नए दोस्तों की पुरजोश बातचीत से कमरा गूँज रहा है, लेकिन मैं अपने में डूबा हुआ हूँ। मौत के आकस्मिक साक्षात्कार की जाँच पड़ताल में। कैसा अजीब है कि अब तक जो पढ़ा-सुना, उससे यह अनुभव बिल्कुल अलग था। उस समय एक क्षण को स्तब्ध था, बिल्कुल जैसे होंठ पर शब्द, आँखों में दृष्टि, नसों में खून एकदम बर्फ़ जैसा जम गया हो, फिर जैसे सारी संज्ञाएँ

लौट आई थीं। दृष्टि में था केवल जनरल और ब्रिगेडियर का शांत संतुलित चेहरा, जो अजीब सकून दे रहा था। और फिर सब भूल-भालकर उन आवाज़ों को सुनने में लग जाता हूँ, जो फ़ायरिंग की वजह से हो रही हैं। रिकॉयललेस का गोला आता है 'शू'''शू''''जैसे किसी हरे पीले बाँस में से तूफ़ान गुजर रहा हो और फिर वह बालू में धँसती है—'शिक।' और कैसा अजीब है कि बालू व हवा में उड़ने की भी एक आवाज़ होती है। पर उसे अक्षरों में कैसे लिखा जाए? और फिर मोर्टार की आवाज़ इससे बिल्कुल अलग। और मोर्टार का गोला जब ब्रह्मपुत्र के पानी में गिरता है, तो 'छुप' पानी के छलकने और किसी जलती चीज़ के बुझने की अजीब-सी मिली-जुली आवाज़ और फिर जहाँ मोर्टार गिरा है, वहाँ से काली कीचड़ मिली बालू का एक फव्वारा उछलता है, बीस-तीस गज ऊँचा और ऊपर जाकर छितरा जाता है। और फिर हजारों लाखों छींटों में बिखरकर काली बालू के कण देर तक पानी में दूर तक गिरते रहते हैं—'पट पट पट पट!' हजारों छोटी-छोटी भँवरनुमा लहरें बनती हैं, फैलती-फैलती गुम हो जाती हैं और फिर ब्रह्मपुत्र का वही शांत, मंथर प्रवाह, जैसे कुछ हुआ ही न हो। घर, पत्नी, बच्चे, लेखन, कामकाज यह सब तो बाद में याद आया, अब अपनी आर्टिलरी यूनिट में चाय पीते हुए हेलिकॉप्टर के पाइलट वर्मा और एम० एम० सिंह के साथ चाय के प्याले पर ठहाके लगा रहा था, लेकिन उस चरम क्षण में तो सिर्फ़ ये आवाजें थीं, जिनमें पाकिस्तानी बारूद, बाँगला देश की बालू और अपनी सेना के सेतुलक्ष्य ब्रह्मपुत्र का जल सब उलझ गए थे।

रात को सोया तो लगा, माथे पर ब्रह्मपुत्र का शीतल जलप्रवाह शांति दे गया है। गालिब याद आते हैं, 'मौत का एक दिन मुअय्यन है' उस निश्चित दिन के पहले कुछ नहीं होगा, होगा भी तो इसी तरह मौत शायद नींद की एक गहरी नदी होगी। मैं शांत बहती नदी में धीरे-धीरे घुल जाता हूँ। नींद में निश्चिन्त, सब शांत हैं, सिर्फ़ बाहर के पोखर में कभी-कभी मछलियों के उछलने की छपछपाक आवाज़ आती है।

—धर्मवीर भारती

प्रश्न-अभ्यास

१. "फ़ौज का सबेरा भी खूब होता है।" लेखक के इस कथन से उसकी कौन-सी मनोभावना व्यक्त होती है ?

(क) व्यंग्य (ख) प्रशंसा (ग) जिज्ञासा (घ) उपहास

२. ब्रह्मपुत्र के उस पार जमालपुर पर पाकिस्तानी सेना की मजबूत मोर्चेबंदी के क्या-क्या कारण लेखक ने बताए हैं ?

३. भारतीय सेना ब्रह्मपुत्र को पार करने के लिए कटिबद्ध क्यों थी ?

४. "पूर्वी कमान की सारी रण-योजना सचमुच बड़ी कुशलता से बनाई गई है।" भारतीय रण-नीति की कुछ कुशलताओं का वर्णन इस पाठ से उपयुक्त घटनाओं को उद्धृत करते हुए कीजिए।

५. "कृतज्ञता और ममता किसी भी कौम की बहुत बड़ी सिफत होती है।" यह वाक्य लेखक ने जिस प्रसंग में कहा है, उसका वर्णन अपने शब्दों में कीजिए।

६. लेखक का जीवन खतरे में कैसे पड़ गया था ? उसके मन में उस घटना के प्रति क्या प्रति-क्रिया उठी ?

७. इस पाठ से सैनिक जीवन की जो झाँकी मिलती है उसका वर्णन कीजिए।

८. लेखक पश्चिमी मोर्चे पर न जाकर पूर्वी मोर्चे पर क्यों गया ?

(क) पूर्वी मोर्चे पर बहुत कम खतरे की संभावना थी।

(ख) असली लड़ाई पूर्वी मोर्चे पर लड़ी जा रही थी।

(ग) लेखक की बंगला देश की जनता के मुक्ति-संग्राम के प्रति विशेष दिलचस्पी थी।

(घ) पूर्वी मोर्चे पर ही संवाददाता के रूप में उसकी नियुक्ति हुई थी।

(ङ) जनरल नागरा ने स्वयं उसे आमंत्रित किया था।

९. भारतीय सेना की वीरता एवं महानता के संबंध में विभिन्न स्रोतों से सामग्री एकत्र करके एक निबंध लिखिए।

१०. इस पाठ के उन अंशों को चुनिए जहाँ-जहाँ भाषा अधिक गतिशील एवं अधिक प्राणवान हो गई है। इनके संभावित कारणों पर भी प्रकाश डालिए।

११. सप्रसंग व्याख्या कीजिए—

(क) लेकिन उस चरम.........उलझ गए थे।

(ख) मौत का एक दिन.........एक गहरी नदी होगी।

रघुबीर सिंह

रघुबीर सिंह का जन्म सन् १९०८ ई० में सीतामऊ (मध्यप्रदेश) में हुआ था। आपके पिता सीतामऊ रियासत के महाराजा थे। होलकर कालेज, इंदौर से आपने एम० ए० तथा एल-एल० बी० की परीक्षाएँ पास कीं। 'मालवा में युगांतर' नामक शोध-ग्रंथ पर आपको आगरा विश्व-विद्यालय से इतिहास विषय में डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त हुई। आपके निबंधों में मध्य युग का बहुत ही सजीव और मार्मिक चित्रण मिलता है।

'पूर्व-मध्यकालीन भारत', 'मालवा में युगांतर' और 'पूर्व आधुनिक राजस्थान' रघुबीर सिंह की इतिहास विषयक प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। 'शेष स्मृतियाँ,' 'सप्तदीप,' 'बिखरे फूल' और 'जीवन-कण' साहित्यिक कृतियाँ हैं। 'शेष स्मृतियाँ' इनकी बहुत ही लोकप्रिय पुस्तक है, जिसमें ऐतिहासिक आधार पर लिखित भावात्मक निबंधों का संग्रह है। रघुबीर सिंह की भाषा प्रवाहपूर्ण, आलंकारिक तथा तत्सम प्रधान है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, 'उनके भावात्मक प्रबंधों की शैली बहुत ही मार्मिक और अनूठी है।'

प्रस्तुत निबंध इसी पुस्तक से लिया गया है। इसमें लेखक ने फतहपुर सीकरी का केवल ऐतिहासिक विवरण ही नहीं दिया है, बल्कि अकबर की भावनाओं को भी अपनी मनोरम शैली में साकार कर दिया है।

फतहपुर सीकरी

संसार का सबसे बड़ा विजय-तोरण, वह बुलंद दरवाज़ा, छाती निकाले दक्षिण की ओर देख रहा है। इसने उन मुगल योद्धाओं को देखा होगा जो सर्वप्रथम मुगल साम्राज्य के विस्तार के लिए दक्षिण की ओर बढ़े थे। इसने विद्रोही औरंगजेब की उमड़ती हुई सेना को घूरा होगा, और पास ही पराजित दारा के स्वरूप में अकबर के आदर्शों का पतन भी इसे देख पड़ा होगा। अंतिम मुगलों की सेनाएँ भी इसी के सामने होकर निकली होंगी। वे सेनाएँ जिनमें नर्तकियाँ और स्त्रियाँ भी रणक्षेत्र पर जाती थीं और रणक्षेत्र को भी विलासभूमि में परिणत कर देती थीं। यदि आज यह दरवाज़ा अपने संस्मरण कहने लगे, पत्थरों का यह ढेर बोल उठे, तो भारत के न जाने कितने अज्ञात इतिहास का पता लग जाए और न जाने कितनी ऐतिहासिक त्रुटियाँ ठीक की जा सकें।

यह एक विजय-तोरण है, खानदेश की विजय का स्मारक। किन्तु यदि देखा जाए तो यह दरवाज़ा अकबर द्वारा भारतीय सभ्यता पर प्राप्त की गई विजय का ही एक महान स्मारक है। अकबर ने अपने हृदय की विशालता को इस दरवाज़े की विशालता में व्यक्त किया है :

"यह संसार एक पुलिया है, इसके ऊपर से निकल जा, किन्तु इसपर घर बनाने का विचार मन में न ला। जो यहाँ एक घंटा भर भी ठहरने का इरादा करेगा वह चिरकाल तक यहाँ ही ठहरने को उत्सुक हो जाएगा। सांसारिक जीवन तो एक घड़ी भर का ही है; उसे ईश्वर-स्मरण तथा भगवद्भक्ति में बिता; ईश्वरोपासना के

अतिरिक्त सब कुछ व्यर्थ है, सब कुछ असार है।"

सांसारिक जीवन की असारता संबंधी इन पंक्तियों को एक विजय-तोरण पर देखकर कुतूहल होता है। अकबर मानव-जीवन के रहस्य को ढूँढ़ निकालने तथा दो पूर्णतया भिन्न सभ्यताओं का मिश्रण करने निकला था, किन्तु वह वास्तविक वस्तु तक नहीं पहुँच पाया, मृगतृष्णा के जल की नाईं उन्हें ढूँढ़ता रहा और उसे अंत तक उनका पता न मिला। जीवन भर अकबर भारतीय तथा मुस्लिम सभ्यताओं के सम्मिश्रण का स्वप्न देखता रहा। यह एक सुखद स्वप्न था। अतः जब अकबर के उस मानव-जीवन-स्वप्न का अंत हुआ तब सभ्यता की यह स्वप्निल विजय भी नष्ट हो गई और वह सम्मिश्रण केवल एक स्वप्न-वार्ता, नानी की एक कहानी मात्र बन गया। बुलंद दरवाजा उसी सुखद स्वप्न की एक स्मृति है, एवं इसे विजय-तोरण न कहकर 'स्वप्न-स्मारक' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

उस दरवाज़े में होकर, उस स्वप्न को याद करते हुए, हम एक आँगन में जा पहुँचते हैं, सामने ही दिखाई पड़ती है एक सुंदर श्वेत कब्र। यह उस साधु की समाधि है जिसने अपने पुण्य को देकर मुगल घराने को आरंभ में ही नष्ट होने से बचाया था* अपनी सुंदरता के लिए, अपनी कला की दृष्टि से यह एक अनुपम अद्वितीय कृति है। समस्त उत्तरी भारत के भिन्न-भिन्न धर्मानुयायी हिन्दू-मुसलमान आदि प्रति वर्ष इस कब्र पर खिंचे चले आते हैं; वे सोचते हैं कि जिस व्यक्ति ने जीते जी अकबर को भिक्षा दी, क्या उसी व्यक्ति की आत्मा स्वर्ग में बैठी उनकी छोटी-सी इच्छा भी पूर्ण न कर सकेगी?

और, सामने ही है वह मस्जिद, जो यद्यपि पूर्णतया मुस्लिम ढंग की है, और जो अपनी सुंदरता के लिए भी बहुत प्रख्यात नहीं है, तथापि वह एक ऐसी विशेषता के

* प्रसिद्ध है कि शेख सलीम चिश्ती नामक एक सूफ़ी फकीर के आशीष से अकबर को पुत्र की प्राप्ति हुई थी। फकीर के नाम पर अकबर ने उस पुत्र का नाम सलीम रखा जो बाद में जहाँगीर नाम से बादशाह बना।

लिए विख्यात है जो किसी दूसरे स्थान को प्राप्त नहीं हुई। इसी मस्जिद ने एक भारतीय मुसलमान सम्राट को उपदेशक के स्थान पर खड़ा होकर प्रार्थना करते देखा था। भारतीय मुस्लिम साम्राज्य के इतिहास में यह एक अनोखी अद्वितीय घटना थी, और वह घटना इसी मस्जिद में घटी थी।

अकबर को सूझी थी कि इस्लाम धर्म की असहिष्णुता को मिटा दे, उसकी कठोरता को भारतीय सहिष्णुता की सहायता से कम कर दे। क्यों न वह भी प्रारंभिक खलीफ़ाओं के समान स्वयं धर्माधिकारी के उच्चासन पर खड़ा होकर सच्चे मानवधर्म का प्रचार करे। उसके साथी अबुल फ़जल और फ़ैज़ी ने उसके आदर्श को सराहा। और उस दिन जब पूरी-पूरी तैयारियाँ हो गईं तब अकबर पूर्ण उत्साह के साथ उस उच्चासन पर चढ़कर प्रार्थना करने लगा :

"उस जगत्-पिता ने मुझे साम्राज्य दिया। उसने मुझे बुद्धिमान, वीर और शक्तिशाली बनाया। उसने मुझे दया और धर्म का मार्ग सुझाया, और उसी की कृपा से मेरे हृदय में सत्य के प्रति प्रेम का सागर हिलोरें मारने लगा। कोई भी मानवीय जिह्वा उस परमपिता के स्वरूप, गुणों आदि का पूरा पूरा वर्णन नहीं कर सकती। अल्ला हो अकबर! ईश्वर महान है।"

अकबर ने स्वप्न देखा था, जिसमें वह एक महात्मा तथा नवीन धर्म-प्रचारक की तरह खड़ा उपदेश दे रहा था और उसकी समस्त प्रजा स्तब्ध खड़ी उसके संदेश को एकाग्रचित्त हो सुन रही थी। किन्तु जीवन की वास्तविकता की टक्कर खाकर उसका वह स्वप्न भंग हो गया; उसे प्रथम बार ज्ञात हुआ कि स्वप्नलोक भौतिक संसार से दूर एक ऐसा स्थान है, जहाँ मनुष्य अपनी इच्छाओं तथा आकांक्षाओं के साथ स्वच्छंदतापूर्वक खेल सकता है, किन्तु उन इच्छाओं का भौतिक जगत में कुछ भी स्थान नहीं है।

और, यह है उस अकबर का दीवान-ए-खास। बाहर से तो एक साधारण दुमंजिला मकान दीख पड़ता है, किन्तु सचमुच में यह भारतीय कला का एक अद्भुत

नमूना है। एक ही स्तंभ पर सारी ऊपरी मंज़िल खड़ी है। उसे निर्माण करने में भारतीय कारीगरों ने बहुत बुद्धि लगाई होगी। अकबर के समय इस मकान में क्या होता था ? इस विषय पर इतिहासकारों में मतभेद है कि यहीं धार्मिक वाद-विवाद होते थे या नहीं। कुछ का कथन है कि इसी महान स्तंभ पर बैठकर अकबर विभिन्न धर्मानुयायियों के कथन सुना करता था, और वे धर्मानुयायी नीचे चारों ओर बैठे बारी-बारी से अपने-अपने धर्म की व्याख्या करते थे।

अकबर का मस्तिष्क विश्व-बंधुत्व तथा मानव-भ्रातृत्व के विचारों का पूर्ण आगार था। भिन्न-भिन्न धर्मों का भीषण संघर्ष देखकर उसके इन विचारों को भयंकर ठेस लगती थी, कठोर आघात पहुँचता था। कुछ ऐसे मूल तत्त्वों का संग्रह कर वह एक ऐसे मत को प्रारंभ करना चाहता था, जहाँ किसी भी प्रकार का वैषम्य न हो, जिसमें कोई धार्मिक संकीर्णता न पाई जाए। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह विभिन्न धर्मानुयायियों के कथन सुना करता था। उस महान स्तंभ की ही तरह 'ईश्वर एक है' इस एक सत्य पर ही अकबर ने दीन-ए-इलाही का महान भवन निर्माण किया। ज्यों-ज्यों यह स्तंभ ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसका आकार बढ़ता जाता है, और अंत में ऊपर पहुँचकर एक ऐसा स्थान आता है, जहाँ पर धर्मानुयायी समान अवस्था में भाई-भाई की तरह मिल सकें। उस महान धर्म दीन-ए-इलाही में जा पहुँचने के लिए अकबर ने चार राहें बनाईं जो हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध और ईसाइयों को सीधे विश्व-बंधुत्व की उस विशद् परिधि में ले जा सकें।

यह दीवान-ए-खास एक तरह से अकबर के दीन-ए-इलाही का मूर्तिमान स्वरूप है। बाह्य दृष्टि से यह एक साधारण वस्तु देख पड़ती है; किन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाए तो यह अपने ढंग का निराला ही है। इसी भवन में दीन-ए-इलाही का प्रारंभ हुआ था और दीन-ए-इलाही के समान ही यह भवन एक परित्यक्त, उपेक्षित तथापि एक संपूर्ण आदर्श है।

दीवान-ए-खास के पास ही वह चौकोर चबूतरा है, जहाँ बादशाह अपनी साम्राज्ञियों तथा अपने प्रेमी मित्रों के साथ जीवित गोटों का चौसर खेला करते थे। प्रत्येक गोट के स्थान पर एक सुंदर दासी खड़ी रहती थी। पूर्णिमा की रात को जब समस्त संसार पर शीतल चाँदनी छिटकी होती, उस समय उस स्थान पर चौसर का वह खेल कितना मादक रहा होगा।

इस स्वप्नलोक में एक स्थान वह भी है, जहाँ अकबर अपनी सारी श्रेष्ठता, अपने सारे सयानेपन को भूलकर कुछ समय के लिए आँखमिचौनी खेलने लगता था। अकबर के वक्षस्थल में भी एक छोटा-सा हृदय धड़कता था। अपने महान उच्चपद की महत्ता का भार निरंतर वहन करते-करते कई बार वह शैथिल्य का अनुभव करता था। आठों पहर सम्राट रहकर मानव जीवन से दूर गौरव और उच्च पद के ऊपर रेगिस्तान में पड़ा-पड़ा अकबर तड़पता था। उसका हृदय उन कृत्रिम बंधनों से जकड़ा हुआ फड़फड़ाता था। इसी कारण जब उस भावुक हृदय में विद्रोहाग्नि धधक उठती थी, तब कुछ समय के लिए अपने पद की महत्ता तथा गौरव को एक ओर रखकर वह सम्राट भी बालकों के उस सुखपूर्ण भोलेभाले संसार में घुस पड़ता था, जहाँ मनुष्य मात्र, चाहे वह राजा हो या रंक, एक समान हैं और सब साथ ही खेलते हैं। बालकों के साथ उनके उस अनोखे लोक में विचरकर अकबर वह जीवन-रस पीता था जिसके बिना साम्राज्य के उस गुरुतम भार से दबकर वह कभी का इस संसार से विदा हो गया होता।

सीकरी का सीकर सूख गया, उसके साथ ही मुस्लिम साम्राज्य का विशाल वृक्ष भी भीतर ही भीतर खोखला होने लगा। करोड़ों पीड़ितों के तपतपाए आँसुओं से सींचे जाकर उस विशाल वृक्ष की जड़ें मुर्दा होकर ढीली हो गई थीं, अतः जब अराजकता, विद्रोह तथा आक्रमण की भीषण आँधियाँ चलने लगीं, युद्ध की चमचमाती हुई चपला चमकी, पराजय रूपी वज्रपात होने लगे तब तो यह साम्राज्य रूपी वृक्ष उखड़कर गिर पड़ा, टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गया, और उसके अवशेष, विलास और

ऐश्वर्य का वह भव्य ईंधन, असहायों के निश्वासों तथा शहीदों की भीषण फुंकारों से जलकर भस्म हो गए। जहाँ एक सुंदर वृक्ष खड़ा था, जो संसार में एक अनुपम वस्तु थी, वहाँ कुछ ही शताब्दियों में रह गए गंभीर गह्वर, उस वृक्ष के कुछ अधजले झुलसे हुए यत्र-तत्र बिखरे टुकड़े तथा उस विशाल वृक्ष की मुट्ठी भर भस्म। सीकरी के खंड-हर उसी भस्म को रमाए खड़े हैं।

सब कुछ सपना ही तो था...देखते ही देखते विलीन हो गया। दो आँखों की यह सारी करामात थी। एकाएक झोंका आया, अकबर मानो सोते से जग पड़ा, स्वप्नलोक को छोड़कर भौतिक संसार में लौट आया। स्वप्न भंग हो गया और साथ ही स्वप्नलोक भी उजड़ गया,...और तब रह गई उनकी एकमात्र शेष स्मृति। किन्तु दो आँखें—अकबर की ही आँखें—ऐसी थीं जिन्होंने यह सारा स्वप्न देखा था, जिनके सामने ही इस स्वप्न का सारा नाटक—कुछ काल के लिए ही क्यों न हो—एक सुंदर मनोहारी नाटक खेला गया था,...जिसमें अकबर स्वयं एक पात्र था, उस स्वप्नलोक के रंगमंच पर पूरी शान और अदा के साथ अपना पार्ट खेलता था। उन दो आँखों के फिरते ही, उनके बंद होने के बाद उस स्वप्न की रही सही स्मृतियाँ भी लुप्त हो गईं। जो एक समय सच्ची घटना थी, जो बाद में स्वप्नमात्र रह गया था, आज उसका कुछ भी शेष न रहा। अगर कुछ बाकी बचा है तो केवल वह सुनसान भग्न रंगमंच, जहाँ यह दिव्य स्वप्न आया था, जहाँ जीवन का यह अद्‌भुत रूपक खेला गया था, जहाँ कुछ काल के लिए वह महान भारतविजयी सम्राट अपनी महत्ता को भूलकर, अपने गौरव को ताक पर रखकर, एक साधारण मानव बन जाता था, रंगरेलियाँ करता था, बालक की तरह उछलता था, जीवन के साथ आँखमिचौनी खेलता था और अमरत्व के सपने देखता था। सीकरी ही वह स्थान है जिसे देखकर मालूम होता है कि मनुष्य कितना ही महान और बड़ा क्यों न हो जाए, उसकी भी छाती में एक कोमल भावुक हृदय धड़कता है, उस दिल में भी अनेक बार आकांक्षाओं के भीषण संग्राम होते हैं; ऐसे पुरुष को भी

मानवी दुख-दर्द, सांसारिक कामनाएँ तथा भौतिक वासनाएँ सताती हैं।

शताब्दियाँ बीत गईं और आज भी सीकरी के वे सुंदर रंगीले खंडहर खड़े हैं। उस नवजात शिशु नगरी ने केवल पंद्रह वर्ष ही श्रृंगार किया, और फिर उसके प्रेमी ने उसे त्याग दिया, उसने उसे ऐसा भुला दिया कि कभी भूल से भी लौटकर मुँह नहीं दिखाया। अकबर के समय में ही उसने वैभव को त्याग कर विधवा-वेश पहिन लिया था। और अकबर की मृत्यु होते ही तो सब कुछ लुट गया, हृदय विदीर्ण हो गया। भारत-विजेता, मुगल-साम्राज्य के निर्माता, महान अकबर की प्यारी नगरी का वह निर्जीव शरीर शताब्दियों से पड़ा धूल-धूसरित हो रहा है।

—रघुबीर सिंह

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक ने बुलंद दरवाज़ा को किसका स्मारक माना है ? क्यों ?

२. बुलंद दरवाज़ा से जुड़ी मुगलकालीन इतिहास की कौन-कौन सी घटनाओं की ओर लेखक ने संकेत किया है ?

३. अकबर ने विजय-तोरण पर संसार की असारता को प्रकट करने वाली पंक्तियाँ क्यों अंकित कराईं ?

४. लेखक की दृष्टि में बुलंद दरवाजा को विजय-तोरण न कहकर स्वप्न-स्मारक कहना क्यों अधिक उपयुक्त है ?

५. अकबर का स्वप्न क्या था ? वह कैसे भंग हो गया ?

६. प्रस्तुत पाठ के आधार पर अकबर के धर्म संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए। भारत की वर्तमान परिस्थितियों में उनकी उपयोगिता पर विचार कीजिए।

७. "मनुष्य कितना भी बड़ा और महान क्यों न हो जाए उसकी भी छाती में एक कोमल भावुक हृदय धड़कता है।" अकबर की प्रकृति का परिचय देते हुए लेखक के इस कथन की व्याख्या कीजिए।

८. इस पाठ से अकबर की महानता का जो परिचय मिलता है उसका अपने शब्दों में वर्णन कीजिए।

९. फतहपुर सीकरी की वास्तुकला की कुछ विशेषताएं बताइए।

१० इस पाठ की शैली में अपने घर, विद्यालय अथवा किसी ऐतिहासिक इमारत का वर्णन कीजिए।

११. अवधारक भी का प्रयोग किस दशा में होता है ? लेखक ने प्रथम अनुच्छेद में इसका कितनी बार प्रयोग किया है और किस उद्देश्य से ?

१२. लेखक ने अपनी शैली को प्रभावशाली बनाने के लिए निम्नांकित युक्तियां अपनाई हैं। इस पाठ में से प्रत्येक के दो-दो उदाहरण दीजिए।

(क) रूपकों का प्रयोग

(ख) शब्दक्रम का विपर्यय

(ग) विशेषणों का सटीक प्रयोग

(घ) नए अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों का भावात्मक प्रयोग

(ङ) प्रधान उपवाक्यों को वाक्यों में प्रथम स्थान

(च) संयोजकों से वाक्यारंभ

जयशंकर प्रसाद

जयशंकर प्रसाद का जन्म सन् १८६० ई० में वाराणसी के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। आपके पिता श्री देवीप्रसाद 'सुंघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध थे। आपने स्कूल में तो केवल आठवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की, किन्तु स्वाध्याय द्वारा हिन्दी, संस्कृत, पालि, उर्दू और अँगरेजी का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। दर्शन, धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास एवं पुरातत्व के आप विद्वान थे।

प्रसाद की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी जिसका ज्वलंत उदाहरण आपके काव्य, उपन्यास, नाटक, कहानी और निबंध आदि विविध रचनाओं में मिलता है। आपकी सबसे पहली कविता 'भारतेन्दु' में सन् १६०६ ई० में प्रकाशित हुई। इसके पश्चात 'इंदु' नामक पत्रिका में, जिसका प्रकाशन आपकी प्रेरणा से प्रारंभ हुआ था, आपकी कहानियाँ, कविताएँ और नाटक आदि प्रकाशित होते रहे। चित्राधार' में आपकी प्रारंभिक रचनाएँ संकलित हैं। आपकी प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित हैं:

नाटक—'अजातशत्रु', 'स्कंदगुप्त', 'चंद्रगुप्त', 'राजश्री', 'ध्रुवस्वामिनी' आदि।

उपन्यास—'कंकाल', 'तितली', 'इरावती' (अपूर्ण)।

कहानी-संग्रह—'आकाशदीप', 'इंद्रजाल' आदि।

निबंध-संग्रह—'काव्य और कला तथा अन्य निबंध'।

कविताएँ— कानन' कुसुम', 'लहर', 'आँसू', 'झरना' तथा 'कामायनी'।

आधुनिक युग के निर्माताओं में प्रसाद का स्थान अन्यतम है। आपकी रचनाओं में, विशष रूप से नाटकों में, प्राचीन भारतीय संस्कृति का गौरव बड़े ही प्रभावपूर्ण ढंग से चित्रित हुआ है।

प्रसाद की भाषा संस्कृत प्रधान है। आपकी शब्दावली सरस तथा समृद्ध और शैली अलंकृत एवं चित्रात्मक है।

'ममता' कहानी की नायिका ममता भारतीय नारी-आदर्श की प्रतिरूप है। इस कहानी में यदि भारतीय नारी की करुण अवस्था का चित्रण है तो उसके त्यागमय उत्कर्ष का भी। इसमें सांकेतिक रूप में युद्ध की विभीषिका और उसके सामान्य जन पर पड़नेवाले प्रभाव अंकित हैं। हुमायूँ की कृतज्ञता एवं सदाशयता तो दिखाई गई है, किन्तु उसके सेवकों द्वारा किए गए कार्य पर लेखक का तीखा व्यंग्य भी है। प्रसाद जी की कहानी-कला और भाषा-शैली को समझने के लिए इस कहानी का कई बार पारायण करना वांछनीय है।

९. ममता

रोहतास-दुर्ग के प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गंभीर प्रवाह को देख रही है। ममता विधवा थी। उसका यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था। मन में वेदना, मस्तक में आँधी, आँखों में पानी की बरसात लिए, वह सुख के कंटक-शयन में विकल थी। वह रोहतास-दुर्गपति के मंत्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी, फिर उसके लिए कुछ अभाव होना असंभव था, परंतु वह विधवा थी—हिन्दू-विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रित प्राणी है—तब उसकी विडंबना का कहाँ अंत था ?

चूड़ामणि ने चुपचाप उसके प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। शोण के प्रवाह में, उसके कल-नाद में, अपना जीवन मिलाने में वह बेसुध थी। पिता का आना न जान सकी। चूड़ामणि व्यथित हो उठे। स्नेह-पालिता पुत्री के लिए क्या करें, यह स्थिर न कर सकते थे। लौटकर बाहर चले गए। ऐसा प्रायः होता, पर आज मंत्री के मन में बड़ी दुश्चिन्ता थी। पैर सीधे न पड़ते थे।

एक पहर बीत जाने पर वे फिर ममता के पास आए। उस समय उनके पीछे दस सेवक चाँदी के बड़े थालों में कुछ लिए हुए खड़े थे, कितने ही मनुष्यों के पद-शब्द सुन ममता ने घूमकर देखा। मंत्री ने सब थालों को रखने का संकेत किया। अनुचर थाल रखकर चले गए।

ममता ने पूछा—"यह क्या है, पिताजी ?"

"तेरे लिए बेटी, उपहार है।"—कहकर चूड़ामणि ने उसका आवरण उलट दिया। स्वर्ण का पीलापन उस सुनहली संध्या में विकीर्ण होने लगा। ममता चौंक उठी—

"इतना स्वर्ण ! यह कहाँ से आया ?"

"चुप रह ममता, यह तुम्हारे लिए है ।"

"तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया ? पिताजी यह अनर्थ है, अर्थ नहीं । लौटा दीजिए । पिताजी, हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे ?"

"इतना पतनोन्मुख प्राचीन सामंत-वंश का अंत समीप है, बेटी । किसी भी दिन शेरशाह रोहिताश्व पर अधिकार कर सकता है, उस दिन मंत्रित्व न रहेगा, तब के लिए बेटी ।"

"हे भगवान ! तब के लिए ! विपद के लिए इतना आयोजन ! परम पिता की इच्छा के विरुद्ध इतना साहस ! पिताजी, क्या भीख न मिलेगी ? क्या कोई हिन्दू भू-पृष्ठ पर न बचा रह जाएगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके ? यह असंभव है। फेर दीजिए पिताजी, मैं काँप रही हूँ—इसकी चमक आँखों को अंधी बना रही है ।"

"मूर्ख है ।"—कहकर चूड़ामणि चले गए ।

दूसरे दिन जब डोलियों का ताँता भीतर आ रहा था, ब्राह्मण-मंत्री चूड़ामणि का हृदय धक्-धक् करने लगा । वह अपने को रोक न सका । उसने जाकर रोहिताश्व-दुर्ग के तोरण पर डोलियों का आवरण खुलवाना चाहा । पठानों ने कहा—

"यह महिलाओं का अपमान करना है ।"

बात बढ़ गई । तलवारें खिचीं, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजा-रानी और कोष सब छली शेरशाह के हाथ पड़े, निकल गई ममता । डोली में भरे हुए पठान-सैनिक दुर्गभर में फैल गए, पर ममता न मिली ।

काशी के उत्तर में धर्मचक्र विहार, मौर्य और गुप्त सम्राटों की कीर्ति का खंडहर था । भग्न चूड़ा, तृण-गुल्मों से ढके हुए प्राचीर, ईंटों के ढेर में बिखरी हुई भारतीय शिल्प की विभूति, ग्रीष्म रजनी की चंद्रिका में अपने को शीतल कर रही थी ।

जहाँ पंचवर्गीय भिक्षु गौतम का उपदेश ग्रहण करने के लिए पहले मिले थे

उसी स्तूप के भग्नावशेष की मलिन छाया में एक झोंपड़ी के दीपालोक में एक स्त्री पाठ कर रही थी।

"अनन्याश्चिन्तयंतो मा ये जनाः पर्युपासते······"

पाठ रुक गया। एक भीषण और हताश आकृति दीप के मंद प्रकाश में सामने खड़ी थी। स्त्री उठी, उसने कपाट बंद करना चाहा। परंतु उस व्यक्ति ने कहा—"माता, मुझे आश्रय चाहिए।"

"तुम कौन हो ?"—स्त्री ने पूछा

"मैं मुगल हूँ। चौसा-युद्ध में शेरशाह से विपन्न होकर रक्षा चाहता हूँ। इस रात अब आगे चलने में असमर्थ हूँ।"

"क्या शेरशाह से !"—स्त्री ने अपने ओंठ काट लिए।

"हाँ, माता !"

"परंतु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास, वही निष्ठुर प्रतिबिम्ब तुम्हारे मुख पर भी है। सैनिक, मेरी कुटी में स्थान नहीं, जाओ कहीं दूसरा आश्रय खोज लो !"

"गला सूख रहा है, साथी छूट गए हैं, अश्व गिर पड़ा है—इतना थका हुआ हूँ, इतना।"—कहते-कहते वह व्यक्ति धम-से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्मांड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आई। उसने जल दिया, मुगल के प्राणों की रक्षा हुई। वह सोचने लगी—'सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का वध करनेवाले आततायी।'—घृणा से उसका मन विरक्त हो गया।

स्वस्थ होकर मुगल ने कहा—"माता, तो फिर मैं चला जाऊँ ?"

स्त्री विचार कर रही थी—'मैं ब्राह्मणी हूँ, मुझे तो अपने धर्म—अतिथिदेव की उपासना—का पालन करना चाहिए। परंतु यहाँ···नहीं नहीं, सब विधर्मी दया के पात्र नहीं। परंतु यह दया तो नहीं······कर्तव्य करना है। तब ?

मुगल अपनी तलवार टेककर उठ खड़ा हुआ। ममता ने कहा—"क्या आश्चर्य

है कि तुम भी छल करो, ठहरो।"

"छल ! नहीं, तब नहीं स्त्री ! जाता हूँ, तैमूर का वंशधर स्त्री से छल करेगा? जाता हूँ। भाग्य का खेल है।"

ममता ने मन में कहा—'यहाँ कौन दुर्ग है। यही झोपड़ी न, जो चाहे ले ले, मुझे तो अपना कर्तव्य करना पड़ेगा।' वह बाहर चली आई और मुगल से बोली—"जाओ भीतर, थके हुए भयभीत पथिक ! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। मैं ब्राह्मण-कुमारी हूँ, सब अपना धर्म छोड़ दें, तो मैं भी क्यों छोड़ दूं ?" मुगल ने चंद्रमा के मंद प्रकाश में वह महिमामय मुखमंडल देखा, उसने मन-ही मन नमस्कार किया। ममता पास की टूटी हुई दीवारों में चली गई। भीतर थके पथिक ने झोपड़ी में विश्राम किया।

प्रभात में खंडहर की संधि से ममता ने देखा, सैकड़ों अश्वारोही उस प्रांत में घूम रहे हैं। वह अपनी मूर्खता पर अपने को कोसने लगी।

अब उस झोपड़ी से निकलकर उस पथिक ने कहा—"मिरजा ! मैं यहाँ हूँ।"

शब्द सुनते ही प्रसन्नता की चीत्कार-ध्वनि से वह प्रांत गूंज उठा। ममता अधिक भयभीत हुई। पथिक ने कहा—"वह स्त्री कहाँ है ? उसे खोज निकालो।" ममता छिपने के लिए अधिक सचेष्ट हुई। वह मृगदाव में चली गई। दिन-भर उसमें से न निकली। संध्या में जब उन लोगों के जाने का उपक्रम हुआ, तो ममता ने सुना, पथिक घोड़े पर सवार होते हुए कह रहा है—"मिरजा, उस स्त्री को मैं कुछ दे न सका। उसका घर बनवा देना, क्योंकि मैंने विपत्ति में यहाँ विश्राम पाया था। यह स्थान भूलना मत।"—इसके बाद वे चले गए।

चौसा के मुगल-पठान-युद्ध को बहुत दिन बीत गए। ममता अब सत्तर वर्ष की वृद्धा है। वह अपनी झोपड़ी में एक दिन पड़ी थी। शीतकाल का प्रभात था। उसका जीर्ण कंकाल खाँसी से गूंज रहा था। ममता की सेवा के लिए गाँव की दो तीन स्त्रियाँ उसे घेरकर बैठी थीं, क्योंकि वह आजीवन सबके सुख-दुख की समभागिनी रही।

ममता ने जल पीना चाहा, एक स्त्री ने सीपी से जल पिलाया। सहसा एक अश्वारोही उसी झोपड़ी के द्वार पर दिखाई पड़ा। वह अपनी धुन में कहने लगा—"मिरजा ने जो चित्र बनाकर दिया है, वह तो इसी जगह का होना चाहिए। वह बुढ़िया मर गई होगी, अब किससे पूछूँ कि एक दिन शहंशाह हुमायूँ किस छप्पर के नीचे बैठे थे ? यह घटना भी तो सैंतालीस वर्ष से ऊपर की हुई !"

ममता ने अपने विकल कानों से सुना। उसने पास की स्त्री से कहा—"उसे बुलाओ।"

अश्वारोही पास आया। ममता ने रुक-रुककर कहा—"मैं नहीं जानती कि वह शहंशाह था या साधारण मुगल, पर एक दिन इसी झोपड़ी के नीचे वह रहा। मैंने सुना था कि मेरा घर बनवाने की आज्ञा दे चुका था। मैं आजीवन झोपड़ी खोदवाने के डर से भयभीत ही थी। भगवान ने सुन लिया, मैं आज इसे छोड़े जाती हूँ। अब तुम इसका मकान बनाओ या महल, मैं अपने चिर-विश्राम-गृह में जाती हूँ।"

वह अश्वारोही अवाक् खड़ा था। बुढ़िया के प्राण-पक्षी अनंत में उड़ गए।

वहाँ एक अष्टकोण मंदिर बना, और उसपर शिलालेख लगाया गया—

"सातों देश के नरेश हुमायूँ ने एक दिन यहाँ विश्राम किया था। उनके पुत्र अकबर ने उनकी स्मृति में यह गगनचुंबी मंदिर बनवाया।"

पर उसमें ममता का कहीं नाम नहीं।

—जयशंकर प्रसाद

प्रश्न-अभ्यास

१. इस कहानी के विकास में प्रथम अनुच्छेद का क्या महत्त्व है ?
२. पिता और पुत्री में उपहार को लेकर जो संवाद हुआ उसके आधार पर दोनों के चरित्र में अंतर स्पष्ट कीजिए।
३. हुमायूँ को आश्रय प्रदान करने में ममता के मन में क्यों संकल्प-विकल्प उठे ?
४. इस कहानी के उपसंहार पर टिप्पणी कीजिए।

५. ममता की किन्हीं तीन चारित्रिक विशेषताओं को लिखकर उनकी पुष्टि कहानी की घटनाओं से कीजिए।

६. निम्नलिखित में 'ममता' कहानी की सबसे प्रमुख घटना क्या है :

(क) ममता का विधवा होना।

(ख) पिता द्वारा बहुमूल्य उपहार लाना और ममता द्वारा उसे अस्वीकार करना।

(ग) शेरशाह का रोहतास-दुर्ग पर अधिकार होना।

(घ) हुमायूँ का ममता की झोपड़ी में आश्रय लेना।

(ङ) ममता की झोपड़ी के स्थान पर मंदिर की स्थापना।

(च) मंदिर पर ममता का नाम अंकित न किया जाना।

७. इस कहानी को ममता के शब्दों में कहिए।

८. इस कहानी के विशेषणों के प्रयोग पर टिप्पणी कीजिए।

९. इस कहानी के संवाद कहानी की घटनाओं को बढ़ाने एवं चरित्रों की विशेषताओं को उद्घाटित करने में किस प्रकार योगदान करते हैं ?

१०. लेखक ने कम से कम शब्दों में इस कहानी को लिखा है और कहीं भी शब्दाडंबर नहीं आने दिया है। सोदाहरण टिप्पणी कीजिए।

विद्यानिवास मिश्र

विद्यानिवास मिश्र का जन्म १४ जनवरी सन् १६२६ ई० को गोरखपुर जिले के पकड़-डीहा गाँव में हुआ है गोरखपुर से इंटरमीडिएट आर्ट्स की परीक्षा पास करके आप इलाहाबाद चले आए और इलाहाबाद विश्वविद्यालय से आपने संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। आपने गोरखपुर विश्वविद्यालय से 'पाणिनीय व्याकरण की विश्लेषण-पद्धति' पर पीएच०डी० की उपाधि प्राप्त की। तदंतर थोड़े दिनों तक गोरखपुर विश्वविद्यालय में पढ़ाने के बाद अमरीका के कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में आपने हिन्दी-साहित्य एवं तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का अध्यापन किया। उसके बाद वाशिंगटन विश्वविद्यालय, सिएटल में भी अध्यापन कार्य किया। संप्रति आप संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के भाषा-विज्ञान एवं आधुनिक भाषा विभाग में प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष पद पर कार्य कर रहे हैं।

आप संस्कृत के विद्वान तो हैं ही साथ ही हिन्दी साहित्य के सर्जनात्मक लेखक विशेषकर ललित निबंधों के शीर्षस्थ उन्नायक एवं पोषक हैं। आपको निसर्गतः कवि-हृदय मिला हुआ है और आपने कुछ बड़ी ही सुंदर कविताएँ लिखी हैं। आपके निबंधों में विषय की और भाषा की जो ताजगी है वह सामान्यतः अन्यत्र नहीं मिलती। आप जहाँ एक ओर तत्सम शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं वहाँ दूसरी ओर बोलियों के शब्दों से भी परहेज नहीं करते। वास्तव में आप शब्दों के कुशल प्रयोक्ता हैं। कौन-सा शब्द किस प्रसंग के लिए उपयुक्त है, इसके नमूने आपकी रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान हैं। साहित्य के अलावा भाषा-विज्ञान में भी आपकी बड़ी गति है और इस क्षेत्र में भी आपने बहुत से शोध-निबंध लिखे हैं जो देश-विदेश में ख्यात हैं। आप कविताओं का विश्लेषण प्रस्तुत करने में सिद्धहस्त हैं जो केवल एक कुशल एवं सहृदय अध्यापक के लिए ही संभव है।

आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं :—'छितवन की छाँह', 'कदम की फूली डाल', 'तुम चंदन हम पानी', 'आँगन का पंछी बंजारा मन', 'मैंने सिल पहुँचाई', 'बसंत आ गया पर कोई उत्कंठा नहीं' (ललित निबंध-संग्रह); 'साहित्य की चेतना' (आलोचना); 'हिन्दी की शब्द संपदा' पाणिनीय व्याकरण की विश्लेषण पद्धति' (भाषा विज्ञान, अँगरेजी में प्रकाशित) और 'रीति विज्ञान'।

'रुपहला धुआँ' ललित निबंध की शैली में है जिसमें आपने चचाई के प्रपात का काव्यात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है। भाव और भाषा का इसमें इतना सुंदर विनियोग हुआ है कि लगता है कि प्रपात का सौन्दर्य आँखों के सामने से प्रवाहित हो रहा है। सामान्य व्यक्ति को जो आनंद वर्णित प्रपात को देखकर मिलता, उतना आनंद इस पाठ को पढ़कर भी मिल जाता है।

१०—रुपहला धुआँ

जिसने जल-प्रपात नहीं देखा होगा, वह इस शीर्षक की हँसी उड़ाए बिना न रहेगा। और, वैसे तो एक फुट पानी गिरे तो भी, सहस्र फुट पानी गिरे तो भी, पानी का एक सूत गिरे तो भी और पानी का पहाड़ गिरे तो भी, प्रत्येक दशा में पानी का गिरना जल-प्रपात ही कहा जाता है। हाँ, यह दूसरी बात है कि हरएक प्रपात से धुआँ नहीं निकलता, हरएक धुआँ रुपहला नहीं होता, पर मैं जिस प्रपात के बारे में बयान करने जा रहा हूँ, उसके रुपहले धुएँ के जादू से अभी तक मैं अपने को अभिभूत पाता हूँ। नियागरा और गिरिसप्पा के जो वर्णन पढ़े थे, उनमें से बहुत कुछ अनुमान लगाकर इस प्रपात को देखने गया था। यह प्रपात रीवा से लगभग पचास किलोमीटर दूर है। रीवा से सिरमौर सड़क जहाँ खतम होती है, वहाँ से लगभग आठ कि० मी० है और इसका नाम आसन्न गाँव के नाम पर चचाई का कूड़ा है। यह बीहर नदी पर है। नदी के उस पार चचाई गाँव है और यहाँ लगभग १०० मीटर का बीहड़ प्रपात बनाती हुई नदी एक मनोरम घाटी में प्रवेश करती है। मैं इस जगह वसंत, ग्रीष्म, पावस और शरद् इन सभी ऋतुओं में और प्रातःकाल, दुपहरी, संध्या और आधी रात इन सभी बेलाओं में गया हूँ और कई पार्श्वों से इसको निहारने का अवसर भी मुझे मिला है, पर जब-जब निहारा है और जिस-जिस पार्श्व से निहारा है, तब-तब बराबर मेरी आँखें जल-सीकरों की शुभ्र धूम्रराशि से नई शीतलता पाती रही हैं।

पहली बार जब मैं वहाँ गया था, तब फगुनहट बयार लहकार मार रही थी और इस धुएँ की ढेरी को इधर-उधर बिखराने में अपार उत्साह दिखा रही थी। धरती तपने लगी थी, नदी विरह की कृशता में अत्यंत क्षीण हो चुकी थी और दाएँ-

बाएँ पार्श्वों को एकदम फैलाकर छलाँग भरने वाला जल-प्रपात बीच में सिमटकर एक परवलय बनाता हुआ नीचे कुंड की ओर जा रहा था। हरियाली प्रायः विदा ले चुकी थी और जिस पलाश की वसंत में फूलने की बड़ी बड़ाई होती है, उस पलाश के भी दर्शन वहाँ कहीं नहीं थे। आकाश सूना पड़ा था, धरती वीरान लग रही थी। पता नहीं किस जाति के कँटीले झाड़ वहाँ पर फूलने लगे थे, जो ऐसा लगता था कि धरती की सुप्त व्यथा के शूल की तरह से उकस आए हों, पर ये शूल असंख्य थे और इन शूलों में छोटे-छोटे फूल भी असंख्य थे। मैंने देखा है, गुलाब को छोड़कर प्रत्येक कँटीले पेड़ में फूल आते हैं, जो प्रायः पीले होते हैं और प्रायः बहुत छोटे होते हैं, जैसे संसार के समस्त फूलों का उपहास करने के लिए प्रकृति द्वारा सजाए गए विदूषक हों और इस आकाश की अकलंक नीलिमा के प्रसार के नीचे कुंड के आकाश से भी नीले जल की श्यामलता के ऊपर तथा धरती की धूसरता और इन झाड़ों की हरियाली और फूलों की पीलिमा के परिपार्श्व में चाँदी का धुआँ उमड़-घुमड़ रहा था। धुआँ का एक रूप बादल भी है और वह भी कभी-कभी अपना सर्वस्व दान करने के अनंतर शरद् के आकाश में रजतखंड बन जाता है, पर उसमें शायद प्रत्येक कण में से उमड़नेवाली प्राण-शक्ति उतनी नहीं होती, जितनी इस धुएँ में से निकलती हुई मुझे साफ़-साफ़ अनुभव करने को मिली।

मैं घहरते हुए सावन-भादों में भी वहाँ गया हूँ और मैंने इस प्रपात के उद्दाम यौवन के उस महावेग को भी देखा है जो तीस-चालीस मीटर की अपनी चौड़ी धारा की प्रबल भुजाओं में धरती के चटकीले धानी आँचर में उफनाते यौवन को कस लेने के लिए व्याकुल हो जाता है और मैंने देखा है कि जब अंबर के महलों में घनालिंगन करने वाली सौदामिनी धरती के इस सौभाग्य की ईर्ष्या में तड़प उठती है, तब उस तड़पन की कौंध में इस प्रपात का उमड़ाव फूलकर दुगुना हो जाता है।

शरद् की शुभ्र ज्योत्स्ना में जब यामिनी पुलकित हो गई है और जब इस प्रपात के यौवन का मद खुमार पर आ गया है और इस खुमारी में इसका सौन्दर्य और अधिक मोहक बन गया है, तब भी मैंने इसे देखा है और तभी जाकर मैंने शरदिन्दु

को इस प्रपात की शांत तरल स्फटिक-धारा पर बिछलते हुए देखा है।

मैंने कई बार सोचने की कोशिश की है कि सरिताओं और पर्वतों के संदेश और गायन से मुखरित देव-वाणी इन प्रपातों के सौन्दर्य के प्रति क्यों उपेक्षित भाव रखती आई है। झरनों के कल-निनाद-मात्र का संकेत करके वह प्रकृति-प्रेम में सनी कविता क्यों उपराम पा गई है और वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति की सौन्दर्य-दृष्टि प्रपात की शोभा को क्यों भूल गई है। शायद इसलिए कि वह कठोर पर्वत की तरह ऊँचे उठने का अभिमानी नहीं है या इसलिए कि सरिता का पतन होते हुए भी सरिता के उर्मिल प्रेम-प्रवाह से प्रपात अत्यंत अनभिज्ञ है, शायद इसलिए कि उसके वर्णन से देवराज के प्रमुख मेघ की हेठी हो सकती है या इसलिए कि वह मनुष्य के पतन में भी उन्नति की आकांक्षा या प्रतीक है या कि वह दलित धरती का उच्छवास है या अपनी दुर्बलता में भी मनुज की देवताओं से स्पर्धा का प्रबल उफान है। कारण चाहे जो भी हो, पर कवि की, और विशेष रूप से संस्कृत के कवि की इस अद्भुत शोभा के प्रति उपेक्षा मुझे बहुत अखरती रही है। मुझे याद आया कि डॉ० रामकुमार वर्मा ने एक कविता चचाई पर लिखी है और उन्होंने कहीं पर यह भी लिखा है कि प्रकृति का पतन भी कितना सुंदर होता है। मैं केवल इतना और जोड़ दूं कि पतन कहीं भी हो, उसका पथ हमेशा मधुर, गुलाबी, निम्नाभिमुख होता है और यह अधिक मनोहर हो जाता है।

प्रकृति का पतन इसलिए मनोहारी नहीं होता कि उसमें कोई अपनी निजी विलक्षणता है, बल्कि इसलिए कि उसमें मनुष्य को अपने स्वभाव का तादात्म्य मिलता है और मनोहरता का आस्वादन करनेवाला स्वयं मनुष्य होता है। देवता को या देवता के पीछे दौड़नेवाले ऊर्ध्वमुख, ऊर्ध्वरेता, नीतिवादी, संतवादी, साहित्यकार को प्रकृति के इस पतन से कोई सहानुभूति शायद नहीं होगी, पर जो मानव-मन की दुर्बलताओं से प्रीति रखता है और उन दुर्बलताओं में भी जो क्षमता देख सकता है, जो मनुष्य की दुर्बलताओं को चुपचाप क्षमा करनेवाली माता धरित्री की ओर देखकर चलता है, देवताओं के आकाश की ओर बराबर नहीं ताकता रहता है, उसे यदि कहीं मनुष्य की आकांक्षा का ज्वार मिलेगा तो जल-प्रपात के ही वैभव में, उसे यदि घोर

दुर्दिन की झड़ी में कजली की तान उमड़ानेवाले झूले का आनंद मिलेगा तो प्रकृति के इसी चाँदी-से हिण्डोले में।

पहली बार जब मैं गया था तो वहाँ ठहरने के लिए कोई स्थान बना नहीं था और इसलिए खड़ी दुपहरी में चट्टानों की ओट में ही छाँह मिल सकी थी। ये भूरी-भूरी चट्टानें पानी के आघात से घिस-घिसकर काफ़ी समतल बन गई हैं और इनका ढाल बिलकुल खड़ा है। इन चट्टानों के कगारों पर बैठकर लगभग सात-आठ हाथ दूर प्रपात के सीकरों का छिड़काव रोम-रोम से पिया जा सकता है। इन शिलाओं से ही कुंड में छलांग मारनेवाले धवल जल-बादल की छटा अत्यंत समीप से आँखों में भरी जा सकती है। हवा के झोंके के साथ बादल पेंग मारते-से दिखाई देते हैं और उनके मंद गर्जन का स्वर भी जाने किस मल्हार के राग में चढ़ता-उतरता रहता है कि मन उसमें खो-सा जाता है। एक शिला की शीतल छाया में कगार के नीचे पैर डाले मैं बड़ी देर तक बैठे-बैठे सोचता रहा कि मृत्यु के गहन कूप की जगत पर पैर लटकाए भले ही कोई बैठा हो, किन्तु यदि उसे किसी ऐसे सौन्दर्य के उद्रेक का दर्शन मिलता रहे तो वह मृत्यु की भयावह गहराई भूल जाएगा। मृत्यु स्वयं ऐसे उन्मादी सौन्दर्य के आगे हार मान लेती है, नहीं तो समय की कसौटी पर यौवन का गान अमिट स्वर्णरेखा नहीं खींच सकता था। मिट्टी में खिले हुए गुलाब की पंखुड़ियाँ झर जाती हैं और उनको झरते देख मृत्यु हँसना चाहती है, पर उस मिट्टी में से जब गुलाब की गंध ओस पड़ने पर उसाँस की भाँति निकल पड़ती है, तब मृत्यु गलकर पानी हो जाती है। मैं सोचता रहा कि यहाँ जो अजर-अमर सौन्दर्य उमड़ा चला जा रहा है, वह स्वयं विलय का सौन्दर्य है —विलय मटमैली धारा का शुभ्र जल-कणों में, शुभ्र जल-कणों की राशि का शुभ्रतर वाष्प में और वाष्प का सौन्दर्य के रस-भरे जूहीलदे घुँघराले और लहरीले चूड़ापाश में। यह चूड़ापाश जूहियों से इस तरह सज जाता है कि उसके निचले छोर की श्यामलता भर दिखाई पड़ सकती है, एक अद्वितीय चाँदनी उसे ऊपर से छाप लेती है। मैंने देखा कि साँझ हो आई है। सूर्य की तिरछी किरणें जाते-जाते इस सौन्दर्य का रहस्यभेदन

करते जाना चाहती हैं। पर जैसे प्रपात जाने कितने कवच-मंत्र उच्चारण करता हुआ और मुखर हो रहा है और अपने को इस प्रकार समेट रहा है कि रवि-रश्मियों का प्रयत्न आप-से-आप विफल हो रहा है। इस बार घाटी में उतरने का अवसर नहीं मिला था, क्योंकि आधे घंटे के भीतर क्योटी प्रपात की भी एक झलक लेने की बलवती इच्छा उकसने लगी थी। इसलिए दिवस के यथार्थ में बसंत के वैभव के बीच अपनी कृशता, अपने एकाकीपन और अपनी उपेक्षा में उस विरही महागायक के स्वर की गूँज मन में भरते हुए और उस गूँज में विन्ध्य के अंतर्मन की पुकार की अनुगूँज को भी पाते हुए मैं क्योटी के लिए लौट पड़ा था।

दूसरी बार बड़े-बड़े अधिकारियों के साथ वर्षा में वहाँ जाने का अवसर मिला और साथ में मोटे, दुबले हरएक डिज़ाइन के लोग थे। अब की बार नीचे उतरने की हमने ठानी और काफ़ी रपटीले रास्ते से नवनिर्मित डाक-बँगले के पास से हम लोग उतरने लगे। साथ में हमारे एक मोटे अफ़सर नीचे उतरने की अनुपयोगिता पर काफ़ी लंबी-चौड़ी स्पीच देने लगे, पर हम तो मोटे नहीं थे, और उनकी मोटी स्पीच हमारे गले उतर भी नहीं सकती थी, हम नीचे उतरते गए। नए रास्ते बनाए और कहीं-कहीं रास्ता नहीं था तो शाखा पकड़कर नीचे उतरते गए और अंत में हमारे नीचे साड़ी के छहराते हुए छोर की तरह नदी की धारा प्रकृति के श्यामल सौन्दर्य के उभार का सह्य न होने के कारण अलग किनारे फेंक दी गई-सी दीखने लगी। हरियाली सघन हो आई और कहीं-कहीं उष्ण कटिबंधी फूलों की लहक-भरी गंध भी पुरवैया के साथ समस्त संज्ञा झकझोरती और विजड़ित करती चली आने लगी। घाटी से ऊपर आकर अब ठीक आमने-सामने प्रपात से आँखों की मुठभेड़ हुई तो फागुनवाला अवसाद और वसंतवाली विरह-वेदना एकदम स्वप्न की भाँति तिरोहित हो गई। प्रपात पागल हाथी की तरह चिग्घाड़ रहा था। रह-रहकर जब बादल इस चिग्घाड़ को बर्दाश्त करते हुए तड़प उठते थे, तब प्रपात का उन्माद और द्विगुणित होकर आस्फालित हो जाता था। हाँ, यह जरूर था कि चाँदी का धुआँ कुछ तो मिट्टी की प्रीति के उमड़ाव के

कारण, कुछ कजरारे मेघों की कजरारी छाया के कारण और अधिकतर विश्व के किशोर-किशोरी के श्यामल शृंगार से तन्मय होने के कारण कुछ अधिक सँवराने लगा था, पर इस सँवराई शोभा में भी रुपहले धुएँ की आभा बीच-बीच में चमक उठती थी, मानो उसके अंतर के रूप का ज्वार मन्मथ के भी मन्मथ विश्व-मोहन के साँवरे रूप को चुनौती दे रहा हो। इस चुनौती में कौन जाने उस बरसानेवाली का मौन उपालंभ न छिपा हो और उसी के रूप की प्रतिच्छाया पाकर यह प्रपात और अधिक स्फीत न हो गया हो।

बड़ी देर तक मैं खोया रहा और जब चचाई को लेकर विभागीय कार्य की रूपरेखा की बातचीत अपने मंत्री और सचिव से वहीं शुरू हो गई, तब जाकर मुझे अपनी असंप्रज्ञात समाधि से विदा लेनी पड़ी और उसके बाद तो एकदम द्विजदेव के उनए चंद्रमा से गिरते-गिरते द्विवेदीयुग के गद्यमय धरातल पर ठक से पाँव लग गए और मीमांसा होने लगी कि पर्यटकों के लिए चचाई का किस प्रकार प्रचार करना चाहिए। यहाँ हरित उद्यान बनाना चाहिए। बाँध बँधाना चाहिए, पनबिजलीघर भी खड़ा करना चाहिए, आदि आदि। वहाँ मैं क्या सुझाव देता कि ये सब चीजें तो ठीक हैं, लेकिन खुद चचाई के लिए आज देखने की नई आँख बनानी चाहिए, इसके स्वर को सुनने के लिए नए कर्णयंत्र बनने चाहिए और इसके संदेश को ग्रहण करने के लिए नया हृदय रोपा जाना चाहिए। यह सुझाव देता भी मैं तो नियम-परिधि में बँधे हुए मालिक उसे क्यों सुनते ? क्योंकि यह सुझाव नियमन के विकराल बंधन की छटपटाहट से मुक्ति पाने के ही साधन हैं।

तीसरी बार जब मैं वहाँ गया तो चाँदनी रात थी। नौ-दस बजे तक संगीत के रस में अंशतः और शेष अंश में चाँदनी के रस में तैरते हुए मन का जब चचाई के साथ साक्षात्कार हुआ तो जैसे एक विचित्र योग मिल गया हो। चाँद अपनी मस्ती पर, प्रपात अपनी मस्ती पर, रात अपनी मस्ती पर, मन अपनी मस्ती पर और शेष चीजें एकदम विच्छिन्न। वहाँ पहुँचते ही मेरे दो तरुण मित्रों को छोड़कर दूसरे लोग एकाध घंटे में ही

सौन्दर्य निहारते-निहारते ऊबकर सो गए। ऊबते वे क्यों न ? वे तो ज़िन्दगी का नेह सोखनेवाले तेलचटा ठहरे। उन्हें बाजार की सौदेबाजी से, लेन-देन से, शोर-गुल से और नकद-उधार से इतनी प्रीति हो जाती है, इतना मोह हो जाता है कि उनसे एक क्षण का बिछोह भी दुस्सह हो जाता है। ऐसे लोगों को प्रकृति के सौन्दर्य से जबर्दस्ती अनुराग कराना पड़ता है और यदि अनुराग करते भी हैं तो वे दूसरों का अनुराग विरस कर देते हैं।

खैर, वे लोग तो गए और मैंने सुख की साँस ली। ताश के पत्ते बिछे और जो मेरे दो तरुण मित्र थे, वे दोनों काफ़ी भावुक और कला की सुकुमारता से काफी हद तक सँवारे हुए तरुण थे, दोनों की आँखों में सपनों की लाल डोरी थी और दोनों के हृदय में उल्लास की अपार लहर थी। रमी जम गई, पर रमी ब्याज मात्र थी। असल में दृष्टि कभी चंद्रमा की ओर जाती, कभी प्रपात की ओर, कभी प्रपात के चरणों में बिछी नदी की ओर, कभी चाँदनी के रुपहले स्वप्न में सोई हुई धरती की सुख-शांति की ओर। आँखें टिक नहीं पातीं। प्रभात कब होने लगा, इसका पता-थाह तब लगा जब भोर की बयार घूमने निकली और उसकी अवाई में पहली चिड़िया बोल उठी। मुझे ऐसा लगा कि भोर का यह संदेश आनंद-विजड़ित इंद्रियों से गहा न जाएगा और मैं यद्यपि तिमंजिले से नीचे उतरा, स्नान आदि के लिए, पर मोटर की पिछली सीट पर चुपचाप लेट गया, और गहरी नींद आ गई। सूर्य निकलते-निकलते मेरे रतजगा के साथियों ने मुझे धीरे से जगाया और मैं प्रपात की मूल धारा की ओर चल पड़ा। चलते-चलते मेरे मन में आया कि धुएँ से तो आँखें कड़वा जाती हैं, कड़ुवाते-कड़ुवाते गीली हो जाती हैं पर मेरी आँखें इस रुपहले धुएँ से भीगते-भीगते बिना कड़ुवाए जो लग गईं, वह किस जादू का असर था। मैं वैसे अपने निजी जीवन के रूमानियत का राज़ कभी न खोल सका। शायद खोलने की कोशिश भी न की, क्योंकि खोलने के लिए कोई उत्कंठा नहीं जगी, कोई प्रेरणा नहीं आई, पर 'अमिय हलाहल मद भरे, श्वेत स्याम रतनार' आँखें जिन्हें जिलाने, मारने और मदहोश करने में समर्थ नहीं हो सकीं, वे आँखें भी ऐसी जगहों में आकर हृदय का सब भेद जाने किस छल में पड़कर चुपचाप

लुटा रही हैं, मैं स्वयं नहीं जान पाया। मुझे अब भी समझ में नहीं आता कि लोगों को विरह या संयोग का उद्दीपन ऐसे स्थानों में कैसे मिल जाता है। मुझे तो संयोग और विरह दोनों दशाओं में यहाँ जाने का मौका मिला है और मैं वहाँ जाकर दोनों दशाओं को ही भूल गया हूँ, उनके लिए उद्दीपन पाने की तो बात ही दूर है। यह जरूर है कि अकेले से अच्छा साथ होता है, पर वह साथ भी ऐसा ही हो जो मन की मस्ती को और बढ़ानेवाला हो, टीका से, टिप्पणी से, आलोचना से, निराली अनुभूति से, दर्शन से, इतिहास से या विज्ञान से आनंद के उस क्षण को विद्रुत करने वाला न हो।

एक बार और नजदीक जाकर मैंने इस धुएँ को निरखा तो मुझे लगा कि पृथ्वी का रूप और पृथ्वी का स्पर्श और पृथ्वी का अंतर्नाद और पृथ्वी की गंध सब एक साथ मिलकर एक बाष्प-पुंज में परिणत हो गया हो, जिसमें रूप चमक आया हो, रस उमड़ आया हो, स्पर्श लहक आया हो, नाद छहर आया हो और गंध बिथुर आई हो।

मैंने सोचा कि 'धूम्र, ज्योति, सलिल, मरुत का सन्निपात' मेघ तो यक्ष का संदेश अलका में वहन करता है, पर वह पृथ्वी के हृदय के उच्छ्वास से उठा हुआ रुपहले धुओं का बादल चचाई प्रपात विन्ध्य की विनीत धरती का गद्गद् कंठ से विह्वल संदेश अंबर को सुनाता रहता है, अंबर जो उस धरती के उच्छ्वास से एक दिन व्याकुल हो गया था और अंबर जो आज उसके लिए सूना पड़ा है, और अंबर जो अपनी शून्यता में भी चातक और चकोर के लिए जलद और अमृतांशु बन जाता है—पर विनय में बिछी हुई शांत निरुद्विग्न और वीरप्रसविनी धरित्री के सीमंत को सजाने के लिए उसके पास मोतियों की माला नहीं जुड़ेगी और उसके अंचल में भरने को हल्दी, दूब और अक्षत के साथ-साथ रत्नों का उपहार नहीं जुड़ेगा और शायद इसीलिए वह सूना है। पर संदेश का शाश्वत निनाद प्रत्युत्तर की अपेक्षा किए बिना गूँजता चला जा रहा है और रूप धुआँ बनकर तथा धुआँ रूप बनकर संदेश के गायन की ताल पर थिरकता चला जा रहा है।

—विद्यानिवास मिश्र

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक विभिन्न ऋतुओं और दिन के विभिन्न समयों में जलप्रपात देखने किस उद्देश्य से गया था ?

२. वसंत ऋतु में चचाई गाँव का जल-प्रपात लेखक को कैसा लगा ?

३. वर्षा ऋतु में उस जल-प्रपात के सौन्दर्य का वर्णन कीजिए।

४. चारों ऋतुओं के वर्णन के आधार पर बताइए कि आप उस प्रपात को किस ऋतु में देखना पसंद करेंगे ? तर्कपूर्ण कारण दीजिए।

५. अंतिम बार प्रपात के पास जाकर लेखक के मन में जो-जो भाव उठे उनका वर्णन कीजिए।

६. इस पाठ के शीर्षक की सार्थकता पर टिप्पणी कीजिए।

७. इस पाठ से कुछ सुंदर वाक्यों का चयन कीजिए और उनकी सुंदरता को उद्घाटित कीजिए।

८. चचाई गाँव के जल-प्रपात के सौन्दर्य के विशद वर्णन में लेखक ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि का उपयोग किया है। इस पाठ से प्रत्येक के दो-दो उदाहरण दीजिए।

९. पृष्ठ २३७-२३८ की निम्नांकित पंक्तियों की व्याख्या कीजिए—

(क) शायद इसलिए कि······प्रबल उफान है।

(ख) प्रकृति का पतन······स्वयं मनुष्य होता है।

(ग) देवता को या देवता के······चाँदी-से हिण्डोले में।

(घ) मृत्यु स्वयं ऐसे······पानी हो जाती है।

टिप्पणियाँ

१. मैं मजदूर हूँ

एटलस : यूनानी पौराणिक कथाओं के अनुसार एटलस एक शक्तिशाली देवता थे। वे बाद में जुपिटर के द्वारा हरा दिए गए और उन्हें स्वर्ग को अपने कंधे पर उठाए रखने के लिए बाध्य होना पड़ा और वे आज भी उसे उठाए हुए हैं। हरक्यूलिस द्वारा हैस्पेरीडस के सेब लाने के लिए अनुरोध करने पर उनको इस काम से अल्पकालिक विराम मिला था। वे इस काम से मुक्ति पाना चाहते थे। किन्तु जब वे सेब लेकर आए तो हरक्यूलिस कंधे पर गद्दा रखने का बहाना बनाकर उन्हें ब्रह्मांड थमाकर चलता बना।

उदयाचल : उदयगिरि, पूरब का वह कल्पित पर्वत जहाँ से सूर्योदय का होना माना जाता है।

कलयुग : मशीनयुग।

अंतराल : मध्यवर्ती स्थान या काल, बीच, भीतरी भाग।

ह्रद : झील, विशाल जलाशय।

पर्जन्य : बादल।

सुरभि : सुगंध।

कल्हण : कश्मीरी पंडित जिन्होंने प्रसिद्ध इतिहास ग्रंथ 'राजतरंगिणी' की रचना की थी।

गीजा : मिस्र के उत्तरी भाग में नील नदी के किनारे स्थित नगर जो मिस्र की राजधानी काहिरा के पास है। मिस्र के पिरामिड जो यहाँ से ८ कि०मी० पश्चिम में स्थित हैं इसी नगर के नाम पर गीजा के

पिरामिड कहलाते हैं।

कालार : मैसूर राज्य का वह स्थान जहाँ सोने की प्रसिद्ध खानें हैं। यहाँ चार कंपनियाँ सोना निकालती हैं।

कोलोसियम : रोम का कोलोसियम विशाल क्रीड़ास्थल था जिसमें पचास हज़ार लोग एक साथ बैठ सकते थे। इसमें तीन सौ द्वार थे। इस विशाल स्टेडियम में दासों से सिंह, चीतों अथवा अन्य दासों के साथ हिंसात्मक क्रीड़ाएँ कराई जाती थीं। इसके भग्नावशेष अब भी हैं।

एथेन्स : यूनान की राजधानी। इसका इतिहास तीन हज़ार वर्ष से अधिक पुराना है एवं संस्कृति की दृष्टि से समस्त यूरोप और अमरीका की संस्कृति का मूल स्रोत यही है।

रोमन : रोम देश का, रोम इटली की राजधानी है।

सामंत : बड़ा जमींदार।

साजिश : षड्यंत्र।

कणाद : वैशेषिक दर्शन (जिसमें मूल तत्त्वों का विवेचन किया गया है) के प्रवर्तक। इनके बारे में प्रसिद्ध है कि वे अन्न के वे ही कण खाते थे जो किसान द्वारा फ़सल काट लेने पर खेत में बच जाते थे।

जनसंकुल : घनी आबादीवाला।

मोन्तेस्क : (१६८९-१७५५) फ्रेंच विधिवेत्ता एवं दार्शनिक। 'विधि की आत्मा' नामक फ्रेंच में लिखी पुस्तक के कारण ये आधुनिक राजनीतिविज्ञान के जनक माने जाते हैं।

मिल : जान स्टुअर्ट मिल (१८०६-७३), प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता और अर्थशास्त्री जेम्स मिल के पुत्र। 'अर्थशास्त्र के सिद्धांत' के लेखक और 'मजदूरी कोष' के सिद्धांत को माननेवाले तथा मजदूरों के हितों के समर्थक।

बे-दीनोईमान : जिसका कोई दीन और ईमान नहीं हो, धर्म और ईमान को नहीं माननेवाला।

सेमिनरी : पादरियों के प्रशिक्षण का स्कूल। संसार के अधिकांश धर्मों के प्रशिक्षण के लिए ऐसी संस्था होती है।

कुव्वत : ताकत, शक्ति।

मसीहा : मुर्दे को जिला देने की शक्ति रखनेवाला, देवदूत, पैगंबर।

नि:सत्व : (निस्सत्व), तुच्छ, कमजोर, शक्तिहीन; असार।

२. भारत की सांस्कृतिक एकता

समायोजन : भली प्रकार तैयारी और प्रबंध करना।

राजसूय : सर्वसंपन्न एवं अबाधित प्रभुत्व का प्रतीक एक ऐसा महान यज्ञ जिसे प्राचीन सम्राट अपने अभिषेक के समय करते थे। उसमें समस्त विजित एवं कर देनेवाले राजा भाग लेते थे।

अश्वमेध : वैदिक युग का एक यज्ञ जिसमें चक्रवर्ती बनने की इच्छा वाला राजा एक घोड़ा छोड़ता था। उस घोड़े को रोकने वाले व्यक्ति को राजा से लड़ना होता था।

मध्यम मार्ग : पूर्ण संन्यास और गृहस्थ जीवन के बीच का रास्ता, वीतरागी गृहस्थ जीवन जिसपर चलने के लिए महात्मा बुद्ध आदि ने उपदेश दिए।

ऋषभदेव : प्रथम जैन तीर्थंकर।

आवागमन : इस धारणा के अनुसार जीव को अपने कर्मों के फल भोगने के लिए मृत्यु के बाद पुन: जन्म लेना पड़ता है; संसार में आना और जाना, जन्म-मृत्यु।

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा : पतंजलि ने योगदर्शन में बताया है कि सुखी व्यक्तियों के साथ मैत्री, दुखियों के प्रति करुणा, पुण्यशाली व्यक्तियों के कार्य पर प्रसन्नता और पापियों की उपेक्षा करने से मन निर्मल बनता है। यही शिक्षा बौद्ध और जैन धर्मों में मिलती है।

स्वस्तिक चिह्न : कल्याणकारी अथवा मंगल-सूचक एक चिह्न जिसे 'सतिया' भी कहते हैं। यह आर्य सभ्यता का प्रतीक है और जर्मन लोग भी इसके उलटे

रूप को धारण करने में अपना गौरव मानते हैं।

ओंकार मंत्र : किसी अन्य मंत्र के प्रारंभ में तथा वेद-पाठ के पहले और पीछे कहा जानेवाला पवित्र शब्द, प्रणव, ॐ।

अश्वत्थ : पीपल का पेड़।

अणुव्रत : जैन धर्म के अनुसार वे संकल्प, जो व्यक्ति को साधना-मार्ग में आगे बढ़ाते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और क्षमा मुख्य अणुव्रत हैं।

यम : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पांच यम माने गए हैं।

पंचशील : गौतम बुद्ध ने गृहस्थों के लिए आचार-व्यवहार के पांच नियम स्थिर किए थे। वे इस प्रकार हैं :

(१) जीवहिंसा से विरति, (२) झूठ से विरति,
(३) चोरी से विरति, (४) व्यभिचार से विरति,
(५) मद्यपान से विरति।

पारसी : एक अग्नि-पूजक जाति जो मूलतः भारत के पश्चिम में फारस (ईरान) देश में निवास करती थी। भारत में भी हजारों पारसी रहते हैं।

जेन्दावेस्ता : पारसियों का धर्मग्रंथ। इसकी भाषा वैदिक संस्कृत के अधिक निकट है।

ऋचा : ऋग्वेद का एक छंद, वेदमंत्र।

स्तवन : स्तुति।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत : जैसा आचरण स्वयं न भाए वैसा आचरण दूसरों के प्रति नहीं करना चाहिए।

कथोलिक मत : ईसाइयों का वह संप्रदाय, जो पोप को अपना सर्वोच्च अधिकारी मानता है।

प्रतीक : चिह्न, संकेत, ऐसा शब्दादि जिसपर किसी बात का आरोप किया गया हो।

जायसी : मलिक मुहम्मद जायसी; जायस (रायबरेली) के रहनेवाले और अवधी के प्रसिद्ध कवि जिन्होंने 'पद्मावत', 'अखरावट' आदि की रचना की थी।

रहीम : अब्दुल रहीम खानखाना, जो अकबर के दरबारी एवं हिन्दी में दोहे एवं बरवै छंदों में नीति एवं शृंगार के कवि थे।

रसलीन : (१६८६-१७५०) रसलीन, सैयद गुलाम नबी का उपनाम है। इनके लिखे दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं 'अंग-दर्पण' और 'रस-प्रबोध'।

प्राकृत : संस्कृत से निकली पालि जो आगे चलकर प्राकृत भाषा के रूप में विकसित हुई। इसका विकास-काल पहली से पाँचवीं शताब्दी तक माना गया है।

अपभ्रंश : प्राकृत भाषाओं के परवर्ती रूप जिनसे हिन्दी, पंजाबी, बंगला आदि उत्तर भारत की आधुनिक आर्य-भाषाओं की उत्पत्ति मानी जाती है।

आम्नाय : आर्ष-ग्रंथ, परंपराप्राप्त उपदेश।

कालिदास : संस्कृत के महान कवि और नाटककार। इनका समय ईसवी सन् के प्रारंभ से चौथी शताब्दी तक अनुमित है।

रघुवंश : कालिदास रचित एक महाकाव्य जिसमें रघु के जन्म से लेकर रामचंद्र जी के जीवन तक का काव्यात्मक वर्णन है।

भवभूति : आठवीं शताब्दी में विद्यमान संस्कृत के एक प्रसिद्ध कवि।

उत्तररामचरित : भवभूति द्वारा लिखित प्रसिद्ध नाटक जिसमें सीता के वियोग का करुण वर्णन है।

जाह्नवी : गंगा (जह्नु से जनमी हुई)।

शंकराचार्य : (सन् ७८८-८२० ई०) आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वेदांती दार्शनिक, जिन्होंने अद्वैतवाद की प्रतिष्ठा की। अद्वैतवाद को मायावाद भी कहते हैं।

ज्योतिर्मठ : शंकराचार्य द्वारा भारत के चारों कोनों में स्थापित चार मठों में एक

जो बदरीनाथ के पास जोशीमठ में है।

श्रृंगेरी मठ : शंकराचार्य द्वारा भारत के चारों कोनों में स्थापित चार मठों में से एक जो मैसूर में है। तुंग नदी के किनारे बसा यह नगर अति सुंदर है। नदी पर यहाँ एक पक्का घाट बना है और उस घाट के ऊपर ही आचार्य-मठ है। मठ के घेरे में श्री शारदा और विद्यातीर्थ महेश्वर के मंदिर हैं।

गोवर्धन मठ : शंकराचार्य द्वारा भारत के चारों कोनों में स्थापित चार मठों में से एक।

शारदा मठ : शंकराचार्य द्वारा भारत के चारों कोनों में स्थापित चार मठों में से एक।

दिग्विजय : किसी विशिष्ट विद्वान, मत-प्रचारक या गुणी का सभी प्रतिद्वंद्वियों को पराजित कर संसार में अपनी धाक जमाना, किसी राजा का दल-बल के साथ भूमंडल के अन्य समस्त राजाओं को घूम-घूमकर परास्त करना।

चैतन्य महाप्रभु : (१४८५-१५३३) बंगाल के प्रसिद्ध वैष्णव भक्त जिन्होंने कृष्ण भक्ति-तत्त्व, हरिनामकीर्तन, सब जीवों पर दया करना आदि का उपदेश दिया। गौरांग प्रभु के नाम से भी विख्यात हैं।

संत तुकाराम : (१५२०-१५९८) इनका जन्म महाराष्ट्र में हुआ था। ये भागवत धर्म के उपदेशक तथा परमार्थ मार्ग को आलोकित करनेवाले थे। इन्होंने भावावेश में लगभग चार हज़ार अभंग रचे हैं जो काफी लोक-प्रिय हैं।

मैथिली : बिहार राज्य के दरभंगा जिले एवं उसके आस-पास बोली जानेवाली बोली जिसमें विद्यापति आदि ने कविताएँ की हैं।

दादू : संत दादू दयाल का जन्म उत्तर प्रदेश के जौनपुर जिले में १५४४ ई० में हुआ था। इनकी पुण्य-तिथि १६०३ ई० है। १५८३ में सम्राट अकबर इनसे मिलने सीकरी आए थे जहाँ चालीस दिनों तक सत्संग चलता रहा। इन्होंने ढाई हजार से अधिक साखियाँ एवं लगभग पाँच

सौ पद लिखे हैं जिनमें ईश्वर-भक्ति आदि के अलावा सरल जीवन-निर्वाह पर बल है।

जीवन-मीमांसा : "जीवन क्या है" आदि जीवन-संबंधी मौलिक प्रश्नों की तात्त्विक विवेचना करना।

३. मेरी मास्को-यात्रा

इल्यूशिन : एक रूसी यात्री-विमान।

ताशकंद : उजबेक सोवियत गणतंत्र की राजधानी जो मरूद्यान में स्थित है। यह मध्य सोवियत एशिया का प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र है।

दिगंत : दिशा का अंत, छोर।

आयाम : फैलाव, विस्तार।

परिदृश्य : चारों ओर का दृश्य।

वास्तु शैली : गृह-निर्माण कला।

आर्डर आफ़ लेनिन : सोवियत सरकार द्वारा प्रदत्त सर्वोच्च सम्मान।

सौहार्द : मैत्री, सद्भाव, सहृदयता, आत्मीयता।

अभिव्यंजना : अभिव्यक्ति, अपने भावों एवं विचारों को भली प्रकार प्रकट करना।

भाव-पेशल : स्निग्ध भावों से युक्त, भावपूर्ण।

रूपक : अभिनय प्रदर्शन युक्त दृश्य-काव्य।

व्यंग्य-नाट्य : ऐसा नाटक जिसमें किसी व्यक्ति, देश या व्यवस्था के प्रति व्यंग्य किया जाता है।

छाया-नाटक : छाया और प्रकाश द्वारा अभिनीत पुतलियों के नाटकों को छाया नाटक कहते हैं। इसमें कपड़े अथवा चमड़े की पुतलियाँ बनाकर उन्हें प्रकाश के आगे नचाते हैं और उनकी छाया आगे पड़े हुए पर्दे पर पड़ती है। दर्शक समूह पर्दे पर पड़नेवाली उसी छाया के रूप में नाटक देखता है।

गोर्की : मैक्सीम गोर्की (१८६८-१९२६)। वास्तविक नाम पेश्कोव अलेक्सैमक्सीमोविच। महान रूसी लेखक जिनकी कृतियों का सोवियत

संघ और संसार के प्रगतिशील साहित्य पर गहरा प्रभाव है। इनकी अनेक कृतियाँ हिन्दी में अनूदित हैं जिनमें 'माँ' भी है। प्रेमचंद इनके बड़े प्रशंसक थे। ये रूसी क्रांति के प्रबल समर्थक थे। मास्को में गोर्की संग्रहालय है तथा इनकी समाधि क्रेमलिन के पास है। इनके जन्मस्थान का नामकरण इन्हीं के नाम पर 'गोर्की' हो गया है।

उद्‌गाता : गायक।

समाजवादी यथार्थ दर्शन : यथार्थ के आधार पर एक-से स्तर का समाज स्थापित करने की विचार-धारा।

तोल्स्तोय : काउंट लेवनिकोलयेविच (१८२८-१९१०), उन्नीसवीं सदी के शीर्षस्थ रूसी उपन्यासकार। महात्मा गांधी इनके संपर्क में आए थे और इनसे काफ़ी प्रभावित हुए थे।

युद्ध और शांति : तोल्स्तोय का प्रसिद्ध उपन्यास जिसकी रचना १८६३-६९ में हुई थी। संसार की प्रमुख भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है।

अक्तूबर की महान क्रांति : लेनिन के नेतृत्व मे सन् १९१७ ई० में बोलशेविक क्रांति हुई थी जिसके फलस्वरूप रूस में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई।

मार्दव : मृदुता, कोमलता।

मैत्री-संघ : प्रत्येक देश में अपने मित्र-राष्ट्रों के विशेष आमंत्रित सदस्यों के स्वागत आदि के लिए निर्मित समिति।

दीर्घा : गलियारा, गैलरी।

सृजन-प्रक्रिया : मौलिक लेखन की कार्यविधि।

पांडुलिपि : पुस्तक की हस्तलिखित प्रति, प्रकाशन पूर्व की हस्तलिखित प्रति।

लालक्रांति : रूस की बोलशेविक क्रांति जो ७ नवंबर १९१७ को सफल हुई थी।

माँ : गोर्की का प्रमुख उपन्यास जिसका अनुवाद संसार की प्रमुख भाषाओं में हो चुका है।

काउंटेस : काउंट (जमींदार) की पत्नी।

मानविकी : भाषा, साहित्य, कला आदि से संबंधित शास्त्र जो मानवीयता के विकास में सहायक हो।

प्राच्य भाषा : भूमंडल के पूर्वी देशों—भारत उपमहाद्वीप, हिन्दचीन आदि की भाषाएँ।

वेधशाला : वह स्थान जहाँ यंत्रों की सहायता से नक्षत्रों, ग्रहों आदि की गति-विधि का पर्यवेक्षण किया जाता है।

स्नातकोत्तर : बी० ए० (स्नातक) से ऊपर की शिक्षा।

सौन्दर्य-शास्त्र : वह शास्त्र जिसमें पाठक के हृदय को प्रभावित करनेवाले तत्त्वों का विवेचन, सूक्ष्म अंतर्हित सौन्दर्य और सौष्ठव को आँकने का प्रयत्न किया जाता है, जीवन के कोमलपक्षों का शास्त्र।

विकास-प्रदर्शनी : 'किसी देश या संस्था की प्रगति कहाँ तक हो सकी है' को दर्शाने के लिए आयोजित प्रदर्शनी।

कुरुक्षेत्र : रामधारी सिंह 'दिनकर' की एक काव्य-रचना।

क्रेमलिन : रूसी भाषा में 'केम्ल' शब्द का अर्थ किला अथवा दुर्ग होता है और रूसी नगरों का किलेबंदी किया हुआ हिस्सा क्रेमलिन कहलाता है। इस प्रकार का सबसे प्रसिद्ध किला मास्को का क्रेमलिन है जो हल्की गुलाबी ईंटों का बना है। इसकी दीवालों पर ऊँची-ऊँची मीनारें हैं। इसके अंदर महल एवं चर्च भी हैं। रूसी सरकार का मुख्यालय इसी में है तथा सुप्रीम सोवियत (संसद) भी यहीं है।

स्नायुकेन्द्र : मस्तिष्क।

लेनिन : निकोलव लेनिन (१८६०-१९२४), रूसी क्रांति के नेता जिनके प्रयत्नों से रूस में साम्यवादी सरकार की स्थापना १९१७ में हो सकी। सोवियत शासन के संस्थापक तथा १९१७-१९२४ तक उसके प्रधान।

वेंकटेश्वर : आंध्र प्रदेश का एक पवित्र पर्वत जिसपर भगवान विष्णु का प्राचीन मंदिर है, तिरुपति का मंदिर।

मार्क्सः कार्ल हाइनरिख मार्क्स (१८२८-१८८३)। जर्मन दार्शनिक, अर्थ-शास्त्री एवं वैज्ञानिक समाजवाद (कम्यूनिज्म) के प्रणेता, 'द

कैपिटल' इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है।

सिंहद्वार : प्रासाद आदि का प्रधान द्वार, सदर दरवाजा।

४. बल बहादुरी

क्लीबत्व : कायरता, अपौरुष, नपुंसकता।

तांडव : शिव का प्रसिद्ध नृत्य।

पैशाचिकता : क्रूरता, राक्षसी वृत्ति।

अहंकार : अंतःकरण की पाँच वृत्तियों में से एक, गर्व, घमंड, अपनी सत्ता का बोध।

जयमल : प्रसिद्ध राजपूत सामंत, चित्तौड़ का दुर्गाध्यक्ष, राणा संग्रामसिंह के पुत्र उदय सिंह के भाग जाने पर जयमल एवं क्लेवा के पुत्र ने मुगल सम्राट अकबर के विरुद्ध चित्तौड़ की रक्षा की। गुणग्राही अकबर ने इनकी यादगार के रूप में महल के सिंहद्वार पर पत्थर की मूर्तियाँ स्थापित करवाई थीं।

फत्ता : अक्तूबर १५६७ ई० से फरवरी ६८ तक राजपूतों ने अकबर की सेना का डटकर मुकाबला किया। दुर्ग में भोजन की कमी हो गई। साथ ही मुगल सेना सुरंग लगाकर दुर्ग की दीवाल तोड़ने में सफल हो गई। दुर्गाध्यक्ष जयमल और फत्ता, कल्ला आदि वीरों ने इस युद्ध में असीम शौर्य दिखाया।

ह्यूरोज : अँगरेज सेनापति जिसने १८५७ ई० की क्रांति को कुचलने में मुख्य भूमिका निभाई थी और जिसकी मुठभेड़ झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई से हुई थी।

महामाया : जगत् की अधिष्ठात्री, दुर्गा।

प्रकृति : वह मूल तत्त्व जिसका परिणाम जगत है। जगत के उपादान कारण स्वरूप मूलतत्त्व।

नैपोलियन : (१७६९-१८२१); एक साधारण परिवार से पैदा हुआ वीर बालक जो अपनी मेधा एवं अथक परिश्रम से १८०४ ई० में फ्रांस का

सम्राट बना, किन्तु उसका संपूर्ण जीवन युद्ध और अशांति में बीता। ब्रिटेन, आस्ट्रिया, रूस आदि मित्र राष्ट्रों की सेना से वाटरलू की लड़ाई में १८१५ में परास्त हुआ और सैन्ट हैलना में कैद कर लिया गया जहाँ छह वर्ष की जेल-यातना के बाद मृत्यु हुई। नैपोलियन दृढ़ निश्चय, अडिग साहस एवं घनघोर श्रम का प्रतीक है साथ ही महत्वाकांक्षा का भी जिसके कारण उसका पतन हुआ।

गैरीबाल्डी : गुईसेप्पे गैरीबाल्डी (१८०७-१८८२), इटली का जननेता जो इतालवी क्रांति के युद्धों में देश-भक्त योद्धा एवं क्रांति-संचालक के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

वरेण्य : वरण करने योग्य।

६. जीवन और शिक्षण

हनुमान-कूद : कहा जाता है कि हनुमान ने समुद्र लाँघकर लंका में प्रवेश किया था, समुद्र पर पुल बनाकर उससे पार नहीं हुए थे, हालाँकि बाद में श्रीराम ने समुद्र पर पुल बाँधकर उसे सेना सहित पार किया था। यहाँ लेखक का तात्पर्य है कि आज कल की शिक्षा-पद्धति में ऐसी व्यावहारिक शिक्षा नहीं दी जाती कि छात्र शिक्षा-समाप्ति के बाद वास्तविक जीवन में प्रवेश करें। शिक्षा और वास्तविक जीवन में समुद्र जैसी खाई की कल्पना लेखक करता है।

न्यूटन : सर आइज़क न्यूटन (१६४२-१७२७); आधुनिक विश्व के महान गणितज्ञ जिन्होंने पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत की स्थापना की जो सार्वभौम रूप से समस्त गति-विज्ञान के क्षेत्र में अनिवार्यतः लागू है। इन्होंने प्रकाश के संबंध में अनेक तथ्यों का पता लगाया और पहली बार परावर्तक दूरबीन बनाया था।

ततः किं : उसके बाद क्या ?

सनातन : स्थायी, सुनिश्चित, जो प्राचीन काल से है और भविष्य में भी रहेगा।

अयुक्त : अनुपयुक्त, बेठीक।

ईसप-नीति : ईसप की कहानियाँ काफ़ी लोकप्रिय हैं जिनका मुख्य संदेश है भले का फल हमेशा भला होता है और बुरे का बुरा।

सहकार : सहयोग, सहायता, साथ काम करना।

मरकट भूषण अंग : अलंकार बंदर के शरीर पर शोभा नहीं पाता। यह तुलसीदास की चौपाई का अंश है।

डार्विन : चार्ल्स राबर्ट डार्विन (१८०९-१८८२)। अँगरेज प्रकृति वज्ञानिक जो विकासवाद के सिद्धांत का मुख्य स्थापक माना जाता है।

अनुमान के हाथ मोतियों की माला : मोतियों की माला के लिए कठोर प्रयास करना पड़ता है, अंदाजा से हाथ डालने पर अनायास नहीं मिल जाती।

सृष्टि-शास्त्र : 'दुनिया कैसे बनी', 'वनस्पतियाँ आदि कैसे उगती हैं' आदि से संबंधित विज्ञान।

आनुषंगिक : प्रसंगवश, गौण।

मा फलेषु कदाचन : कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। (गीता)

इदमद्यमया लब्धम् : आज यह मुझे प्राप्त हुआ।

सर्वेषामविरोधेन : अविरोध वृत्ति से, अनुकूल ढंग से, सामंजस्य पूर्वक।

समीकरण : बराबर करना, ज्ञात राशि की सहायता से अज्ञात राशि जो बराबर ही होनी चाहिए को निकालने की गणित संबंधी एक क्रिया।

७. ब्रह्मपुत्र की मोर्चेबंदी

पूर्वी कमान : भारतीय स्थल-सेना चार कमानों में विभक्त है—दक्षिणी, पश्चिमी, पूर्वी और केन्द्रीय। पूर्वी कमान का मुख्यालय बँगला देश के स्वाधीनता युद्ध के समय कलकत्ते में था। बंगला देश के स्वतंत्रता-संग्राम में इस कमान ने अद्भुत कौशल एवं क्षमता का परिचय दिया। एक कमान का प्रभारी लेफ्टिनैन्ट जनरल के स्तर का सैनिक अधिकारी होता है जो कमांडिंग इन चीफ़ कहलाता है। प्रत्येक

कमान कई क्षेत्रों में बँटा होता है जो मेजर जनरल के अधीन होता है। मेजर जनरल जनरल आफिसर कमांडिंग कहलाता है। ये प्रक्षेत्र पुन: उपक्षेत्रों में बँटे होते हैं जिसका अधिकारी ब्रिगेडियर होता है।

ब्रिगेडियर : एक सैनिक अधिकारी जो सेना के एक ब्रिगेड का संचालक होता है। एक ब्रिगेड में ८०० से १४०० तक सैनिक रहते हैं। इसके जिम्मे एक विशेष उपक्षेत्र की रक्षा का दायित्व होता है। यह कर्नल से बड़ा होता है तथा सेना में पद की दृष्टि से पाँचवें स्थान पर आता है।

जनरल : स्थल सेना का सर्वोच्च अधिकारी। श्री नागरा वास्तव में मेजर जनरल थे और बँगला देश के मुक्ति-सँग्राम में कोर कमांडर की हैसियत से कार्य कर रहे थे। युद्ध की व्यूह-रचना को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए १९७१ की लड़ाई में इस पद की नई सृष्टि की गई थी जिसका दायित्व अपने सीमित क्षेत्र में हर प्रकार की कार्रवाई करने का था। आवश्यकता पड़ने पर वह अपनी कमान से सीधे परामर्श कर सकता था। यहाँ लेखक ने आदरार्थ एवं सुविधा के लिए 'जनरल' शब्द का प्रयोग किया है।

स्टेनगन : छोटी और मझोली स्वचालित बंदूक है जिसका आविष्कार ब्रिटेन ने किया। सीमित दायरे में यह ठीक निशाना लगाती है और इसकी मारक शक्ति बड़ी तेज एवं विश्वसनीय है।

मुक्तिवाहिनी : स्वतंत्रता दिलानेवाली सेना, बँगला देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व की सेना अपने को मुक्तिवाहिनी कहती थी।

सार्टी : बमवर्षक विमानों के जत्थों द्वारा की गई एक बार की बमबारी, चार-पाँच बमवर्षक विमान एक साथ जाकर शत्रु-देश पर बमवर्षा करते हैं। ऐसी एक कार्रवाई को सार्टी कहते हैं।

शेलिंग : गोला-बारूद की वर्षा।

अगनबोट : स्टीमर, भाप या तेल से चलनेवाला छोटा जहाज।

जेटी : पानी के ऊपर बना हुआ लकड़ी या कंकरीट का लंबा चबूतरा जिसपर से जहाज़ पर माल चढ़ाया-उतारा जाता है और यात्री चढ़ते-उतरते हैं।

रिकॉयललेस गन : यह स्वचालित हथियार है जिसे सैनिक एक बार निशाने पर रख कर गोलियों की बौछार शुरू कर देता है। इसका मुख्य काम शत्रु की दुर्भेद्य पंक्ति को भी बेध डालना है।

मोर्टार : एक प्रकार की बहुत छोटी तोप जिसे एक आदमी ढो सकता है। इसके ऊपरी हिस्से (मुँह) में ६-७ कि० ग्राम का गोला भरा जाता है जो हज़ार फुट तक मार कर सकता है।

सकून : शांति, आराम।

आर्टिलरी : सेना का वह अंग जो टैंक-तोप आदि से गोले बरसाकर शत्रु का सामना करता है, बख्तरबंद सेना।

गालिब : उर्दू के प्रसिद्ध कवि मिरजा असदुल्ला खां (१७९७-१८६९) का उपनाम।

८. फतहपुर सीकरी

विजय-तोरण : विजय के उपलक्ष में किसी नगर या घर के बाहर बनाया गया विशाल दरवाज़ा।

मृगतृष्णा : कड़ी धूप में रेतीले मैदानों में होनेवाली जलधारा की मिथ्या प्रतीति।

खलीफा : पैगंबर मुहम्मद साहब का उत्तराधिकारी, इस्लाम धर्म के मानने वालों का धार्मिक तथा शासकीय सर्वोच्च अधिकारी।

धर्माधिकारी : धर्म-अधर्म का निर्णय देनेवाला अधिकारी।

अबुलफ़ज़ल : सम्राट अकबर के मित्र एवं उसके दरबार के नवरत्नों में से एक।

फैज़ी : सम्राट अकबर के मित्र और उसके दरबार के नवरत्नों में से एक।

दीवान-ए-खास : बादशाह या राजा का वह दरबार जिसमें केवल बड़े-बड़े अधिकारी ही मंत्रणा आदि के लिए आ-जा सकें।

दीन-ए-इलाही : सम्राट अकबर द्वारा चलाया गया एक धर्म जो कुछ ही समय तक चलकर रह गया। उस धर्म के सिद्धांत सभी धर्मों की उपयोगी और समन्वयात्मक धारणाओं पर आधारित थे।

चौसर : शतरंज की तरह का एक खेल।

९. ममता

रोहतास-दुर्ग : रोहतास का किला जो बिहार राज्य के भोजपुर क्षेत्र में है।

प्रकोष्ठ : राजप्रासाद या महल के मुख्य फाटक के पास का कमरा।

म्लेच्छ : विदेशी।

उत्कोच : घुस, रिश्वत।

तोरण : किले का बाहरी मुख्य दरवाजा।

धर्म-चक्र : महात्मा बुद्ध की शिक्षा।

गुल्म : बिना तने का पौधा जिसमें जड़ से ही कई शाखाएँ निकलती हैं।

प्राचीर : नगर, किले आदि के चारों ओर रक्षा के लिए बनाई गई दीवार, परकोटा, चहारदीवारी।

अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जना पर्युपासते : जो भक्त अनन्य भावना से मेरी उपासना करते हैं। (गीता से उद्धृत)

चौसा-युद्ध : शेरशाह और हुमायूँ के बीच १५३९ ई० में लड़ाई हुई। यह स्थान बिहार राज्य में बक्सर के पास अवस्थित है।

ब्रह्मांड : संपूर्ण विश्व।

मृगदाव : हरिणों के रहने का स्थान, वाराणसी के निकट का वह स्थान जहाँ बुद्धदेव ने अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था।

१०. रुपहला धुआँ

गिरिसप्पा : मैसूर राज्य में भारत का सबसे बड़ा जल-प्रपात है। यहाँ सरावती नदी ८५० फुट की ऊँचाई से गिरती है। नदी का जल चार भागों में बहकर बहुत सुंदर दृश्य उपस्थित करता है।

परवलय : गोल घेरा, परिधि, कंकण, अंगूठी, कटिबंध।

शरदिन्दु : शरद् ऋतु का चंद्रमा।

देववाणी : संस्कृत भाषा।

उपराम : विराम, विश्राम, निवृत्ति, विश्रांति, स्थगन।

उर्मिल : तरंगयुक्त।

मल्हार : एक राग जो वर्षा ऋतु में गाया जाता है।

कवच-मंत्र : रक्षामंत्र, बचाव का उपाय, तांत्रिक साधना का एक रक्षामंत्र।

आस्फालित : उछाला हुआ, धक्का दिया हुआ।

मन्मथ : कामदेव।

स्फीत : बढ़ा हुआ, घना, फूला हुआ।

असंप्रज्ञात : चेतना की वह अवस्था जहाँ बाहरी वस्तुओं का ज्ञान नहीं रहता।

अवाई : स्वागत, अगवानी।

आनंद-विजड़ित : आनंद की अधिकता के कारण आनंद को अनुभव करने में असमर्थ हो जाना।

गहना : कसकर पकड़ना।

रूमानियत : रोमानी ऐश-मौज, शारीरिक भोग।

उद्दीपन : रस को उद्दीप्त करनेवाली आलंबन की चेष्टा आदि, तथा देशकाल की स्थितियाँ भी उद्दीपन हैं।

यक्ष : कुबेर के सेवक; एक देवयोनि।

अलका : कुबेरपुरी, कुबेर का प्रसिद्ध नगर जो हिमालय पर कहीं अवस्थित था।

चातक : पपीहा, सारंग, कवि संप्रदाय के अनुसार यह पक्षी केवल स्वाति नक्षत्र (पंद्रह दिन का समय जो लगभग आश्विन महीने में आता है) में वर्षा का जल पीता है, अतः सदा बादलों की ओर टकटकी लगाए रहता है।

चकोर : तीतर से मिलता-जुलता एक पक्षी जो चंद्रमा का परम प्रेमी माना जाता है और आग को चंद्रमा का अंश समझकर उसे खा जाता है। (कवि-समय)

अमृतांशु : चंद्रमा।

गद्य-भारती

तृतीय भाग

[ग्यारहवीं कक्षा के लिए]

विषय-सूची

तृतीय भाग

रामधारी सिंह 'दिनकर'

रामधारी सिंह 'दिनकर' का जन्म सन् १६०८ ई० में बिहार राज्य के मुंगेर ज़िले के सिमरिया ग्राम में हुआ था। बी० ए० (प्रतिष्ठा) की परीक्षा पास करने के पश्चात् आपने कुछ दिनों के लिए उच्च माध्यमिक विद्यालय में प्रधानाध्यापक का कार्य संभाला। उसके बाद आप सरकारी नौकरी पर चले आए और अवर-निबंधक और उपनिदेशक, प्रचार विभाग के पदों पर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तक कार्य करते रहे। तदनंतर आपने कुछ समय तक बिहार विश्व-विद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर कार्य किया। सन् १६५२ ई० में आप भारतीय संसद के सदस्य निर्वाचित हुए। कुछ समय आप भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति भी रहे। उसके पश्चात भारत सरकार के गृह-विभाग में हिन्दी सलाहकार के रूप में एक लंबे अरसे तक हिन्दी के संवर्धन एवं प्रचार-प्रसार के लिए काफ़ी कार्य करते रहे। संप्रति आप अवकाश प्राप्त कर पटने में रहकर साहित्य सृजन कर रहे हैं। आप ज्ञानपीठ पुरस्कार से भी सम्मानित हो चुके हैं।

आपकी प्रसिद्धि का मुख्य आधार कविता है और देश और विदेश में आप मुख्यतया कवि रूप में प्रसिद्ध हैं। लेकिन गद्य लेखन में भी आप अप्रतिम रहे और अनेकों अनमोल ग्रंथ लिखकर हिन्दी साहित्य की भी वृद्धि की। इसका ज्वलंत उदाहरण है 'संस्कृति के चार अध्याय' जो साहित्य अकादमी से पुरस्कृत है। आपके गद्य में विषयों की विविधता और शैली की प्रांजलता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। आपका गद्य साहित्य काव्य की भाँति ही अत्यंत सजीव एवं स्फूर्तिमय है तथा भाषा ओज से ओत-प्रोत। आपने काव्य, संस्कृति, समाज, जीवन आदि विषयों पर बहुत ही चुटीले लेख लिखे हैं।

आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं :

रेणुका, हुंकार, रसवंती, कुरुक्षेत्र, रश्मिरथी, सामधेनी, उर्वशी, परशुराम की प्रतीक्षा, हारे को हरिराम आदि (काव्य); संस्कृति के चार अध्याय, मिट्टी की ओर, शुद्ध कविता की खोज, साहित्यमुखी, काव्य की भूमिका (समीक्षा); अर्द्धनारीश्वर, उजली आग, संस्मरण-श्रद्धांजलियाँ, देश-विदेश आदि।

संकलित पाठ, 'कबीर साहब से भेंट' 'विषय, विधा और शैली प्रायः तीनों ही दृष्टियों से विशिष्ट निबंध है। लेखक ने कुछ सामयिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं जिनके उत्तर के लिए आपने कबीर साहब से अपेक्षा की है। उत्तर तो आप स्वयं प्रस्तुत करते हैं, किन्तु इस युक्ति विशेष को अपनाने के कारण पाठ अत्यंत रोचक ग्रहण-योग्य बन गया है।

कबीर साहब से भेंट

कल्पना में एक दिन मेरी मुलाकात महात्मा कबीरदास से हुई और मैंने उनसे पूछा, "महाराज, आप तो भक्त भी थे और समाज-सुधारक भी। किन्तु आज संसार में भक्ति का स्वर मद्धम पड़ गया है और सर्वत्र समाज-सुधार की भावना प्रबल दिखाई देती है। लोग परलोक को छोड़कर लोक की समाराधना में लीन हैं। यह संसार के लिए अच्छा है या बुरा, कुछ ठीक से समझ में नहीं आता। बड़ी कृपा हो, यदि इस विषय में आप अपने विचार हमें जानने दें।"

कबीरदास बोले, "भक्ति-साधना और समाज-सुधार, ये परस्पर विरोधी काम नहीं हैं। मुख्य बात यह नहीं है कि तुम समाजसेवी हो या भक्त। देखने की बात तो यह हो सकती है कि तुम समाज-सेवा या भक्ति किस भाव से करते हो। यदि तुम्हारी सेवा-भावना निष्काम है तो तुम समाज-सेवी होते हुए भी भक्त हो। इसके विपरीत, भक्त होने पर भी यदि वासना तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ती तो साधारण संसारी जीव हो—

जब लगि भक्ति सकाम है, तब लगि निष्फल सेव।
कह कबीर वह क्यों मिले निहकामी निज देव।"

मैंने कहा, "महाराज, यह उत्तर तो अत्यंत संक्षिप्त हो गया। और सकाम-निष्कामवाली बात लाकर तो आपने और भी कठिनाई उत्पन्न कर दी है। उदाहरण के लिए, जो लोग आर्थिक विषमता मिटाकर समाज में समता लाना चाहते हैं, उनका कार्य निष्काम कैसे हो सकता है, स्पष्ट ही, वे किसी उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य करते हैं।"

महात्मा बोले, "सभी मनुष्य सकाम नहीं होते। सकामता तो वहीं देखी जा सकती है, जहाँ मनुष्य अपने स्वार्थ से प्रेरित होकर काम करता है। जिसका उद्देश्य स्वार्थ नहीं है, परमार्थ अथवा परोपकार है, उस पर तुम सकाम होने का दोष नहीं दे सकते। और विषमताएँ क्या मात्र आर्थिक हैं ? उनसे कहीं विकराल विषमताएँ तो वे हैं जो निरे जन्म के आधार पर एक मनुष्य को उत्तम और दूसरे को अधम बताती है, एक को पूज्य और दूसरे को अस्पृश्य बताती हैं। जब तक यह दुर्ग नहीं टूटता, जब तक मनुष्य यह नहीं समझ पाता कि जन्मना सभी मनुष्य समान हैं और सबको श्रेष्ठ एवं सुखी बनने का समान अधिकार है, तब तक समाज में फैली हुई विषमताओं का अंत नहीं होगा।"

मैंने निवेदन किया, "विषमता के मानसिक दुर्ग से आपका तात्पर्य क्या है महाराज ?"

कबीर साहब बोले, "बहुत कुछ वही भाव जिसे तुम आज की भाषा में वर्ग-भावना कहते हो। धनी और निर्धन, ये दो वर्ग तुम्हें दिखाई देते हैं, किन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि निर्धन होने पर भी ब्राह्मण और हरिजन परस्पर एकात्मकता का अनुभव नहीं कर पाते। ब्राह्मण आज भी यह सोचकर अपने को अंत्यजों से पृथक् रखता है कि वह जन्मना उनसे श्रेष्ठ है। समाज में समता लाने के पहले उस रूढ़ि को समूल विनष्ट करना है, उस परंपरा को निर्मूल बनाना है जो यह भाव जगाती है कि कर्म नहीं, केवल जन्म के आधार पर कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से श्रेष्ठ हो सकता है।"

मैंने दबी जबान से पूछा, "महाराज! क्या मैं यह समझूँ कि आप गांधी और मार्क्स के करीब से बोल रहे हैं।"

"राजनीति मेरा क्षेत्र नहीं है। किन्तु जहाँ तक संस्कार की बात है, मैं गांधी और मार्क्स की कई बातों को ठीक समझता हूँ। सामाजिक विषमताओं के मूल में मनुष्य का अहंकार निवास करता है। जाति का अहंकार, वंश का अहंकार, धन और शक्ति

का अहंकार, सिद्धि और सफलता का अहंकार। ये सभी अहंकार विभाजक रेखाएँ हैं, जो मनुष्य को मनुष्य से अलग करती हैं। गांधी ने इसी अहंकार को शामिल करने के लिए यह परिपाटी चलाई थी कि सेवा का अधिकार उसी को मिल सकता है जो भंगी का काम भी उत्साह और प्रसन्नता के साथ कर सके। और इसी अहंकार को मारने के लिए मार्क्स ने कहा कि सेवा के पथ पर अग्रसर होने के पूर्व अपने मन को समझा दो कि तुम किसी भी व्यक्ति से किंचित् भी श्रेष्ठ नहीं हो। जो काम मजदूर करता है वह पंडितों के भी करने योग्य है और इसी अहंकार-विसर्जन के लिए वैष्णव कवि ने 'मो सम कौन कुटिल खल कामी' की अनुभूति प्राप्त की थी। जिसमें विनयशीलता नहीं, वह मनुष्य का कोई काम नहीं कर सकता। जिसमें सबका दास बनने की विनम्रता नहीं, वह किसी का भी स्वामी नहीं हो सकता—

कबिरा कुल तो सो भला, जेहि कुल उपजै दास।
जेहि कुल दास न ऊपजै, सो कुल आक पलास ॥"

कबीर साहब की बात सुनकर क्षण भर मैं विचार-मग्न हो गया। मुझे लगा कि समाजवाद नया शब्द ज़रूर है, किन्तु उसकी तैयारी सदियों से होती आई है। कबीर ने जाति-प्रथा और वर्णाश्रम पर प्रहार किया। मार्क्स धनतंत्र को ललकारने के जोश में धर्म के भी विरुद्ध हो गए। गांधी की व्यथा यह है कि धनतंत्र तो अवश्य टूटे, किन्तु धर्म फिर से अचल हो जाए। किन्तु इस काम में कठिनाइयाँ कितनी हैं। अतएव मैंने आतुर होकर प्रश्न किया, "किन्तु महाराज! आप जिस समाज की कल्पना करते हैं, वह तो संन्यासियों के समाज जैसा लगता है। तो क्या संन्यासी भी समाज चला सकते हैं?"

महात्मा बोले, "चलाना ही होगा। और कोई उपाय नहीं है। मैं जिस समाज की कल्पना करता हूँ उसके गृहस्थ-संन्यासी और संन्यासी-गृहस्थ होंगे। अर्थात्, संन्यास और गार्हस्थ्य के बीच वह दूरी नहीं रहेगी जो परंपरा से चलती आ रही है। मैं स्वयं गृहस्थ था, नानक गृहस्थ थे, बहुत प्राचीन काल में वसिष्ठादि अनेक ऋषि गृहस्थ हुए

हैं। संन्यासी उत्तम कोटि का मनुष्य होता है, क्योंकि उसमें संचय की वृत्ति नहीं होती, लोभ और स्वार्थ नहीं होता। यही गुण गृहस्थ में भी होना चाहिए। और संन्यासी भी वही श्रेष्ठ है जो समाज के लिए कुछ काम करे। ज्ञान और कर्म को भिन्न करोगे तो समाज में विषमता उत्पन्न होगी ही। मुख में कविता और करघे पर हाथ, यह आदर्श मुझे बहुत पसंद था, और इसी की शिक्षा मैं दूसरों को भी देता हूँ। और, तुमने सुना है या नहीं कि नानक ने एक अमीर लड़के के हाथ से पानी पीना अस्वीकार कर दिया था। लोगों ने कहा, 'गुरुजी, यह लड़का तो अत्यंत संभ्रांत वंश का है, इसके हाथ का पानी पीने में क्या दोष है ? नानक बोले, 'इसकी तलहत्थी में मेहनत और मज़दूरी के निशान नहीं हैं। जिसके हाथ में मेहनत के ठेले नहीं होते, उसके हाथ का पानी पीने में मैं दोष मानता हूँ।' नानक ठीक थे। श्रेष्ठ समाज वही है जिसके सदस्य ज्ञान और कर्म में से एक को श्रेष्ठ और दूसरे को अधम नहीं मानते। श्रेष्ठ समाज वह है जिसके सदस्य जी खोलकर श्रम करते हैं और, तब भी ज़रूरत से अधिक धन पर अधिकार जमाने की उनकी इच्छा नहीं होती—

उदर समाता अन्न लै, तनहिं समाता चीर।
अधिकहिं संग्रह ना करै, ताको नाम फकीर॥
साधू सच्चा वही है, पेट समाता लेई।
आगे-पीछे हरि खड़े, जब माँगे तब देई॥
साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, अतिथि न भूखा जाय॥"

मैंने कहा, "बाबा, ये बातें तो बहुत दिनों से कही जा रही हैं, किन्तु संचय की ओर से मनुष्य की वृत्ति फिरती तो नहीं दिखाई देती। वह तो तभी फिरती है जब दबाव डाला जाता है।"

कबीर साहब बोले, "तो कौन कहता है कि दबाव मत डालो। दबाव केवल

तलवार का ही नहीं, जनमत का भी होता है। तलवार के भय से साधुता धारण करने वाला व्यक्ति समाज का आदर्श सदस्य नहीं हो सकता। आदर्श मनुष्य तो वही हो सकता है जिसने स्वेच्छया साधुत्व का वरण किया हो, स्वेच्छया संचय का त्याग किया हो। किन्तु एक बात याद रखो कि प्रवृत्ति की ज्वाला भड़काए रखने से मनुष्य संचय का त्याग नहीं करेगा। इसके लिए थोड़ी शिक्षा उसे निवृत्ति की भी मिलनी चाहिए। प्रवृत्ति इसलिए कि मनुष्य डटकर काम करे। निवृत्ति इसलिए कि अपनी कमाई पर वह अपना अधिकार न जमाए। प्रवृत्ति इसलिए कि कर्मठता जीवन का एकमात्र अवलंब है और निवृत्ति इसलिए कि एक दिन मनुष्य को सब कुछ यहीं छोड़कर अकेले जाना पड़ता है और उसकी चिता में रुपए-पैसे नहीं, कुछ थोड़ी-सी सूखी लकड़ी ही जलती हैं—

चार जने मिलि खाट उठाए रोवत लै चले डगर डगरिया।
कहे कबीर सुनो भई साधो, संग चली वह सूखी लकरिया॥

इसलिए, आवश्यकता यह है कि लोग जरूरत से अधिक जमा करने की व्यर्थता को समझें, और, त्याग में क्या संचय से कम सुख है? केवल दृष्टि का भेद है।"

यहाँ आकर मैंने निवेदन किया, "अच्छा बाबा, ये बातें तो हो गईं। अब धर्म के विषय में कुछ कहिए।"

कबीर साहब बोले, "इतनी देर क्या मैं धर्म छोड़कर किसी अन्य विषय की बात कहता रहा? ऐसा क्यों समझते हो कि धर्म केवल मंदिर और मस्जिद में बसता है तथा जुलाहे के करघाघर या मोची के मोचीखाने अथवा राजनीति के दफ्तर में वह नहीं रह सकता। जीवन के दो टुकड़े नहीं हैं कि एक में धर्म का आसन और दूसरे में छल और प्रपंच के लिए छूट रहे। जीवन का ऐसा विभाजन नहीं चल सकता। यह तो धर्म और अधर्म के बीच समझौते का उदाहरण होगा। धर्म संपूर्ण जीवन की पद्धति है। धर्म जीवन का स्वभाव है। ऐसा नहीं हो सकता कि हम कुछ कार्य तो धर्म की

मौजूदगी में करें और बाकी कार्यों के समय उसे भूल जाएँ। धर्म ज्ञान और विश्वास में नहीं, कर्म और आचरण में बसता है। यदि हम ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करते हैं तो इस विश्वास का सबूत हमारे आचरणों में मिलना ही चाहिए। पूजा और अनुष्ठान की विधियाँ धर्मरूप हैं। मंदिर, मस्जिद, तीर्थव्रत और पंडे तथा पुरोहित की प्रथा, ये धर्म के ढकोसले हैं। सच पूछो तो सभी धर्म एक हैं। केवल पूजा-विधियों के कारण वे भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं। इसलिए कहता हूँ कि पूजा-विधियों को छोड़ दो और सभी धर्मों को एक हो जाने दो। सभी धर्म एक हैं। एक से अधिक वे हो ही नहीं सकते। तुम्हारे नए कवि रवीन्द्रनाथ ने तुमसे ठीक कहा था, 'धर्म को पकड़े रहो। धर्मों को छोड़ दो।' और धर्म केवल जुमे या मंगलवार को ही नहीं जगता, वह सातों दिन जगा रहता है। उसकी साधना का स्थान मंदिर और मस्जिद ही नहीं, बल्कि वे सारी जगहें हैं, जहाँ मनुष्य कोई काम करता है।

—रामधारी सिंह 'दिनकर'

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक ने अपनी बातों की अभिव्यक्ति का माध्यम कबीर साहब को क्यों बनाया :

(क) भारतीय इतिहास में कबीर साहब का व्यक्तित्व बहुत ही दिलचस्प रहा है।

(ख) स्वप्न में एक दिन कबीर साहब से लेखक की भेंट हो गई थी।

(ग) भारतीय इतिहास में कबीर ही इस निबंध के प्रतिपादित विषय के अधिकारी हैं।

(घ) कबीर के क्रांतिकारी व्यक्तित्व और विचारों से भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है।

(ङ) इस निबंध में उठाए गए प्रश्नों का कबीर के दर्शन से सीधा संबंध है।

२. "भक्ति-साधना और समाज-सुधार विरोधी नहीं हैं।" कुछ महापुरुषों के जीवन से उदाहरण देकर प्रमाणित कीजिए।

३. निष्काम सेवा-भावना और वासनायुक्त भक्ति में से कौन अच्छी है और क्यों ?

४. 'विषमताओं का असली दुर्ग तो मनुष्य के मन में अवस्थित है।' इसकी विवेचना करते हुए इस दुर्ग को तोड़ने की आवश्यकता और उपाय पर प्रकाश डालिए।

५. "ज्ञान और कर्म को भिन्न करोगे तो समाज में विषमता उत्पन्न होगी ही।" बुद्धिजीवी वर्ग और अशिक्षित मजदूर वर्ग को अपनी दृष्टि में रखकर इस कथन की विवेचना कीजिए।

६. प्रवृत्ति और निवृत्ति से आप क्या समझते हैं ? लेखक ने दोनों को हमारे जीवन के लिए अपरिहार्य क्यों बताया है ?

७. प्रमाणित कीजिए कि सभी धर्म मूलतः एक ही हैं, केवल बाह्याचार के कारण वे भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ते हैं।

८. 'कबीर साहब से भेंट' निबंध काफ़ी दिलचस्प बन गया है। कैसे ?

९. इस निबंध के प्रतिपाद्य विषय का सार अपने शब्दों में लिखिए।

हरिशंकर परसाई

परसाई जी का जन्म २२ अगस्त १६२४ ई० को मध्यप्रदेश में जमानी (इटारसी के पास) में हुआ। आपने नागपुर विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० किया। कुछ वर्षों तक अध्यापन कार्य करने के बाद आपने नौकरी का मोह छोड़ दिया और स्वतंत्र लेखन को ही अपने जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया। जबलपुर से 'वसुधा' नाम की साहित्यिक मासिक पत्रिका निकाली जिसे घाटे के बावजूद कई वर्षों तक चलाया। पिछले अनेक वर्षों से आप हिन्दी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के लिए नियमित रूप से व्यंग्य-रचनाएँ लिख रहे हैं।

परसाई जी मुख्यतया व्यंग्य-लेखक हैं पर आपका व्यंग्य केवल मनोरंजन के लिए नहीं है। आप अपने व्यंग्य के द्वारा बार-बार हमारा ध्यान व्यक्ति और समाज की उन कमजोरियों की ओर खींचते हैं जो जीवन को दूभर बनाती हैं। सामाजिक और राजनैतिक व्यंग्य लिखने में परसाई जी विशेष कुशल हैं।

आपकी प्रकाशित प्रसिद्ध पुस्तकें हैं—'हँसते हैं, रोते हैं', 'जैसे उनके दिन फिरे' (कहानी संग्रह); 'रानी नागफनी की कहानी', 'तट की खोज' (उपन्यास); 'तब की बात और थी'; 'भूत के पाँव के पीछे', 'बेईमानी की परत', 'पगडंडियों का जमाना', 'सदाचार का तावीज', 'शिकायत मुझे भी है', 'और अंत में' आदि (निबंध संग्रह)।

'निन्दा रस' व्यंग्य की दृष्टि से एक बहुत सफल रचना है। निन्दा कर्म के विशिष्ट विश्लेषण में श्री परसाई ने निन्दकों पर जो प्रहार किए हैं वे तीखे तो हैं, किन्तु पढ़ने में प्रिय लगते हैं। कदाचित् 'निन्दा रस' को पढ़कर निन्दा करनेवालों को कुछ शिक्षा मिले।

निन्दा रस

'क' कई महीने बाद आए थे। सुबह चाय पीकर अखबार देख रहा था कि वे तूफ़ान की तरह कमरे में घुसे, 'साइक्लोन' की तरह मुझे अपनी भुजाओं में जकड़ा तो मुझे धृतराष्ट्र की भुजाओं में जकड़े भीम के पुतले की याद आ गई। वह धृतराष्ट्र की ही जकड़ थी। अंधे धृतराष्ट्र ने टटोलते हुए पूछा, "कहाँ है भीम? आ बेटा, तुझे कलेजे लगा लूं।" और जब भीम का पुतला उनकी पकड़ में आ गया, तो उन्होंने प्राण-घाती स्नेह से उसे जकड़कर चूर कर डाला।

ऐसे मौके पर हम अक्सर अपने पुतले को अँकवार में दे देते हैं, हम अलग खड़े देखते रहते हैं। 'क' से क्या मैं गले मिला? क्या मुझे उसने समेट कर कलेजे से लगा लिया? हरगिज नहीं। मैंने अपना पुतला ही उसे दिया। पुतला इसलिए उसकी भुजाओं में सौंप दिया कि मुझे मालूम था कि मैं धृतराष्ट्र से मिल रहा हूँ। पिछली रात को एक मित्र ने बताया कि 'क' अपनी ससुराल आया है और 'ग' के साथ बैठकर शाम को दो-तीन घंटे तुम्हारी निन्दा करता रहा। इस सूचना के बाद जब आज सबेरे वह मेरे गले लगा तो मैंने शरीर से अपने मन को चुपचाप खिसका दिया और निस्नेह, कँटीली देह उसकी बाँहों में छोड़ दी। भावना के अगर काँटे होते तो उसे मालूम होता कि वह नागफनी को कलेजे से चिपटाए है। छल का धृतराष्ट्र जब आलिंगन करे, तो पुतला ही आगे बढ़ाना चाहिए।

पर वह मेरा दोस्त अभिनय में पूरा है। उसके आँसू भर नहीं आए, बाकी मिलन के हर्षोल्लास के सब चिह्न प्रकट हो गए—वह गहरी आत्मीयता की जकड़ नयनों से छलकता वह असीम स्नेह और वह स्नेह-सिक्त वाणी।

बोला, "अभी सुबह गाड़ी से उतरा और एकदम तुमसे मिलने चला आया, जैसे आत्मा का एक खंड दूसरे खंड से मिलने को आतुर रहता है।" आते ही झूठ बोला कंबख्त। कल का आया है, यह मुझे मेरा मित्र बता गया था। इस झूठ में कोई प्रयोजन शायद उसका न रहा हो। कुछ लोग बड़े निर्दोष मिथ्यावादी होते हैं। वे आदतन, प्रकृति के वशीभूत झूठ बोलते हैं। उनके मुख मे निष्प्रयास, निष्प्रयोजन झूठ ही निकलता है। मेरे एक रिश्तेदार ऐसे हैं। वे अगर बंबई जा रहे हैं और उनसे पूछें, तो वे कहेंगे, "कलकत्ता जा रहा हूँ।" ठीक बात उनके मुँह से निकल ही नहीं सकती। 'क' भी बड़ा निर्दोष, सहज-स्वाभाविक मिथ्यावादी है।

वह बैठा। कब आए? कैसे हो?—वगैरह के बाद उसने 'ग' की निन्दा आरंभ कर दी। मनुष्य के लिए जो भी कर्म जघन्य हैं, वे सब 'ग' पर आरोपित करके उसने ऐसे गाढ़े काले तारकोल से उसकी तस्वीर खींची कि मैं यह सोचकर काँप उठा कि ऐसी ही काली तस्वीर मेरी 'ग' के सामने इसने कल शाम को खींची होगी।

सुबह की बातचीत में 'ग' प्रमुख विषय था। फिर तो जिस परिचित की बात निकल आती, उसी को चार-छह वाक्यों मे धराशायी करके वह बढ़ लेता।

अद्भुत है मेरा यह मित्र! उसके पास दोषों का 'केटलाग' है। मैंने सोचा कि जब यह हर परिचित की निन्दा कर रहा है, तो क्यों न मैं लगे हाथ विरोधियों की गत, इसके हाथों करा लूँ। मैं अपने विरोधियों का नाम लेता गया और वह उन्हें निन्दा की तलवार से काटता चला। जैसे लकड़ी चीरने की आरा मशीन के नीचे मज़दूर लकड़ी का लट्ठा खिसकाता जाता है और वह चीरता जाता है, वैसे ही मैंने विरोधियों के नाम एक-एक खिसकाए और वह उन्हें काटता गया। कैसा आनंद था। दुश्मनों को रण-क्षेत्र में एक के बाद एक कटकर गिरते हुए देखकर योद्धा को ऐसा ही सुख होता होगा।

मेरे मन में गत रात्रि के उस निन्दक मित्र के प्रति मैल नहीं रहा। दोनों एक हो गए। भेद तो रात्रि के अंधकार में ही मिटता है, दिन के उजाले में भेद स्पष्ट हो जाते

हैं। निन्दा का ऐसा ही भेद-नाशक अँधेरा होता है। तीन-चार घंटे बाद, जब वह बिदा हुआ, तो हम लोगों के मन में बड़ी शांति और तुष्टि थी।

निन्दा की ऐसी ही महिमा है। दो-चार निन्दकों को एक जगह बैठकर निन्दा में निमग्न देखिए और तुलना कीजिए दो-चार ईश्वर-भक्तों से जो रामधुन लगा रहे हैं। निन्दकों की-सी एकाग्रता, परस्पर आत्मीयता, निमग्नता भक्तों में दुलभ है। इसीलिए संतों ने निन्दकों को 'आँगन कुटी छवाय' पास रखने की सलाह दी है।

कुछ 'मिशनरी' निन्दक मैंने देखे हैं। उनका किसी से बैर नहीं, द्वेष नहीं। वे किसी का बुरा नहीं सोचते। पर चौबीसों घंटे वे निन्दा कर्म में बहुत पवित्र भाव से लगे रहते हैं। उनकी नितांत निर्लिप्तता, निष्पक्षता इसी से मालूम होती है कि वे प्रसंग आने पर अपने बाप की पगड़ी भी उसी आनंद से उछालते हैं, जिस आनंद से अन्य लोग दुश्मन की। निन्दा इनके लिए 'टानिक' होती है।

ट्रेड यूनियन के इस जमाने में निन्दकों के संघ बन गए हैं। संघ के सदस्य जहाँ-तहाँ से खबरें लाते हैं और अपने संघ के प्रधान को सौंपते हैं। यह कच्चा माल हुआ। अब प्रधान उनका पक्का माल बनाएगा और सब सदस्यों को 'बहुजन हिताय' मुफ्त बाँटने के लिए दे देगा। यह फुरसत का काम है, इसलिए जिनके पास कुछ और करने को नहीं होता वे इसे बड़ी खूबी से करते हैं। एक दिन हमसे एक ऐसे संघ के अध्यक्ष ने कहा, "यार आजकल लोग तुम्हारे बारे में बहुत बुरा-बुरा कहते हैं।" हमने कहा, "आपके बारे में मुझसे कोई भी बुरा नहीं कहता। लोग जानते हैं कि आपके कानों के घूरे में इस तरह का कचरा मजे में डाला जा सकता है।"

ईर्ष्या-द्वेष से प्रेरित निन्दा भी होती है। लेकिन इसमें वह मजा नहीं जो मिशनरी भाव से निन्दा करने में आता है। इस प्रकार का निन्दक बड़ा दुखी होता है। ईर्ष्या-द्वेष से चौबीसों घंटे जलता है और निन्दा का जल छिड़ककर कुछ शांति अनुभव करता है। ऐसा निन्दक बड़ा दयनीय होता है। अपनी अक्षमता से पीड़ित वह बेचारा दूसरे की सक्षमता के चाँद को देखकर सारी रात श्वान जैसा भौंकता है। ईर्ष्या-द्वेष

से प्रेरित निन्दा करनेवाले को कोई दंड देने की जरूरत नहीं है। वह निन्दक बेचारा स्वयं दंडित होता है। आप चैन से सोइए और वह जलन के कारण सो नहीं पाता। उसे और क्या दंड चाहिए ? निरंतर अच्छे काम करते जाने से उसका दंड भी सख्त होता जाता है। जैसे, एक कवि ने एक अच्छी कविता लिखी, ईर्ष्याग्रस्त निन्दक को कष्ट होगा। अब अगर एक और अच्छी लिख दी, तो उसका कष्ट दुगना हो जाएगा।

निन्दा का उद्गम ही हीनता और कमजोरी से होता है। मनुष्य अपनी हीनता से दबता है। वह दूसरों की निन्दा करके ऐसा अनुभव करता है कि वे सब निकृष्ट हैं और वह उनसे अच्छा है। उसके अहं की इससे तुष्टि होती है। बड़ी लकीर को कुछ मिटाकर छोटी लकीर बड़ी बनती है। ज्यों-ज्यों कर्म क्षीण होता जाता है, त्यों-त्यों निन्दा की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है। कठिन कर्म ही ईर्ष्या-द्वेष और इनसे उत्पन्न निन्दा को मारता है। इंद्र बड़ा ईर्ष्यालु माना जाता है क्योंकि वह निठल्ला है। स्वर्ग में देवताओं को बिना उगाया अन्न, बेबनाया महल और बिन-बोए फल मिलते हैं। अकर्मण्यता में उन्हें अप्रतिष्ठित होने का भय बना रहता है, इसलिए कर्मी मनुष्यों से उन्हें ईर्ष्या होती है।

निन्दा कुछ लोगों की पूँजी होती है। बड़ा लंबा-चौड़ा व्यापार फैलाते हैं वे इस पूँजी से। कई लोगों की प्रतिष्ठा ही दूसरों की कलंक-कथाओं के पारायण पर आधारित होती है। बड़े रसविभोर सोकर वे जिस-तिस की सत्य-कल्पित कलंक कथा सुनाते हैं और स्वयं को पूर्ण संत समझने की तुष्टि का अनुभव करते हैं।

आप इनके पास बैठिए और सुन लीजिए, "बड़ा खराब जमाना आ गया। तुमने सुना ? फलाँ...और अमुक...।" अपने चरित्र पर आँख डालकर देखने की उन्हें फुरसत नहीं होती। एक कहानी याद आ रही है। एक स्त्री किसी सहेली के पति की निन्दा अपने पति से कर रही है। वह बड़ा उचक्का, दगाबाज आदमी है। बेईमानी से पैसा कमाता है। कहती है कि मैं उस सहेली की जगह होती तो ऐसे पति को त्याग देती। तब उसका पति उसके सामने यह रहस्य खोलता है कि वह स्वयं बेईमानी से

इतना पैसा कमाता है। सुनकर स्त्री स्तब्ध रह जाती है। क्या उसने पति को त्याग दिया? जी हाँ, वह दूसरे कमरे में चली गई।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हममें जो करने की क्षमता नहीं है, वह यदि कोई करता है तो हमारे पिलपिले अहं को धक्का लगता है, हममें हीनता और ग्लानि आती है। तब हम उसकी निन्दा करके उससे अपने को अच्छा समझकर तुष्ट होते हैं।

उस मित्र की मुलाकात के करीब दस-बारह घंटे बाद यह सब मन में आ रहा है। अब कुछ तटस्थ हो गया हूँ। सुबह जब उसके साथ बैठा था तब मैं स्वयं निन्दा के 'काला सागर' में डूबता-उतराता था, कल्लोल कर रहा था। बड़ा रस है न निन्दा में। सूरदास ने इसलिए इसे 'निन्दा सबद रसाल' कहा है।

—हरिशंकर परसाई

प्रश्न-अभ्यास

१. इस निबंध में किस तत्व की प्रमुखता है?
(क) सरल वर्णन (ख) हास्य (ग) व्यंग्य (घ) कटूक्ति (ङ) हास्य-व्यंग्य।

२. धृतराष्ट्र कौन थे? लेखक ने उनका किसलिए उल्लेख किया है?

३. लेखक ने अपने निन्दक मित्र की किन-किन आदतों का उल्लेख किया है? किन्हीं दो आदतों का विस्तार से वर्णन कीजिए।

४. "छल का धृतराष्ट्र जब आलिंगन करे तो पुतला आगे बढ़ाना चाहिए।" आशय बताइए।

५. "कुछ लोग बड़े निर्दोष मिथ्यावादी होते हैं।" 'निर्दोष' शब्द पर टिप्पणी कीजिए।

६. लेखक के किन्हीं पाँच व्यंग्य-कथनों का चयन कीजिए और उनमें निहित व्यंग्य स्पष्ट कीजिए।

७. लोग निन्दक क्यों बन जाते हैं? निन्दा की प्रवृत्ति से बचने का तथा अपने निन्दकों को उचित उत्तर देने का उपाय क्या है?

८. इस निबंध में कितने प्रकार के निन्दकों का वर्णन किया गया है? लेखक के मित्र को आप किस वर्ग में रखेंगे?

९. इस निबंध से उपयुक्त संकेतों को ग्रहण कर 'निन्दा' पर पचास पंक्तियों का एक निबंध लिखिए।

रामविलास शर्मा

रामविलास शर्मा का जन्म सन् १९१२ ई० में उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले के एक गाँव में हुआ। आपने लखनऊ विश्वविद्यालय से अँगरेजी साहित्य में एम० ए० करने के बाद पी एच० डी० की उपाधि प्राप्ति की और आप वहीं अँगरेजी विभाग में प्राध्यापक नियुक्त हो गए। बाद में आप बलवंत राजपूत कालेज, आगरा में अँगरेजी विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। संप्रति आप क० मु० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा के निदेशक पद पर कार्य कर रहे हैं। आपने व्यवसाय के लिए जहाँ अँगरेजी भाषा-साहित्य को चुना, वहाँ हिन्दी को अपना लेखन-क्षेत्र। आप प्रगतिशील लेखक संघ के मंत्री भी रह चुके हैं। इस प्रकार आपका मार्क्सवादी साहित्य से घनिष्ठ संबंध रहा है। आपकी प्रसिद्धि आलोचक के रूप में अधिक है, किन्तु आपने आलोचना के अतिरिक्त कविताएँ, निबंध, आदि भी लिखे हैं। आप प्रारंभ से ही हिन्दी में प्रगतिवादी समीक्षा पद्धति के प्रमुख स्तंभ रहे हैं। अपने उग्र एवं उत्तेजनापूर्ण निबंधों के द्वारा आपने हिन्दी की समीक्षा को गति प्रदान की और संपूर्ण साहित्य—नए और पुराने को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से देखने-परखने का कार्य बड़ी क्षमता और दक्षता के साथ किया है। आपने सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक दोनों ही समीक्षा पद्धतियों से अपने विचारों को पुष्ट करने का स्तुत्य यत्न किया है। आपने 'हंस' के कविता विशेषांक का और आगरा से प्रकाशित 'समालोचक' नामक पत्रिका का संपादन बड़ी योग्यता एवं कुशलता से किया है।

आपकी प्रमुख कृतियाँ हैं—प्रेमचंद और उनका युग; निराला; भारतेन्दु हरिश्चंद्र; भाषा, साहित्य और संस्कृति; प्रगति और परंपरा; भाषा और समाज (आलोचना); चार दिन (उपन्यास); सन् ५७ की राज्य क्रांति (इतिहास); आस्था और सौन्दर्य (निबंध); 'रूप तरंग' (कविता संग्रह)।

संकलित पाठ, 'महामानव' एक सफल संस्मरण है जिसमें लेखक ने महाकवि 'निराला', के संबंध में प्रचलित भ्रांतियों का निराकरण किया है तथा उनको भली प्रकार समझने के लिए अंतर्दृष्टि प्रदान की है। निराला जी से लेखक का अति निकट संबंध था, उनका लेखक के प्रति अतिशय स्नेह भी था जिसके फलस्वरूप प्रस्तुत संस्मरण जीवंत एवं रोचक बन पड़ा है।

महामानव

सन् ३४ से ३८ तक का समय निराला जी के कवि-जीवन का सबसे अच्छा समय था। उनका कविता-संग्रह 'परिमल' छप चुका था, लेकिन 'गीतिका' के अधिकांश गीत और सर्वश्रेष्ठ कविताएँ 'राम की शक्तिपूजा' 'तुलसीदास', 'सरोज स्मृति' आदि उन्होंने इसी समय लिखीं। गद्य में 'अप्सरा', 'अलका' उपन्यास छप चुके थे, लेकिन 'प्रभावती', 'निरुपमा' उपन्यास और अधिकांश प्रसिद्ध कहानियाँ उन्होंने इसी समय लिखीं। यही बात उनके निबंधों के बारे में भी सही है। उस समय उनकी प्रतिभा अपने पूरे उभार पर थी। उसके पहले जो कुछ था, वह तैयारी थी, बाद को जो कुछ आया, वह सूर्यास्त के बाद का प्रकाश भर था।

निराला जी की एक विशेषता यह थी कि कविता लिखने से पहले वे उसकी भाव-राशि, विषयवस्तु की चर्चा बहुत कम करते थे। कोई भी कविता लिखने से पहले वे उसकी भाव-राशि को कुछ दिन तक अपने मन में संजोए रखते थे, मानो वह उनके मन में धीरे-धीरे रूप और आकार ग्रहण कर रही हो। दूसरों की कविताओं की चर्चा काफी करते थे, अपने पिछले साहित्यिक जीवन की चर्चा भी करते थे, लेकिन उस समय उनके कवि-हृदय में कौन-सी अस्फुट कविता गूँज रही है, इसका पता लगाना कठिन था। उस समय निराला जी के बारे में लोगों की यह आम धारणा थी कि वे अपने आगे किसी को नहीं गिनते। बात किसी हद तक ठीक भी थी। इसलिए यह और भी आश्चर्य की बात थी कि जिन भावों में उनका मन सब से ज्यादा डूबा रहता था, और जिन्हें चुपचाप वे छंद और शब्दों का सुंदर रूप देने में लगे होते थे, उनकी वे बात भी न करते थे। लोग उनकी ऊपरी बात, रहन-सहन, चाल-ढाल से इतना आकर्षित होते

थे कि वे बाहर न प्रकट होने वाले कवि निराला को भूल जाते थे।

इसी तरह एक दिन अट्ठावन नंबर, नारियल वाली गली, लखनऊ के मकान में कुछ घंटे नीचे के कमरे में बिताने के बाद वे हाथ में एक कागज लिए ऊपर आए। तब मैं उन्हीं के साथ रहता था। दो बंद पढ़कर सुनाए और बोले—" 'तुलसीदास' लिखना शुरू कर दिया है, अभी इतना ही लिखा है।" ये उनकी नई कविता के पहले छंद थे। इससे पहले उन्होंने इसका ज़रा भी आभास न दिया था कि उनका मन तुलसीदास के साथ चित्रकूट में घूम रहा है और नई कविता के भावों में वे इतना डूबे हुए हैं। ऐसे ही एक दिन उन्होंने 'राम की शक्तिपूजा' का पहला बंद सुनाया। तब तक उतना ही लिखा था। पूछा—"कैसा है ?" तारीफ़ करने पर प्रसन्नता से बोले—"तो पूरा कर डालें इसे ?" मानो ऐसी सुंदर कविता को पूरी करने के लिए वे किसी की तारीफ की ही राह देख रहे हों।

निराला जी की बहुत-सी कविताएँ आसानी से समझ में नहीं आतीं, इससे कुछ लोगों ने यह अनुमान लगाया था कि शब्दों को ठूँस-ठूँस कर वे किसी तरह कविता पूरी कर देते हैं। वास्तव में कविता लिखने में वे बहुत परिश्रम करते थे, हर पंक्ति, हर शब्द के संगीत और उसकी व्यंजना का ध्यान रखते थे। कविता ही नहीं, कभी-कभी पत्र लिखते हुए वे भाषा के गठन का इसी तरह ध्यान रखते थे। उनके यहाँ कभी-कभी अधलिखे पोस्टकार्ड देखने को मिलते थे। उनका यही रहस्य था। थोड़ा-सा लिखा, पसंद न आया, दूसरे कार्ड पर लिखने लगे।

कविताएँ पढ़ने और सुनाने में उन्हें बड़ा आनंद आता था। सैकड़ों कविताएँ उन्हें कंठाग्र थीं, अपनी नहीं दूसरों की। सुनाते-सुनाते वे विह्वल हो जाते थे, गला भर आता था और उनका विशाल आकार हवा में पत्ते की तरह काँप उठता था। कविता सुनाते हुए अपनी आँखों से और स्वर से वे उसकी जितनी अच्छी व्याख्या कर देते थे, उतनी अच्छी व्याख्या कोई भी आलोचक न कर सकता था। अपनी कविताएँ सुनाते

थे तो स्वर से, उतार-चढ़ाव से और हाथों की मुद्रा से यों भाव प्रकट करते थे कि न समझनेवालों को भी थोड़ा-बहुत रस मिल जाता था। कभी-कभी कालिदास या शेक्सपियर की किसी कविता को लेकर वह हफ्तों उसकी चर्चा करते, दूसरों को उसका मर्म समझाते कभी-कभी औरों की परीक्षा भी लेते। शेक्सपियर के एक सॉनेट को लेकर वे अँगरेजी के कई अध्यापकों को परेशान कर चुके थे। जब दूसरे व्याख्या न कर पाते तब स्वयं प्रसन्न होकर उसकी व्याख्या करते थे। इसी तरह 'मेघदूत' के कुछ छंदों को लेकर उन्होंने संस्कृत के कुछ आचार्यों की परीक्षा भी ले डाली थी।

निराला जी का घर साहित्य-प्रेमियों का तीर्थराज था। प्रसिद्ध साहित्यकारों से लेकर विद्यार्थियों तक के लिए उनका द्वार खुला रहता था। कविवर सुमित्रानंदन जी पंत जब लखनऊ आते थे, तब उनके यहाँ अवश्य आते थे।

दोनों कवियों का सरस प्रेमालाप सुनकर पता भी न चलता था कि उन्होंने एक दूसरे की तीखी आलोचना की होगी। एक बार दोपहर को निराला जी ने अपने कवि-मित्र को होटल में खाना खिलाया, फिर वहीं कविता सुनाने को कहा। होटल में और पंत जी की कविता! निराला जी का आग्रह! पंत जी ने अपने कोमल स्वर में 'जग के उर्वर आँगन में, बरसो ज्योतिर्मय जीवन'···यह कविता गाकर सुनाई। सभी लोग मुग्ध होकर सुनते रहे। उस छोटे होटल में कुछ देर के लिए खानसामे प्लेट उठाना भूल गए। कविता समाप्त होने पर निराला जी ने विजय-गर्व से मुस्कराते हुए कहा—"देखो! कितनी सुंदर कविता थी", मानो पंत जी ने उन्हीं की कविता सुनाई हो। फिर कोमलकांत पदावली के कवि को सहेजकर वहाँ से चल दिए, मानो ज्यादा ठहरने से किसी की नजर लग जाएगी।

एक बार स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद लखनऊ पधारे थे। निराला जी उनसे ऐसे सम्मान के साथ बातें करते थे मानो बड़ा भाई आ गया हो और उन्हें अपने को विशेष संयत रखना पड़ता हो। शाम को एक स्थान पर प्रसाद जी का कविता पाठ हुआ।

लौटते हुए पूछा—"कैसा लगा कविता पाठ ?" उनके स्वर में ऐसी आतुरता थी, मानो हिन्दी कविता का भविष्य सुननेवालों की प्रशंसा पर ही निर्भर था और जब प्रसाद जी की मृदुता और सरसता की तारीफ सुन ली तो बोले—"हाँ, प्रसाद जी बहुत सुंदर पढ़ते हैं।" और घर लौटने तक वे उसी तरह प्रसन्न बने रहे।

साहित्यकारों का वे सम्मान करते थे। साहित्य-प्रेमियों से जी खोलकर मिलते थे। लेकिन धन और वैभव का सम्मान करना उन्होंने न सीखा था। एक राजा साहब लखनऊ आए थे। उनके सम्मान में गोष्ठी हुई। सभी साहित्यकार एकत्र हुए। राजा साहब के आते ही सब लोग खड़े हुए, केवल निराला जी बैठे रहे। राजा साहब के भूत-पूर्व दीवान लोगों का परिचय कराने लगे—'गरीब परवर! ये अमुक साहित्यकार हैं।' जब वे निराला जी तक पहुँचे तब महाकवि उठकर खड़े हो गए और भूतपूर्व दीवान को 'गरीब परपर' से आगे बढ़ने का मौका न देकर बोल उठे—'हम वो हैं जिनके दादा के दादा के दादा की पालकी आपके दादा के दादा के दादा ने उठाई थी।' यानी भूषण की पालकी छत्रसाल ने उठाई थी। भूषण के वंशज हुए निराला जी और छत्रसाल के वंशज हुए राजा साहब।

इसके विपरीत, एक दिन मैंने देखा कि निराला जी के यहाँ एक किसान जैसा लगने वाला आदमी बैठा है और वे उससे प्रेम से अवधी में बातें कर रहे हैं। वह आदमी कुछ अजीब ढंग से गांधी टोपी लगाए था। चेहरा सूखा-साखा, ओठों पर घनी बेतरतीब मूँछें फैली हुई। बातचीत में देहाती और देखने में भी देहाती। निराला जी ने बड़े सम्मान से उस व्यक्ति का परिचय कराया—ये हैं हिन्दी के बहुत बड़े कवि, लेखक और कहानीकार बलभद्र दीक्षित पढ़ीस। पढ़ीस जी अवधी के सुंदर कवि थे। यद्यपि उन्हें उस समय बहुत कम लोग जानते थे, फिर भी निराला जी उनके बारे में ऐसे बातें करते थे, मानो वे भारत-विख्यात महाकवि बन चुके हों। नई पीढ़ी के लेखकों पर तो उनकी विशेष कृपा रहती थी। उन्हें प्रोत्साहन देने में निराला जी की अपनी टेकनीक थी।

जिस पर विशेष प्रसन्न हुए उसे कालिका भंडार में रसगुल्ले खिलाने जा पहुँचते। फसल पर आमों और खरबूजों से सत्कार करते थे।

अपनी प्रशंसा सुनकर सभी कवियों को प्रसन्नता होती है, निराला जी को भी होती थी। कभी कोई कविता सुनाकर, यदि श्रोता से उन्होंने इतना ही सुना—'बहुत अच्छी है' तो अक्सर पूछ बैठते थे—"बहुत धीरे से कहा, बहुत अच्छी है, क्या बहुत अच्छी नहीं है ?"

लेकिन कभी-कभी मुँहदेखी कहे जाने पर बिगड़ उठते थे। एक सज्जन जो कविता कम समझते थे, निराला जी के रूप की प्रशंसा करते हुए बोले—"क्या सुंदर विशाल नेत्र हैं।"

कवि ने तुरंत उत्तर दिया—"जी हाँ, बैल जैसे।"

फिर उन महाशय ने कभी तारीफ न की। बहस करने में उन्हें विशेष आनंद आता था। उनसे बहस में बाज़ी मार ले जाना असंभव था। साम, दाम, दंड, भेद सभी अस्त्रों से काम लेते थे। और नहीं तो अपने सहज उदास स्वर में ही विरोधी के तर्कों को डुबा देते थे, या बीच में इतने ज़ोर से हँसते थे कि विरोधी हक्का-बक्का होकर तर्कों को भूल जाता था। बातें करने का ढंग बड़ा ही नाटकीय होता था। कविताओं के विपरीत, अपनी कहानियों की विषयवस्तु की चर्चा लिखने से पहले ही किया करते थे। इसी तरह 'कुल्ली भाट' नाम की पुस्तक में उन्होंने अपनी ससुराल यात्रा का वर्णन किया है, उसे नाटकीय ढंग से अक्सर सुनाया करते थे। किस ढंग से उन्होंने धोती बाँधी, कुल्ली ने उन्हें किस तरह स्नेह दृष्टि से देखा, किला देखकर लौटने पर सासु जी कैसे परेशान हुईं, इन सब का अकेले ही अभिनय करके वे रंगमंच के अभिनेताओं को मात कर देते थे। जिस होटल में पंत जी ने कविता सुनाई थी, एक दिन वहाँ खड़े होकर वे किसी कुश्ती का वर्णन कर रहे थे। 'ना''ना' करने पर भी एक श्रोता को पकड़कर उन्होंने ऐसा झोंका दिया कि बेचारा दरवाजा न पकड़ लेता तो सड़क पर ही

जा गिरता । हर चीज का सक्रिय प्रदर्शन ही उन्हें पसंद था।

उनके लड़के का विवाह था। हजरतगंज की एक कोठी में आयोजन था। दो साहित्यकारों में वाद-विवाद करते हुए कुछ कहा-सुनी हो गई। कुछ सक्रिय हाथापाई की नौबत आ पहुँची कि निराला जी शोर सुनकर बाहर आ गए। उनकी गंभीर आवाज़ 'क्या बात है' सुनते ही सन्नाटा छा गया, जैसे कोई नटखट बच्चों को शांत करे। उन्होंने सभी महारथियों को यथास्थान बैठा दिया। उनकी मारपीट की मैंने अनेक कहानियाँ सुनी हैं, यद्यपि दुर्भाग्य से देखी एक भी नहीं। एक बार लखनऊ में एक छोटी-सी गली में कुछ तस्वीरें बेचने वालों से झगड़ा हो गया था। अभिमन्यु की तरह घिर जाने पर वे व्यूह भेदकर सकुशल बाहर निकल आए थे। सुना है एक बार कलकत्ते में और दूसरी बार उन्नाव में उन्होंने कुछ प्रकाशकों की बेईमानी से चिढ़कर उनकी पूजा की थी। साधारणतः वे अपने व्यवहार में सरलता और भोलेपन का ही परिचय देते थे। प्रयाग के एक साहित्यकार ने उन पर व्यक्तिगत आक्षेप करते हुए लेख लिखा था। उसे उन्होंने संदेश भेजा था, "तुम्हारे लिए चमरौधा भिगो रखा है।" जब वे महाशय लखनऊ आए तो महाकवि ने केलों और संतरों से उनका सत्कार किया और तब से वे भी निराला जी के अनन्य भक्त बन गए।

बातचीत में कभी-कभी उनके अपरिचित लोग असम्मानजनक ढंग से बातें करने लगते थे। अक्सर इसका वे बुरा न मानते थे। लखनऊ के विक्टोरिया पार्क में एक दिन शाम को बैठे हुए उन्होंने एक चाटवाले को बुलाया।

"तुमने बुलाया है, क्या लोगे?" कुछ इस ढंग से वह बातें करने लगा।

मैंने उससे शिष्टता से बोलने को कहा तो निराला जी ने टोककर कहा, "यह मुझे अपना साथी समझता है, इसीलिए 'तुम' कहकर बोला। अच्छा लगता है, ऐसे ही बोलना चाहिए।"

यह उनके चरित्र की विशेषता थी कि बड़े-छोटे से एक समान मिलते थे।

एक दृश्य अच्छी तरह याद है। जब मैं के० सी० डे लेन, सुंदर बाग में रहता था, वे उधर आया करते थे। एक दिन शाम को उस गली में कुछ बच्चे कबड्डी खेल रहे थे। उन्होंने निराला जी से भी खेल में शामिल होने का आग्रह किया। बिना किसी संकोच के उन्होंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया और छोटी-छोटी मछलियों के बीच में मत्स्य के समान गली में तैरने लगे। ऐसे ही कान्यकुब्ज कालेज के मैदान में कुछ लड़कों का फुटबाल खेलना देख रहे थे कि एक बार गेंद उनके सामने आ गई। "देखो, किक यों लगाई जाती है" कहकर उन्होंने जोर से फुटबाल को दूर भेज दिया। लेकिन इस क्रिया से पुराने जूते ने मुँह फैला दिया। कुछ लज्जित होकर बोले, "अब पैर कमजोर हो गया है, पहले देखते मेरा खेल।" फिर जवानी में उनका शरीर कैसा सुडौल बना था, इसका वर्णन करने लगे।

फुटबाल, हाकी, कुश्ती—इन सभी से उन्हें प्रेम था। फुटबाल का मैच होने पर जरूर देखने जाते थे। भीड़ में साथ छूट जाता तो मैं एक ओर खड़ा होकर उनकी राह देखने लगता था। सैकड़ों नरमुंडों के ऊपर उठा हुआ उनका शीश दूर से ही देखकर पहचानने में दिक्कत न होती थी। गामा और ध्यानचंद के कौशल से प्रसन्न होकर वे उनकी तुलना रवीन्द्रनाथ ठाकुर की प्रतिभा से किया करते थे। जिन उँगलियों से वे कविताएँ लिखते थे, लोग उन्हें देखकर अक्सर अजंता की चित्रकला याद करते थे, लेकिन एक बार अंतिम बार जब उन्होंने मुझसे पंजा लड़ाया तो मुझे उनके यथार्थवादी पक्ष का ज्ञान हुआ। इन्हीं उँगलियों से बड़े कलात्मक ढंग से हथेली पर तमाखू बनाकर पटापट क्रिया के बाद उसे प्रेम से फाँकते थे। यही एक व्यसन था जो चाहने पर भी वे न छोड़ पाते थे। एक बार अभूतपूर्व संयम से चौबीस घंटे तक तमाखू को तलाक देकर फिर अधीरता से उसे वरण कर लिया। इन उँगलियों की पाक-कला पर उन्हें विशेष अभिमान था। कविता की निन्दा सुनकर वे भले ही क्षमा कर दें, उनके बनाए हुए खाने में किसी ने आपत्ति की तो उसकी कुशल नहीं। एक बार साहित्यकारों को भोजन के लिए आमंत्रित किया। साहित्यिक विवाद में सालन कुछ जल गया। दोपहर बाद

जब लोगों को भोजन मिला तो लोग निराश-से क्षुधा शांत करने लगे । "कैसा बना है ?" निराला जी प्रशंसा सुनने के लिए बार-बार पूछें, लेकिन दिल खोलकर कोई दाद न दे सका। एक सज्जन से न रहा गया । कुछ सहमे-से कुढ़ते हुए बोले, "मालूम होता है, थोड़ा जल गया है ।"

निराला जी नें उनकी शंका मिटाते हुए कहा, "कभी खाया न होगा खाना, देखो कितना सोंधा हो गया है ।"

अपनी किसी कहानी में उन्होंने लिखा है—"रहे झोपड़ियों में, ख्वाब देखा महलों का ।" महलों का ख्वाब चाहे न देखा हो, व्यवहार से महलों में रहने वालों को मात जरूर करते थे । प्रकाशक से दस-दस के पाँच नोट लेकर उनसे पंखे का काम लेते हुए सड़क पर जा रहे थे कि तंगी में दिन बितानें वाले एक साहित्यकार नें उन्हें प्रणाम किया । यद्यपि वे महोदय निराला जी की एकाध कविता की पैरोडी लिखकर उन पर व्यंग्य बाण छोड़ चुके थे, फिरभी उस समय जब प्रणाम करके नोटों की तरफ देखते हुए बोले, "गुरु जी, आजकल बड़े कष्ट में हूँ" तो निराला जी नें नोट उनकी ओर बढ़ा दिए । एक नोट लेकर वे महोदय कृतज्ञ भाव से घर चले गए । नाई से जब-तब बाल बनवाने पर उसे धोती या लिहाफ दे देना उनका स्वभाव था । किसी को भूखा-नंगा देखकर जो कुछ पास हुआ, उसे दे देना उनके लिए साधारण बात थी । इसीलिए पैसों के अलावा उन्हें कभी-कभी कपड़ों-लत्तों का अभाव भी रहता था । इनके एक परिचित मित्र ने अपने यहाँ कवि -सम्मेलन में बुलाया । खूब स्वागत सम्मान करने की बात भी लिखी । निराला जी ने पत्र पढ़कर कहा, "सम्मान लेकर चाटें ! पेशगी रुपए भेजे नहीं । कपड़े कैसे बनवाएँ ?" नतीजा यह कि न मित्र को पेशगी रुपयों के लिए लिखा, न कवि-सम्मेलन में गए ।

अच्छी पोशाक पहनने और शरीफों की तरह कहीं जाने के बारे में उनके अपने विचार थे । वैसे अमीनाबाद में मैली तहमद बाँधे और काँधे पर कुर्ता डाले घूमते रहे, लेकिन कवि-सम्मेलन में जाना हो तो कुर्ता-धोती सब स्वच्छ होने चाहिएँ । ऐसे अवसरों

पर दाढ़ी बनवाकर चंदन के साबुन से मुँह धोना और बालों में सेंट डालना भी वे न भूलते थे।

पहनने-ओढ़ने की तरह खाने-पीने में भी उनके आचार-व्यवहार से बहुत लोग क्षुब्ध हो जाते थे। वे अपनी किसी भी कमजोरी को छिपाते न थे। अपने को साधारण आदमियों में गिनते थे। महामानव बनने और पूजा-वंदना कराने में उन्हें चिढ़ थी। उनके शरीर पर जनेऊ न देखकर एक पंडित जी ने कहा था, "महाराज, आप यज्ञोपवीत नहीं धारण करते हो ?"

निराला जी ने कुछ रोष में कहा, "गुलाम देश में सब शूद्र हैं, यहाँ ब्राह्मण कौन है ?" मानो इसीलिए उन्होंने अपने गाँव के साधारण जनों से विशेष नाता जोड़ा था। जहाँ पुराणपंथी उनसे चिढ़ते थे, गरीब किसान और अंत्यज उन पर जान देते थे। चतुरी चमार के लड़के को अपने घर पढ़ाते थे, उसे चिढ़ाने के कारण अपने पुत्र को ननिहाल भेज दिया था। लखनऊ में अपने होटल के सामने फुटपाथ पर पड़ी रहनेवाली एक पगली भिखारिन से उन्हें उसी तरह की सहानुभूति थी। इसी कारण चतुरी और उस पगली पर अपने अपूर्व रेखाचित्र लिख सके थे।

यद्यपि वे सबसे मिलते-जुलते और हँसते-बोलते थे, पर उनका मन एकांत में कहीं विषाद में डूबा रहता था। जीवन में लगातार विरोध होने से उनकी चेतना में कहीं क्षोभ का घुन लग चुका था। रात में सोते-से अक्सर जग जाते थे और घंटों छत पर या बरामदे में टहला करते थे। उस समय उनका मन किस दुख-सागर में डूबा रहता था, इसे उनके सिवाय कोई नहीं जानता। अपनी कन्या सरोज की मृत्यु से उन्हें गहरा धक्का लगा था। जिस समय उन्हें समाचार मिला, वे अपनी समस्त वेदना हृदय में दबाने का प्रयास करते हुए कमरे में टहलते रहे। कुछ देर बाद बाहर घूमने चले गए। दुख के इस हृदय-मंथन से उन्होंने जो अमृत निकाला, वह उनकी अमर कविता 'सरोज-स्मृति' थी। एक बार उन्हें डलमऊ में गंगा के किनारे ऐसे ही भावावेश में देखा था। उनकी पत्नी की चिता कहाँ जली थी, उन्हें याद था। कितनी रातों को वे अकेले वहाँ

घूमे थे, यह भी उन्हें याद था। प्रथम महायुद्ध के बाद इंफ्लुएंजा से किस मोड़ पर लाशों के कारण गंगा का प्रवाह रुक गया था, यह भी उन्हें याद था। उन्होंने अपना दुख नहीं झेला, दूसरों के दुख से वे और भी व्यथित हुए हैं। इस व्यथा ने उन्हें जर्जर कर दिया था। फिर भी अपने से अधिक दूसरों की व्यथा से पीड़ित होकर उन्होंने अपनी अस्वस्थता के दिनों में भी लिखा है—"माँ अपने आलोक निखारो, नर को नरक-वास से वारो..."

निराला जी हिन्दी-प्रेमियों के हृदय सम्राट थे। जितने बड़े वे साहित्यकार थे उससे भी बड़े वे मनुष्य थे। छोटों का सम्मान करना उनके इस बड़प्पन की सबसे बड़ी विशेषता थी।

—रामविलास शर्मा

प्रश्न-अभ्यास

१. निराला जी के सर्जनात्मक लेखन का सबसे उत्तम काल क्या था? उस काल की प्रमुख रचनाओं के नाम लिखिए।

२. निराला जी की कविता-रचना और कथा-साहित्य की लेखन-प्रक्रिया में क्या अंतर लेखक ने बताया है?

३. इस पाठ के आधार पर निराला जी की कुछ ऐसी विशेषताएँ बताइए, जो आम लोगों में नहीं पाई जातीं।

४. निराला जी की किन विशेषताओं के कारण लोग उन्हें 'महाप्राण' या 'महामानव' कहते हैं?

५. इस पाठ से उन अंशों को चुनिए जिनसे पता चलता हो कि निराला जी का जीवन काफी संघर्षमय रहा है।

६. निराला जी के निम्नलिखित गुणों के एक-एक उदाहरण दीजिए :

स्वाभिमानी, कृपालु, विनोद-प्रिय, बहुमुखी प्रतिभाशाली, विनम्र, परोपकारी, दयालु, स्नेही और शौकीन-तबियत।

७. निराला जी से कुछ लोगों की ग्राम शिकायतें क्या थीं? लेखक ने उनका क्या कारण बताया है?

८. निराला जी के रहन-सहन पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

९. लेखक निराला जी के काफ़ी निकट था, इसका संकेत जहाँ-जहाँ से मिलता हो उन घटनाओं का उल्लेख कीजिए।

१०. निराला जी अपनी किस बात की तारीफ़ सुनना विशेष पसंद करते थे? अपनी तारीफ़ सुनने की मानव की अभिलाषा को आप कैसा समझते हैं?

११. निराला जी में बच्चों जैसी सरलता थी। इस कथन के समर्थन में उनके जीवन की कुछ घटनाओं का उल्लेख कीजिए।

११. इस पाठ से उर्दू-फारसी के शब्दों का चयन कीजिए और उनका संस्कृत पर्याय दीजिए। साथ ही बताइए कि दोनों में से स्थान विशेष पर किस का सटीक प्रयोग होगा?

१३. 'महामानव' के आधार पर संस्मरण विधा की कुछ विशेषताएँ बताइए।

१४. इस पाठ में मानो का कई बार प्रयोग हुआ है। मानो वाले वाक्यों को बदलकर लिखिए।

मोहन राकेश

मोहन राकेश का जन्म ८ जनवरी १९२५ ई० को अमृतसर में हुआ था। आपका पूरा नाम मदन मोहन गुगलानी था, किन्तु साहित्य जगत में आप मोहन राकेश के नाम से प्रसिद्ध थे। आपने हिन्दी एवं संस्कृत में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रारंभ में कुछ दिनों तक आपने प्राध्यापक एवं संपादक के रूप में कार्य किया किन्तु १९६२ से आपने लेखन को ही अपने जीवन का आधार बनाया। आपकी पहली कहानी 'दोराहा' 'सरिता' नामक पत्रिका में १९४७ में प्रकाशित हुई थी। आप नाटककार, कथाकार एवं निबंधकार के रूप में काफी प्रसिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त आपने स्वदेश एवं विदेश दोनों का काफी भ्रमण किया और कई यात्रा-वृत्तांत लिखे हैं। यों आपने कथा-साहित्य में भी नवयुग के शुभारंभ में योगदान दिया, किन्तु नाटक के क्षेत्र में आपकी देन अनूठी है। अभी आप प्रौढ़ भी नहीं हुए थे कि एकाएक आपका स्वर्गवास ३ दिसंबर १९७२ को हृदयगति रुकने से हो गया। आपके निधन से हिन्दी-साहित्य की विशेषकर नाटक-साहित्य की अपूरणीय क्षति हुई।

१९५९ में *'आषाढ़ का एक दिन'* पर संगीत नाटक अकादमी का *'सर्वोत्कृष्ट नाटक'* पुरस्कार प्रदान किया गया। १९७१ में अकादमी से ही 'नाट्य लेखन' पुरस्कार भी मिला। आपकी कई रचनाएँ फिल्माई भी जा चुकी हैं जिनमें 'आषाढ़ का एक दिन', 'उसकी रोटी' और 'आधे अधूरे' विशेष उल्लेखनीय हैं।

आपकी प्रमुख रचनाएँ हैं :—इंसान के खंडहर, नए बादल, जानवर और जानवर, एक और जिन्दगी (कहानी संग्रह); अंधेरे बंद कमरे, न आने वाला कल, अंतराल (उपन्यास); आषाढ़ का एक दिन, लहरों के राजहंस, आधे अधूरे (नाटक); अंडे के छिलके (एकांकी)।

'विज्ञापन-युग' एक व्यंग्य निबंध है जिसमें आपने आधुनिक युग की विज्ञापनवृत्ति पर करारा व्यंग्य किया है। इस निबंध का कथ्य हिन्दी में अभी तक अछूता था, किन्तु आपकी समर्थ लेखनी द्वारा इसका बहुत विशद, सजीव एवं मूर्त चित्रण हुआ है। यह पाठ काफी रोचक बन पड़ा है जिसका मुख्य कारण है, लेखक के सूक्ष्म निरीक्षण, तीव्र अनुभव एवं अभिनव चिन्तन को सही अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाली भाषा का भरपूर सहयोग।

विज्ञापन-युग

मेरे पड़ोसियों की मुझपर ऐसी कृपा है कि रात को सोने तक और सुबह उठने के साथ ही मुझे गज़लें, भजन और गीत और उनके साथ-साथ चाय, तेल और सिर-दर्द की टिकियों के विज्ञापन सुनने पड़ते हैं। अब तो मुझे ये विज्ञापन सुनने की ऐसी आदत हो गई है कि अन्यत्र भी कहीं मैं गालिब की गज़ल सुनता हूँ, या सूरदास का भजन सुनता हूँ, या कोई अच्छा-सा गीत सुनता हूँ, तो साथ मेरे दिमाग में अपने-आप ये शब्द गूंजने लगते हैं—क्या आपके सिर में दर्द रहता है? सिर-दर्द से छुटकारा पाइए। ···की एक गोली लीजिए—सिर-दर्द गायब।

परिणाम यह है कि अब मेरे लिए कोई गज़ल गज़ल नहीं रही, कोई गीत गीत नहीं रहा, सब किसी-न-किसी चीज़ का विज्ञापन बन गए हैं। दिन-भर ये गीत और विज्ञापन मेरा पीछा करते रहते हैं। पहले बहुत मीठे गले से 'रहना नहिं देश बिराना है' की लय और उसके तुरंत बाद—क्या आपके शरीर में खुजली होती है? खुजली का नाश करने के लिए एक ही रामबाण औषधि है···! कर लें भगत कबीर क्या करते हैं? खुजली कंपनी उनकी जिस रचना पर चाहे अपनी मोहर चस्पाँ कर सकती है।

और बात गीतों-गज़लों तक ही सीमित नहीं है। मुझे लगता है कि मेरे चारों ओर हर चीज़ का एक नया मूल्य उभर रहा है, जो उस के आजतक के मूल्य से सर्वथा भिन्न है और जो उसके रूप को मेरे लिए बिलकुल बदले दे रहा है। कोई चीज़ ऐसी नहीं जो किसी-न-किसी रूप में किसी-न-किसी चीज़ का विज्ञापन न हो। अजंता के चित्र और एलोरा की मूर्तियाँ कभी अछूती कला का उदाहरण रही होंगी, परंतु आज उस कला को एक नई सार्थकता प्राप्त हो गई है। उन मूर्तियों का केश-सौन्दर्य आज

मुझे एक तेल की शीशी की याद दिलाता है, उनकी आँखें एक फार्मेसी का विज्ञापन प्रतीत होती हैं, और उनका समूचा कलेवर एक पेट्रोल कंपनी की कलाभिरुचि को प्रमाणित करता है। जिन हाथों ने उन कलाकृतियों का निर्माण किया था, वे हाथ भी आज एक बिस्कुट कंपनी की विकास-योजना के विज्ञापन के रूप में सार्थक हो रहे हैं।

देश के कोने-कोने में बिखरे हुए जितने मंदिर हैं, जितने पुराने किले और खंड-हर हैं, जितने स्तंभ और स्मारक हैं, वे सब इसीलिए हैं कि लोगों में यातायात की रुचि जाग्रत हो, पर्यटन-व्यवसाय को प्रोत्साहन मिले, विदेश से लोग आकर उनकी तसवीरें लें और अपनी प्रियतमाओं के पास भेजें। मीनाक्षी और रामेश्वरम् के शिखर और खजुराहो के कक्ष इस दृष्टि से भी उपयोगी हैं कि वे एक विशेष ब्रांड के सीमेंट की मजबूती को व्यक्त करने के प्रतीक बन सकें। कश्मीर की सारी पार्वत्य सुषमा, वहाँ की नव-युवतियों का भाव-सौन्दर्य और वहाँ के कारीगरों की दिन-रात की मेहनत, ये सब इस बात को विज्ञापित करने के लिए हैं कि सफेद रंग का वह शहद जो बंद डिब्बों में मिलता है, सबसे अच्छा शहद है। बर्नार्ड शा के नाटक हमें यह बताने के लिए छापे जाते हैं कि ब्रिटेन के किस प्रेस में छपाई सबसे अच्छी होती है, प्रशांत सागर में अणु-बम हमें इस बात की चेतावनी देने के लिए गिराए जाते हैं कि जब तक हम अपने लिए जीवन बीमे की पालिसी न ले लें तब तक हमारे बच्चों का भविष्य सुरक्षित नहीं है, और भारत और पाकिस्तान में कश्मीर के लिए लड़ाई सिर्फ इसलिए होती है कि वहाँ के सेबों का मुरब्बा बहुत अच्छा होता है, जिसे सिर्फ एक ही कंपनी तैयार करती है······!

विधना ने इतनी बारीकबीनी से यह जो धरती बनाई है, और मनुष्य ने विज्ञान के आश्रय से उसमें जो चार चाँद लगाए हैं, वे इसलिए कि विज्ञापन-कला के लिए उपयुक्त भूमि प्रस्तुत की जा सके। उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक कोई कोना ऐसा न बचा होगा जिसका किसी-न-किसी चीज़ के विज्ञापन के लिए उपयोग न किया जा रहा हो। हर चीज, हर जगह अपने अलावा किसी भी चीज और किसी भी जगह का

विज्ञापन हो सकती है। गेहूँ की फसल एक कपड़े की मिल का विज्ञापन है, क्योंकि नई फसल से प्राप्त हुए नए पैसे का एक ही उपयोग है कि उससे कपड़ा खरीदा जाए। कपड़े की मिल डबल रोटी की बेकरी का विज्ञापन है, क्योंकि मिल में काम करनेवाले तभी काम पर जा सकते हैं जब वे डबल रोटी खा चुकें। और बेकरी वाटर प्रूफ़ जूतों का विज्ञापन है, क्योंकि जब तक वाटर प्रूफ़ जूते न होंगे, तब तक बारिश में इनसान डबल रोटी-जैसी साधारण चीज भी प्राप्त नहीं कर सकता। बहुत-सी चीजें एक-दूसरी का विज्ञापन हैं। फूल इत्र की शीशी का विज्ञापन है, इत्र की शीशी फूलों का विज्ञापन है। पत्र लेखक का विज्ञापन है, लेखक पत्र का विज्ञापन है। सौन्दर्य श्रृंगार-प्रसाधनों का विज्ञापन है, और श्रृंगार-प्रसाधन सौन्दर्य के विज्ञापन हैं। बहुत-सी चीजें स्वयं अपना विज्ञापन हैं—जैसे उपदेशकता, आलोचकता, नेतागीरी इत्यादि।

मतलब यह कि जहाँ जाएँ, जिधर जाएँ, जहाँ रहें, जैसे रहें, इन विज्ञापनों की लपेट से नहीं बच सकते। घर में बंद होकर बैठ जाएँ तो विज्ञापन रोशनदानों के रास्ते हवा में तैरते आते हैं—क्या आज आपने दाँत साफ किए हैं? सवेरे उठते ही सबसे पहले क्लोरोफिल वाले टूथपेस्ट से दाँत साफ कीजिए। याद रखिए दाँतों को रोगों से बचाने के लिए यही एक साधन है। ······घर से निकलें, तो हर दोराहे, चौराहे और सड़क के खंभे पर विज्ञापन—खतरे से सावधान, धोखे से बचिए—इसके पढ़ने से बहुतों का भला होगा—! अखबार उठाएँ, विज्ञापन। पुस्तक उठाएँ, विज्ञापन। बस में बैठें, विज्ञापन। क्या आपका दिल कमज़ोर है? क्या आपका जिस्म टूटता रहता है? क्या आपके सिर के बाल झड़ रहे हैं? क्या आपके घर में झगड़ा रहता है? गोया कि आपकी व्यक्तिगत ज़िन्दगी बिलकुल व्यक्तिगत नहीं है—उसे केवल इन विज्ञापनदाताओं के परामर्श से ही जिया जा सकता है।

विज्ञापन-कला जिस तेज़ी से उन्नति कर रही है, उससे मुझे भविष्य के लिए और भी अंदेशा है। लगता है, ऐसा युग आने वाला है जब शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति

और साहित्य, इनका केवल विज्ञापन-कला के लिए ही उपयोग रह जाएगा। वैसे तो आज भी इस कला के लिए इनका खासा उपयोग होता है। बहुत-सी शिक्षण-संस्थाएँ हैं जो सांप्रदायिक संस्थाओं का विज्ञापन हैं। कई कला-केन्द्र कुछ स्वनामधन्य लोगों की दानवीरता का विज्ञापन हैं। अपनी पीढ़ी के कई लेखकों की कृतियाँ लाला छगनलाल मगन लाल या इसी तरह के नाम के किसी और लाला की स्मारक-निधि से प्रकाशित होकर लालाजी की दिवंगत आत्मा के प्रति स्मारक होने का फर्ज़ अदा कर रही हैं। मगर आनेवाले युग में यह कला, दो कदम और आगे बढ़ जाएगी। विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय के दीक्षांत महोत्सव पर जो डिग्रियाँ दी जाएँगी, उनके निचले कोने में छपा रहेगा—"आपकी शिक्षा के उपयोग का एक ही मार्ग है। आज ही आयात-निर्यात का धंधा प्रारंभ कीजिए। मुफ्त सूची-पत्र के लिए लिखिए···" हर नए आविष्कारक का चेहरा मुसकराता हुआ टेलीविज़न पर आकर कुछ इस तरह निवेदन करेगा—"मुझे यह कहते हुए हार्दिक प्रसन्नता है कि मेरे प्रयत्न की सफलता का सारा श्रेय रबड़ के टायर बनाने वाली कंपनी को है, क्योंकि उन्हीं के प्रोत्साहन और प्रेरणा से मैंने इस दिशा में कदम बढ़ाया था···" विष्णु के मंदिर खड़े होंगे, जिनमें संगमरमर की सुंदर प्रतिमा के नीचे पट्टी लगी होगी—"याद रखिए, इस मूर्ति और इस भवन के निर्माण का श्रेय लाल हाथी के निशान वाले निर्माताओं को है। वास्तुकला संबंधी अपनी सभी आवश्यकताओं के लिए लाल हाथी का निशान कभी मत भूलिए।" और ऐसे-ऐसे उपन्यास हाथ में आया करेंगे जिनकी सुंदर चमड़े की जिल्द पर एक ओर बारीक अक्षरों में छपा होगा— "साहित्य में अभिरुचि रखने वालों को इक्का मार्का साबुन बनाने वालों की एक और तुच्छ भेंट !" और बात बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक पहुँच जाएगी कि जब एक दूल्हा बड़े अरमान से दुलहिन ब्याहकर घर लाएगा और घूंघट हटाकर उसके रूप की प्रशंसा में पहला वाक्य कहेगा, तो दुलहिन मधुर भाव से आँख उठाकर हृदय का सारा दुलार शब्दों में उँड़ेलती हुई कहेगी—"बताऊँ, मैं इतनी सुंदर क्यों दिखाई

देती हूँ ? यह इसलिए कि मैं रोज प्रातः उठकर नौ सौ इक्यावन नंबर के साबुन से नहाती हूँ। कल से आप भी घर में नौ सौ इक्यावन नंबर का साबुन रखिए। इसकी सुमधुर गंध सारा दिन दिमाग को ताज़ा रखती है और इसके मुलायम झाग से त्वचा बहुत कोमल रहती है। इसकी बड़ी टिकिया खरीदने से पैसे की भी किफ़ायत होती है।"

जहाँ तक विज्ञापन के लिए जगह का सवाल है, बहुत-सी जगहें हैं जिनका अभी तक उपयोग नहीं किया जा सका है। विज्ञापन-कला की दृष्टि से सब चीज़ों का आपस में अन्योन्याश्रित संबंध है, इसलिए दवाई की शीशियों में मक्खन के डिब्बों के विज्ञापन होने चाहिए और मक्खन के डिब्बों में दवाई की शीशियों के। चित्र-गैलरियों में चित्रों के अतिरिक्त तेल के इश्तहार टाँगे जाने चाहिए और तेल की बोतलों पर चित्रकला प्रदर्शनियों की सूचनाएँ चिपकाई जानी चाहिए। कंबलों और दुशालों में चाय और कोको के इश्तहार बुने जा सकते हैं। नमदे और गलीचे रबड़सोल के जूतों के विज्ञापन का आदर्श साधन हो सकते हैं। बैंकों की दीवारों पर लाटरी और रेस-कोर्स के विज्ञापन लिखे जा सकते हैं। रेस-कोर्स में बचत की स्कीमों का विज्ञापन दिया जा सकता है। रेल और हवाई जहाज के टिकटों पर बीमा कंपनियों का विज्ञापन हो सकता है, और अस्पतालों की दीवारों पर वैवाहिक विज्ञापन लगाए जा सकते हैं।

यह तो आनेवाले कल की बात है, पर आज भी स्थिति यह है कि मुझे हर जगह विज्ञापन-ही-विज्ञापन दिखाई देता है, जहाँ विज्ञापन हो वहाँ भी, और जहाँ न हो वहाँ भी। मेरा दिमाग हर चेहरे, हर आवाज़ और हर नाम का संबंध किसी-न-किसी विज्ञापन के साथ जोड़ देता है! सुबह उठकर सामने की दुकान के लड़के को चाय लाने के लिए कहता हूँ, तो चाय का नाम लेते ही मुझे नीलगिरि की सुंदरी का ध्यान हो आता है जिसका चेहरा मैं रोज अखबार में देखता हूँ। नीलगिरि के नाम से मुझे तुरंत काफी-प्रदेश की ढलानें याद आ जाती हैं। साथ ही एक बुड्ढे राजपूत का चेहरा मेरी आँखों के सामने उभरने लगता है और मैं अनायास अपने को बुदबुदाते पाता

हूँ— "यह अच्छी काफी और यह अच्छा चेहरा दोनों भारतीय हैं।"

खैर, लड़का दो मिनिट में चाय की प्याली लेकर मुसकराता हुआ मेरे सामने आ खड़ा होता है। उसके अधखुले होठों के बीच उसके पतले सफ़ेद दाँतों को देखकर मुझे लगता है कि वह विशुद्ध क्लोरोफिल मुसकराहट मुसकरा रहा है। अमरीकी मुहावरे में इसे मिलियन डालर स्माइल कहते हैं। और वह लड़का है कि रोज़ छह पैसे की चाय मुझे पकड़ाता हुआ यह मिलियन डालर की मुसकराहट मुसकरा जाता है। मेरी कई बार इच्छा होती है कि लड़के को किसी क्लोरोफिल कंपनी के हवाले कर दूं, जिससे उसकी मुसकराहट का सही मूल्य दुनिया के सामने आ सके। और, जब मैं यह सोच रहा होता हूँ, तो ईथर में तैरती हुई स्त्रीकंठ की सुमधुर आवाज़ सुनाई देती है— "क्या आपका लिवर ठीक काम नहीं करता? अपना लिवर ठीक रखने के लिए आज से ही लिवर-इमल्शन लीजिए……!"

मुझे ठीक मालूम नहीं कि मेरा लिवर ठीक काम करता है या नहीं, पर मैं किसी बच्चे को किलकारी मारकर हँसते देखता हूँ, तो मुझे लाल डिब्बे में बंद बेबी मिल्क की याद हो आती है, किसी सुंदर दृश्य को देखता हूँ तो उनतीस रुपए वाला कैमरा मेरी आँखों के आगे घूमने लगता है। विवाह-मंडप के पास खड़े होकर मुझे राष्ट्रीय बचत प्रमाणपत्र की याद ज़रूर आती है। मोहल्ले के लाल चौधरी मिलने आते हैं, तो मुझे लगता है कि विटामिन बी कंप्लेक्स का विज्ञापन चला आ रहा है। दफ्तर की नई टाइपिस्ट रोज़ी का समूचा व्यक्तित्व मुझे लाल रंग की लिपिस्टिक का विज्ञापन प्रतीत होता है और किसी से कहिएगा नहीं, पर हालत यहाँ तक पहुँच गई है कि अब मैं खुद आईने के सामने खड़ा होता हूँ, तो लगता है कि अपना चेहरा नहीं लिवर साल्ट का विज्ञापन देख रहा हूँ।

—मोहन राकेश

प्रश्न-अभ्यास

१. "मेरे पड़ोसियों की मुझ पर ऐसी कृपा है कि रात को सोने तक और सुबह उठने के साथ ही मुझे गजलें, भजन और गीत और उनके साथ-साथ चाय, तेल और सिर-दर्द की टिकियों के विज्ञापन सुनने पड़ते हैं।" इस वाक्य से पड़ोसियों के प्रति लेखक की कौन-सी भावना प्रतिध्वनित होती है ?

(क) प्यार (ख) कृतज्ञता (ग) व्यंग्य (घ) उपालंभ (ङ) घृणा।

२. लेखक इस निष्कर्ष पर कैसे पहुँचा कि 'मेरे चारों ओर हर चीज का एक नया मूल्य उभर रहा है' ? उसने जिन वस्तुओं के नाम गिनाए हैं उनका मूल्य आज किस प्रकार बदल गया है ?

३. "विधना ने इतनी बारीकबीनी से यह जो धरती बनाई है, और मनुष्य ने विज्ञान के आश्रय से उसमें जो चार चाँद लगाए हैं ये इसीलिए कि विज्ञापन-कला के लिए उपयुक्त भूमि प्रस्तुत की जा सके।" इस कथन का आशय स्पष्ट कीजिए।

४. "हर चीज, हर जगह अपने अलावा किसी भी चीज और किसी भी जगह का विज्ञापन हो सकती है।" कैसे ? कुछ उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

५. विज्ञापन-कला पर एक अनुच्छेद लिखिए।

६. "गोया कि आपकी व्यक्तिगत जिन्दगी बिलकुल व्यक्तिगत नहीं है—उसे केवल इन विज्ञापन दाताओं के परामर्श से ही जिया जा सकता है।" इस वाक्य में लेखक की कौन-सी मनोभावना व्यक्त हुई है ?

(क) परेशानी (ख) प्रशंसा (ग) प्रसन्नता (घ) खीझ (ङ) व्यंग्य

७. विज्ञापन-कला की तीव्र उन्नति से लेखक को क्या अंदेशा है ?

८. लेखक ने किन-किन जगहों का उल्लेख किया है जिनका अभी तक विज्ञापन के लिए उपयोग नहीं किया जा सका है ? उसके पीछे निहित उसकी भावना को भी स्पष्ट कीजिए।

९. जहाँ विज्ञापन नहीं भी है, वहाँ भी लेखक को विज्ञापन क्यों दिखाई पड़ता है ? अपने इस कथन के समर्थन में लेखक ने क्या-क्या उदाहरण दिए हैं ?

१० लेखक ने व्यंग्य करने के लिए किस प्रकार के शब्दों और अभिव्यक्तियों का सहारा लिया है ? आप किन युक्तियों से उन्हें समझ जाते हैं ?

११. व्यंग्य निबंध के रूप में इसकी समीक्षा कीजिए।

रामचंद्र शुक्ल

आचार्य शुक्ल का जन्म बस्ती जिले (उत्तर प्रदेश) के अगौना ग्राम में सन् १८८४ ई० में हुआ था और आपकी मृत्यु सन् १९४० ई० में वाराणसी में हुई। आपकी प्रारंभिक शिक्षा उर्दू और अंगरेजी में हुई थी। विधिवत् शिक्षा आप केवल इंटरमीडिएट तक ग्रहण कर सके। प्रारंभ में कुछ वर्षों तक आपने मिर्जापुर के मिशन स्कूल में अध्यापन-कार्य किया। बाद में बाबू श्यामसुंदरदास ने आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर हिन्दी-शब्दसागर के संपादन में आपको अपना सहयोगी बनाया। फिर आप हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के हिन्दी-विभाग में अध्यापक नियुक्त हुए और बाबू श्यामसुंदरदास के अवकाश ग्रहण करने पर हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हो गए।

स्वाध्याय द्वारा आपने संस्कृत, अंगरेजी, बंगला और हिन्दी के प्राचीन साहित्य का गंभीर अध्ययन किया। हिन्दी-साहित्य में आपका प्रवेश कवि और निबंधकार के रूप में हुआ और आपने बंगला तथा अंगरेजी से कुछ सफल अनुवाद भी किए। आगे चलकर आलोचना आपका मुख्य विषय बन गई। आपके कुछ प्रसिद्ध ग्रंथ इस प्रकार हैं :

(१) तुलसीदास, (२) जायसी ग्रंथावली की भूमिका, (३) सूरदास, (४) चिन्तामणि (१-२ भाग), (५) हिन्दी साहित्य का इतिहास, (६) रसमीमांसा।

शुक्ल जी हिन्दी के युगप्रवर्तक आलोचक हैं। आपके 'तुलसीदास' ग्रंथ से हिन्दी में प्रौढ़ आलोचना-पद्धति का सूत्रपात हुआ। शुक्ल जी ने जहाँ एक ओर आलोचना के शास्त्रीय पक्ष का विशद विवेचन किया वहाँ दूसरी ओर तुलसी, जायसी तथा सूर की मार्मिक आलोचनाओं द्वारा व्यावहारिक आलोचना का भी मार्ग प्रशस्त किया।

निबंध के क्षेत्र में भी शुक्ल जी का स्थान अप्रतिम है। 'चिन्तामणि' में संगृहीत मनोवैज्ञानिक निबंध हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इन निबंधों में गंभीर चिन्तन, सूक्ष्म निरीक्षण और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सुंदर संयोग है। आपकी भाषा प्रांजल और शैली सामाजिक है। गंभीर प्रतिपादन के समय भी आप हास्य का पुट देते चलते हैं।

—'लोभ और प्रीति' आचार्य शुक्ल के निबंध-संग्रह 'चिन्तामणि' भाग—१ से संगृहीत है जिसमें मुख्यतया मनोभावों का बड़ा ही तार्किक किन्तु सहृदय वर्णन प्रस्तुत किया गया है। लोभ को परिभाषित करने के बाद इसमें और प्रीति में संबंध स्थापित किया गया है। संपूर्ण विवेचना तार्किक है, किन्तु तर्कों के समर्थन में जो उदाहरण दिए गए हैं वे दैनिक जीवन से लिए जाने के कारण अत्यंत जीवंत हैं। इस प्रकार 'लोभ और प्रीति' विचारात्मक निबंध होते हुए भी वैयक्तिक शैली की कतिपय विशेषताओं से ओत-प्रोत है। ये विशेषताएँ पाठ को रोचक एवं ग्राह्य बना देती हैं।

लोभ और प्रीति

किसी प्रकार का सुख या आनंद देनेवाली वस्तु के संबंध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति, सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं। दूसरे की वस्तु का लोभ करके उसे लोग लेना चाहते हैं, अपनी वस्तु का लोभ करके उसे लोग देना या नष्ट होने देना नहीं चाहते। प्राप्य या प्राप्त सुख के अभाव या अभाव-कल्पना के बिना लोभ की अभिव्यक्ति नहीं होती। अत: इसके सुखात्मक और दुखात्मक दोनों पक्ष हैं। जब लोभ अप्राप्त के लिए होता है तब तो दुख स्पष्ट ही रहता है। प्राप्त के संबंध में दुख का अंग निहित रहता है और अभाव के निश्चय या आशंका मात्र पर व्यक्त हो जाता है। कोई सुखद वस्तु पास में रहने पर भी मन में इस इच्छा का बीज रहता है कि उसका अभाव न हो। पर, अभाव का जब तक ध्यान नहीं होता तब तक इस वासना का कहीं पता नहीं रहता। हम बैठे-बैठे किसी वस्तु का आनंद ले रहे हैं, उस आनंद के अभाव से जो दुख होगा उसका कुछ भी ध्यान हमारे मन में नहीं है। इसी बीच में कोई आकर उस वस्तु को ले जाना चाहता है, तब हम उससे कुछ व्यग्र होकर कहते हैं 'अभी रहने दो।' इसके पहले कोरे आनंद के अनुभव में इच्छा का कहीं पता न था कि वह वस्तु हटाई न जाए।

विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। जहाँ लोभ सामान्य या जाति के प्रति होता है वहाँ वह लोभ ही रहता है, जहाँ पर किसी जाति के एक ही विशेष व्यक्ति के प्रति होता है वहाँ 'रुचि' या 'प्रीति' का पद प्राप्त करता है। लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख। कहीं कोई अच्छी चीज़ सुनकर दौड़ पड़ना लोभ है। किसी विशेष वस्तु

पर इस प्रकार मुग्ध रहना कि उससे कितनी अच्छी-अच्छी वस्तुओं के सामने आने पर भी उस विशेष वस्तु से प्रवृत्ति न हटे, रुचि या प्रेम है। किसी स्त्री या पुरुष के रूप की प्रशंसा सुनते ही पहला भाव लोभ का होगा। किसी को हमने बहुत सुंदर देखा और लुभा गए, उसके पीछे दूसरे को उससे भी सुंदर देखा तो उस पर लुभा गए। जब तक प्रवृत्ति का यह व्यभिचार रहेगा तब तक हम रूप-लोभी ही माने जाएँगे। जब हमारा लोभ किसी एक ही व्यक्ति पर स्थिर हो जाएगा, हमारी वृत्ति एकनिष्ठ हो जाएगी, तब हम प्रेमी कहे जाने के अधिकारी होंगे, पर साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति है तो लोभ, और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।

लोभ का प्रथम संवेदनात्मक अवयव है किसी वस्तु का बहुत अच्छा लगना, उससे बहुत सुख या आनंद का अनुभव होना। अतः वह आनंद-स्वरूप है। इसी से किसी अच्छी वस्तु को देखकर लुभा जाना कहा जाता है। पर केवल इस अवस्था में लोभ की पूरी अभिव्यक्ति नहीं होती। कोई वस्तु हमें बहुत अच्छी लगी, किसी वस्तु से हमें बहुत सुख या आनंद मिला, इतने ही पर दुनिया में यह नहीं कहा जाता कि हमने लोभ किया। जब संवेदनात्मक अवयव के साथ इच्छात्मक अवयव का संयोग होगा अर्थात् जब उस वस्तु को प्राप्त करने की, दूर न करने की, नष्ट न होने देने की इच्छा प्रकट होगी तभी हमारा लोभ लोगों पर खुलेगा। इच्छा लोभ या प्रीति का ऐसा आवश्यक अंग है कि यदि किसी को कोई बहुत अच्छा और प्रिय लगता है तो लोग कहते हैं कि 'वह उसे चाहता है।'

भूखे रहने पर सबको पेड़ा अच्छा लगता है, पर चौबेजी पेट भर भोजन के ऊपर भी पेड़े पर हाथ फेरते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि चौबेजी को मिष्ठान्न से अधिक रुचि है। यह अभिरुचि भी लोभ की चेष्टाएँ उत्पन्न करती है। इंद्रियों के विषय-भेद से अभिरुचि के विषय भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कमल का फूल और रमणी का सुंदर मुख अच्छा लगता है। वीणा की तान और अपनी तारीफ अच्छी लगती है, जूही और केसर की गंध अच्छी लगती है, रबड़ी और मालपूआ अच्छा लगता है, मुलायम

गद्दा अच्छा लगता है । ये सब वस्तुएँ तो आपको आनंद देती हैं, इससे इनकी प्राप्ति की इच्छा बहुत सीधी-सादी और स्वाभाविक कही जा सकती है। पर, जिससे इन सब वस्तुओं की प्राप्ति सुलभ होती है, उसमें चाहे आनंद देनेवाली स्वतः कोई बात न हो, पर उसकी प्राप्ति की इच्छा होती है, उसका लोभ होता है । रुपए के रूप, रस, गंध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता, पर जिस वेग से मनुष्य उस पर टूटते हैं उस वेग से भौंरे कमल पर और कौए मांस पर भी न टूटते होंगे । यहाँ तक कि 'लोभी' शब्द से साधारणतः रुपए-पैसे का लोभी, धन का लोभी समझा जाता है । एक धातुखंड के गर्भ में कितने प्रकार के सुख और आनंद मनुष्य समझता है । पर, यह समझ इतनी पुरानी पड़ गई है कि इसकी ओर हमारा ध्यान अब प्रायः नहीं रहता । धन-संचय करने में बहुतों का लक्ष्य धन ही रहता है, उससे प्राप्य सुख नहीं । वे बड़े-से-बड़े सुख के बदले में या कठिन-से-कठिन कष्ट के निवारण के लिए थोड़ा-सा धन अलग करना नहीं चाहते । उनके लिए साधन ही साध्य हो जाता है ।

लोभ के विषय दो प्रकार के होते हैं—सामान्य और विशेष । अच्छा खाना-कपड़ा, अच्छा घर तथा धन, जिससे ये सब वस्तुएँ सुलभ होती हैं, सबको भाता है, सबको उसकी प्राप्ति की आकांक्षा है । ये लोभ के सामान्य विषय हुए जिनपर प्रायः मनुष्य मात्र का लक्ष्य रहता है, अतः इनके प्रति जो लोभ होता है उसपर बहुत लोगों का ध्यान जाता है । पर, यदि किसी को गुलाब जामुन या विशेष बूटी की छींट बहुत अच्छी लगे और वह उसे प्राप्त करना या न देना चाहे तो उसके लोभ पर बहुत कम लोगों का ध्यान जाएगा और जिसका ध्यान जाएगा भी उन्हें वह खटकेगा नहीं । ऐसे लोभ को वे रुचि कहेंगे। सबको जिसकी हाय-हाय होती है, सब जिसको पाना या रखना चाहते हैं, वह बहुत से लोगों को एक मैदान में लाकर खड़ा किया करता है, जहाँ एक दूसरे की गतिविधि का निरीक्षण और अवरोध बड़ी कड़ी नज़र और पूरी मुस्तैदी से होता है ।

यदि मनुष्य समाज में सब लोभ के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते तो लोभ को बुरा

कहनेवाले कहीं न मिलते। यदि एक साथ रहनेवाले दस आदमियों में से कोई गाय बहुत चाहता, कोई घोड़ा, कोई कपड़ा, कोई ईंट, कोई पत्थर, कोई सोना, कोई चाँदी, कोई ताँबा, और इन वस्तुओं में से किसी को शेष सब वस्तुओं को प्राप्त कराने की कृत्रिम शक्ति न दी जाती, तो एक के लोभ से दूसरे को कोई कष्ट न पहुँचता और दूसरी बात यह होती कि लोभ का एक बुरा लक्षण जो असंतोष है, उसकी भी एक सीमा हो जाती—कोई कितनी गायें रखता, कितने घोड़े बाँधता, कहाँ तक सोना-चाँदी इकट्ठा करता। पर विनिमय की कठिनता दूर करने के लिए मनुष्यों ने कुछ धातुओं में सब आवश्यक वस्तुएँ प्राप्त कराने का कृत्रिम गुण आरोपित किया जिससे मनुष्य मात्र की सांसारिक इच्छा और प्रयत्न का लक्ष्य एक हो गया, सबकी टकटकी टके की ओर लग गई।

लक्ष्य की इस एकता से समाज में एक दूसरे की आँखों में खटकने वाले की वृद्धि हुई। जब एक ही को चाहने वाले बहुत से हो गए तब एक की चाह को दूसरे कहाँ तक पसंद करते। लक्ष्मी की मूर्ति, धातुमयी हो गई, तब उपासक पत्थर के हो गए। धीरे-धीरे यह दशा आई कि जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थीं, वे भी रुपए-पैसे की दृष्टि से होने लगीं। आजकल तो बहुत-सी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। पैसे से राज-सम्मान की प्राप्ति, विद्या की प्राप्ति और न्याय की प्राप्ति होती है। जिनके पास कुछ रुपया है वे बड़े-बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकदमे दाखिल कर सकते हैं। राजधर्म, आचार्यधर्म, वीरधर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब टकाधर्म हो गए।

व्यापार-नीति राजनीति का प्रधान अंग हो गई। बड़े-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़नेवाले सौदागर हो गए। जिस समय क्षात्रधर्म की प्रतिष्ठा थी, एक राज्य दूसरे राज्य पर कभी-कभी विजय-कीर्ति की कामना से डंके की चोट चढ़ाई करता था। अब सदा एक देश दूसरे देशों का चुपचाप दबे पाँव धन हरण करने की ताक में लगा रहता है। इसीसे भिन्न-भिन्न राज्यों की परस्पर संबंध-समस्या इतनी जटिल हो

गई है। कोई-कोई देश लोभवश इतना अधिक माल तैयार करते हैं कि उसे किसी देश के गले मढ़ने की फिक्र में दिन-रात मरते रहते हैं। जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख-शांति न होगी। दूर वह अवश्य होगा। क्षात्रधर्म की संसार में एक बार फिर प्रतिष्ठा होगी, चोरी का बदला डकैती से लिया जाएगा।

लोभ में भी लोभदृष्टि जितनी ही संकुचित होती है, उसके भीतर जितनी ही कम वस्तुएँ आती हैं, उतना ही उसका दोष कम होता है। अच्छे भोजन की सबको चाह होती है। अतः उसे बहुत चाहने वाला लोभी कहला सकता है, पर अच्छे भोजनों में से यदि किसी को मिठाई की चाह अधिक रहे, तो उसका दोष कम और मिठाइयों में से यदि केवल गुलाबजामुन की अधिक चाह रहे तो और भी कम क्या कुछ भी न समझा जाएगा। इसी प्रकार जहाँ एक ही वस्तु बहुत प्रकार की रखी हुई है वहाँ भी यदि कोई एक किसी को बहुत पसंद आ जाए और वह उसे लेना चाहे तो उसकी गिनती लोभियों में न होगी। विश्वामित्र को वशिष्ठ की गाय बहुत पसंद आई और ये उसके बदले में बहुत-सी गायें देने के लिए तैयार हो गए पर वशिष्ठ ने अपनी गाय नहीं दी। इसके लिए लड़-भिड़कर भी न वशिष्ठ लोभी कहलाए, न विश्वामित्र। इसी प्रकार एक नवाब साहब को बाबू हरिश्चंद्र का एक अलबम बहुत पसंद आया था। ये लोभ के विशेष विषय के उदाहरण हैं। इनके प्रति जो लोभ होता है उसके अवसर इतने कम होते हैं कि उनके स्वभाव या अधिक अभ्यास का अनुमान नहीं किया जा सकता। पर किसी की अच्छी चीज़ देखते ही जिसके मुँह में पानी आ जाता है, बराबर खरी-खोटी सुना करते हैं। एक लोभ से दूसरे लोभ का निवारण भी होता है जिससे लोभी में अन्य वस्तुओं के त्याग का साहस आता है। विशेष विषयगत लोभ यदि बहुत प्रबल और सच्चा हुआ तो लोभी के त्याग का विस्तार बहुत बड़ा होता है। लोभ तो उसे एक विशेष और निर्दिष्ट वस्तु से है, अतः उसके अतिरिक्त अन्य अनेक वस्तुओं का त्याग वह उसके लिए कर सकता है। विश्वामित्र एक गाय के लिए अपना सारा राजपाट देने को तैयार हो गए थे। अन्य का त्याग अनन्य और सच्चे लोभ की पहचान है।

अब एक प्राणी के प्रति दूसरे प्राणी के लोभ का प्रसंग सामने आता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं। यद्यपि किसी व्यक्ति की ओर प्रवृत्ति भी जब तक एकनिष्ठ न हो, लोभ ही कही जा सकती है, पर साधारण बोलचाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं। वस्तु और व्यक्ति के विषय-भेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति में बहुत कुछ भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्तिके लोभ को अलग नाम दिया गया है। पर मूल में लोभ और प्रेम दोनों एक ही हैं, इसका पता हमारी भाषा ही देती है। किसी रूपवान या रूपवती को देखकर उस पर 'लुभा जाना' बराबर कहा जाता है।

किसी व्यक्ति का लोभ वस्तु के लोभ से कितना विलक्षण होता है, अब यह देखना चाहिए। विलक्षणता का सबसे बड़ा कारण है दोनों पक्षों में मनस्तत्व का विधान। जो लुब्ध होता है उसके भी हृदय होता है, जिस पर वह लुब्ध होता है उसके भी। अत: किसी व्यक्ति का लोभी उस व्यक्ति से केवल बाह्य संपर्क रखकर ही तुष्ट नहीं हो सकता, उसके हृदय का संपर्क भी चाहता है। अत: मनुष्य का मनुष्य के साथ जितना गूढ़, जटिल और व्यापक संबंध हो सकता है उतना वस्तु के साथ नहीं। वस्तु-लोभ के आश्रय आलब इन दो पक्षों में भिन्न-भिन्न कोटि की सत्ताएँ रहती हैं। पर प्रेम एक ही कोटि की दो सत्ताओं का योग है, इससे कहीं अधिक गूढ़ और पूर्ण होता है।

वस्तु के भीतर लोभी चेतना का कोई विधान नहीं देखता जिस पर प्रभाव डालने का वह प्रयत्न करे। पर प्रेमी प्रिय की अंतर्वृत्ति पर प्रभाव डालने में तत्पर रहा करता है। प्रभाव डालने की यह वासना प्रेम उत्पन्न होने के साथ ही जगती है और बढ़ी चली जाती है। वस्तु पर लुब्ध होकर कोई इस चिन्ता में नहीं पड़ता कि उस वस्तु को मालूम हो जाए कि वह उसपर लुब्ध है। पर किसी पर लुब्ध या प्रेमासक्त होते ही प्रेमी इस बात के लिए आतुर होने लगता है कि प्रिय को उसके प्रेम की सूचना मिल जाए। उसे इस बात की चिन्ता रहती है कि प्रिय को भी उससे प्रेम हो गया है,

कम-से-कम उसके प्रेम का पता लग गया है।

लोभी या प्रेमी सान्निध्य या संपर्क द्वारा तुष्ट होना चाहता है। वस्तु के सान्निध्य या संपर्क के लिए तो वस्तु की ओर से किसी प्रकार स्वीकृति या प्रयत्न की अपेक्षा नहीं। पर किसी चेतन प्राणी से प्रेम करके कोई उसके सान्निध्य या संपर्क की आशा तब तक नहीं कर सकता जब तक वह उससे भी सान्निध्य या संपर्क की इच्छा न उत्पन्न कर ले। दूसरी बात यह है कि प्रेम का पूर्ण विकास तभी होता है जब हृदय एक दूसरे की ओर क्रमशः खिंचते हुए मिल जाते हैं। इस अंतर्योग के बिना प्रेम की सफलता नहीं मानी जा सकती, अतः प्रिय को अपने प्रेम की सूचना देना उसके मन को अपने से मिलाने के लिए न्यौता देना है।

अपने प्रेम की सूचना देने के उपरांत प्रेमी प्रिय के हृदय में अपनी ओर कुछ भावों की प्रतिष्ठा चाहता है। पहले कहा जा चुका है कि सहसा उत्पन्न लोभ या प्रीति का प्रथम संवेदात्मक अवयव है "अच्छा लगना।" वस्तु के संबंध में तो उसी वस्तु का अच्छा लगना काफी होता है। लोभियों को इस फेर में नहीं पड़ना पड़ता कि कोई वस्तु उन्हें अच्छी लग रही है उसे वे भी अच्छे लगें पर प्रेमी यह चाहने लगता है कि उसी प्रकार मैं भी प्रिय को अच्छा लगूँ। वह अपना सारा अच्छापन किसी न किसी बहाने उसके सामने रखना चाहता है। यह बराबर देखने में आता है कि जब कभी किसी नवयुवक का चित्त किसी युवती की ओर आकर्षित होता है तब ऐसे स्थानों पर जाते समय जहाँ उसके दिखाई पड़ने की संभावना होती है, उसका ध्यान कपड़े-लत्ते की सफाई और सजावट की ओर कुछ अधिक हो जाता है। सामने होने पर बातचीत और चेष्टा में भी एक खास ढब देखा जाता है। अवसर पड़ने पर चित्त की कोमलता, सुशीलता, वीरता, निपुणता इत्यादि का भी प्रदर्शन होता है। प्रेमी को जिस घड़ी यह पता चलता है कि प्रिय का चित्त भी उसकी ओर थोड़ा बहुत खिंचा है उसी घड़ी से वह लोभ की ऊपरी सतह से और गहरे में जाकर प्रेम के आनंद-लोक में मग्न हो जाता है।

एक दूसरे की ओर आकर्षित दो हृदयों के योग से जीवन में एक नया रस

उत्पन्न हो जाता है या दूनी सजीवता आ जाती है। आनंद की संभावना भी बहुत अधिक बढ़ जाती है और दुख की भी। प्रिय के हृदय का आनंद प्रेमी के हृदय का आनंद हो जाता है। अतः एक ओर तो प्रिय के आनंद का मेल हो जाने से प्रेमी संसार की नाना वस्तुओं में कई गुने अधिक आनंद का अनुभव करने लगता है, दूसरी ओर प्रिय के अभाव में उन्हीं वस्तुओं में उसके लिए आनंद बहुत कम या कुछ भी नहीं रह जाता है। वियोग की दशा में तो वे वस्तुएँ उलटा दुख देने लगती हैं। होते-होते यहाँ तक होता है कि प्रेमी के लिए प्रिय के आनंद से अलग आनंद रह ही नहीं जाता। प्रिय के आनंद में ही वह अपना आनंद ढूंढ़ा करता है। दो हृदयों की यह अभिन्नता अखिल जीवन की एकता के अनुभव-पथ का द्वार है। प्रेम का यह एक रहस्यपूर्ण महत्त्व है।

—रामचंद्र शुक्ल

प्रश्न-अभ्यास

१. लोभ किसे कहते हैं और इसकी अभिव्यक्ति कब होती है ? कुछ ठोस उदाहरण देकर लोभ का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

२. किस स्थिति में जाकर लोभ प्रीति का रूप ग्रहण करता है ? प्रीति और लोभ के अंतर को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

३. "लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख।" सोदाहरण व्याख्या कीजिए।

४. रुपए में रूप, रस, गंध आदि में कोई आकर्षण नहीं होता, फिर भी लोग उसकी प्राप्ति और संचय के पीछे पागल क्यों रहते हैं ?

५. "यदि मनुष्य समाज में सब लोभ के लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते तो लोभ को बुरा कहने वाले कहीं न मिलते।" क्यों ?

६. उन कारणों का उल्लेख कीजिए जिनसे लोभ को लोग बुरा कहते हैं, किन्तु प्रीति को नहीं।

७. इस पाठ के आधार पर लोभ के मुख्य अवयवों पर विचार प्रस्तुत कीजिए।

८. लोभ और प्रीति के सूक्ष्म विवेचन को लेखक ने किस प्रकार पाठक के लिए बोधगम्य बना दिया है? निम्नलिखित में से जो-जो सही हैं, उनका चयन कीजिए और उनके एक-एक उदाहरण दीजिए—

(क) स्पष्ट व्याख्या और विवेचना द्वारा।

(ख) लोभ और प्रीति की केवल मोटी-मोटी बातें गिनाकर।

(ग) लोभ और प्रीति के अंतर को अधिक स्पष्ट कर।

(घ) सरल भाषा में अपनी बातें कहकर।

(ङ) अपने कथनों को उपयुक्त उदाहरणों से स्पष्ट कर।

(च) रोचक घटनाओं तथा अनुभवों का उल्लेख कर।

९. व्याख्या कीजिए :—

(क) सबको जिसकी हाय-हाय...पूरी मुस्तैदी से होता है।

(ख) लक्ष्मी की मूर्ति.........दृष्टि से होने लगी।

(ग) दो हृदयों की यह अभिन्नता...एक रहस्यपूर्ण महत्त्व है।

१० 'लोभ और प्रीति' निबंध निबंध के चारों प्रकारों में से किसके अधिक निकट है? पूर्ण उत्तर दीजिए।

राजेन्द्र यादव

श्री राजेन्द्र यादव का जन्म आगरा में २८ अगस्त १६२६ को हुआ। वहीं पर आपने सन् १६५१ में प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त करते हुए एम० ए० किया। इसके पश्चात् 'ज्ञानोदय' के संपादक होकर आप कलकत्ता चले गए। किन्तु थोड़े ही दिनों बाद आपने वह नौकरी त्याग दी, क्योंकि उससे आपके लेखन-कार्य में बाधा पड़ती थी। आजकल आप दिल्ली में रहकर स्वतंत्र रूप से लेखन कर रहे हैं।

आपने साहित्य की अनेक विधाओं में रचना की है। अब तक आपकी लगभग पच्चीस पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें प्रमुख हैं: आवाज़ तेरी है (कविता-संग्रह); सारा आकाश, उखड़े हुए लोग, शह और मात, मंत्रबिद्ध, अनदेखे अनजान पुल (उपन्यास); देवताओं की मूर्तियाँ, खेल-खिलौने, जहाँ लक्ष्मी कैद है, अभिमन्यु की आत्महत्या, प्रतीक्षा, टूटना, अपने पार, ढोल (कहानी-संग्रह); कहानी: स्वरूप और संवेदना (समीक्षा)। अपनी पत्नी श्रीमती मन्नू भंडारी के साथ जो स्वयं भी हिन्दी की ख्याति प्राप्त कहानी-लेखिका हैं, मिलकर आपने 'एक इंच मुस्कान' नामक उपन्यास भी लिखा है।

राजेन्द्र यादव की गणना हिन्दी के उन शीर्षस्थ कहानी-लेखकों में की जाती है जिन्होंने हिन्दी कहानी को नया मोड़ दिया है। आपकी अनेक कहानियों का विश्व की कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। आपकी कई कहानियों पर फिल्में भी बन चुकी हैं जिनमें 'सारा आकाश' बहुत प्रसिद्ध हुई है।

'गुलामी' कहानी 'ढोल' संग्रह से ली गई है। यह एक प्रतीक कथा है जिसमें व्यंग्य का स्वर प्रमुख है। इसमें पशुओं के माध्यम से लेखक ने मानवीय कमज़ोरियों को उभार कर प्रस्तुत किया है। इस रचना में लेखक ने कहानी कला में बड़ा सशक्त प्रयोग किया है।

गुलाम

रँगे स्यार को राज्य तो मिल गया, लेकिन समस्या यह आई कि अब शासन कैसे चलाया जाए। जंगल में शेर-चीते, भालू-भेड़िए सभी थे और सब पर अपना हुक्म चलाना आसान नहीं था। उनमें से कौन कब अचानक बिगड़ खड़ा हो और अपनी ही जान के लाले पड़ जाएँ। राजा बनने के बाद भी तरह-तरह के भय और संदेह उसे सारे समय चील-कौओं की तरह खाते-नोचते रहते थे। कहीं किसी को असली बात का पता चल गया तो बोटी-बोटी अलग हो जाएगी—इसलिए नींद आना तो उसे वैसे ही बंद हो गया था।

लोमड़ी पूंछ फुलाए उसके आस-पास ही घूमती थी और इन दिनों वही उसकी सबसे भरोसे की और अच्छी सलाहकार थी। उसने राजा की चिन्ता समझकर एक दिन बड़े प्यार से कारण पूछा। राजा बोला, 'लोमड़ी रानी, इतना बड़ा राज्य है, समझ में नहीं आता इसे कैसे चलाऊँगा? अंदरूनी इंतजाम देखता हूँ तो बाहरी हमलों का डर रहता है, और बाहर ज्यादा ध्यान दूं तो यहाँ गड़बड़ी होती है। इसी चिन्ता में मैं हूँ कि सारी चीजें कैसे ठीक रखी जाएँ।'

लोमड़ी ने अक्लमंदी से गंभीर मुँह बनाकर कहा, 'आप एक-एक हिस्सा एक-एक को सौंप दीजिए और समझा दीजिए कि वे अपनी सारी ज़िम्मेवारी को देखेंगे। आप उन्हें मंत्री बना लीजिए, इज़्ज़त दीजिए और समझा दीजिए कि वे सारी हालत रोज आपको बताते रहें। मेरा सुझाव यह है कि शेर बाहरी विभाग का अधिकारी हो और भेड़िया घरेलू विभाग का।'

राजा को अपनी लोमड़ी रानी की अक्ल पर बहुत भरोसा था। उसे यह सलाह

पसंद आई। यही सबसे सीधा तरीका भी था। लेकिन तब शेर और भेड़िया दोनों आस-पास ही बने रहेंगे, उनसे घंटों बैठकर सलाह और विचार करने पड़ेंगे। पता नहीं कब कहाँ असलियत खुल जाए और लेने के देने पड़ जाएँ। राजा तो यह चाहता था कि राज्य अच्छे ढंग से चले, लेकिन इस तरह के खूंखार जानवरों से कम-से-कम मिलना-जुलना हो। उसने हिचकिचाकर कहा, 'तुम्हारी सलाह तो एकदम ठीक है, लेकिन...'

हिचक देखकर लोमड़ी राजा के मन की बात समझ गई। बोली, 'नए और जवान लोगों में जोश और गुस्सा तो बहुत हाता है, समझ और अनुभव नहीं होते। राज-काज जोश से नहीं अनुभव और समझदारी से चलता है। इसलिए ये भेड़िया और शेर ऐसे चुने जाएँ जो बूढ़े हों और अनुभवी हों और इनकी अपने-अपने समाज में इज्ज़त हो......।'

हाँ, बूढ़े होंगे तो डर कम रहेगा। डरपोक और कमज़ोर का दिमाग बहुत चलता है। राजा के दिमाग में अचानक ही आ गया कि इन बूढ़ों को इज्ज़त और सुरक्षा की बढ़ी भूख होती है। इनमें कुछ और तो रह ही नहीं जाता, अपने को इज्ज़तदार बनाकर ये लोग सुरक्षित रहना चाहते हैं। दोनों को बराबर का ओहदा दिया जाए ताकि अपनी-अपनी इज्ज़त के लिए दोनों आपस में ही लड़ते रहें और दोनों को एक-दूसरे का डर बना रहे। अगर दोनों मिल गए तो अपने लिए खतरा बढ़ जाएगा। उसने खुद अपने आपको शाबासी दी कि उसका दिमाग सचमुच चलता है और ऐसा कुशाग्र-बुद्धि प्राणी राजा होने ही लायक है। उसने समझदारी से कहा, 'तुम्हारी बात ठीक है लोमड़ी रानी, हमें अनुभवो लोगों की ज़रूरत है। लेकिन मेरे राज्य में सब बराबर हैं। शेर को मैं चाहे जितनी इज्ज़त की निगाहों से देखता होऊँ, लेकिन सरकारी तौर पर दोनों को बराबर का ही ओहदा दूँगा, ताकि कहने को यह न हो जाए कि मैंने किसी के साथ पक्षपात किया...लेकिन मैं चाहता हूँ कि इनका संबंध सीधा मुझसे न रहकर तुमसे रहे।' उसने सोचा, इस तरह रोज़-रोज़ उनका सामना होने से वह बच जाएगा।

लोमड़ी धन्य हो गई। उसने प्रशंसा और प्यार से राजा को देखा और जीभ से

उसकी मूँछें काटीं। अगले दिन ही सभा बुलाई गई और लोमड़ी ने बड़े प्रभावशाली भाषण के बाद राजा की ओर से एक बहुत बूढ़े शेर और भेड़िए को बाहरी और घरेलू शासन का भार सौंप दिया। अनुभवी और बड़ी उम्र की पूरी कद्र करते हुए भी राजा के लिए सब बराबर हैं। और, उनकी आज्ञा से दोनों को बराबर का दर्जा दिया जाता है, इस भाषण से प्रजा पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। यह आशा भी प्रकट की गई कि हमारे सामने बहुत काम हैं और अभी हमें बहुत कुछ करना है। आपसी सहयोग और सद्भावना से ही हम बड़े और आगे बढ़े हुए राज्यों के बराबर पहुँच जाएँगे। तालियाँ बजीं, राष्ट्रगान गाया गया।

अब माँद के भीतर अँधेरे में स्यार राजा बैठता, बाहर इधर-उधर दोनों बूढ़े—यानी शेर और भेड़िया। उन्हें हटाया नहीं जा सकता, किस समय उनकी सलाह की ज़रूरत पड़ जाए, या उन्हें ही राजा को कोई खबर देनी पड़े। लोमड़ी संदेश लाने-ले जाने के लिए बराबर बाहर-भीतर का चक्कर काटती। लेकिन राजा को हमेशा यही डर था कि पता नहीं कब भेद खुल जाए। उधर जो वह चाहता था वह भी नहीं हो रहा था, दोनों बेहद सुस्त और मरे-से पड़े रहते, मक्खियाँ भनभनाया करतीं। जब तक इन दोनों के बीच खटपट नहीं कराई जाएगी, न तो इनकी यह सुस्ती टूटेगी और न जोश आएगा। लेकिन शुरुआत कहाँ से की जाए? इधर राजा को यह महसूस हुआ कि सारी बातें लोमड़ी के जरिए नहीं कहलाई जा सकतीं। मन का असली डर उसके सामने भी नहीं खुलना चाहिए। साथ ही यह भी लगा कि लोमड़ी भेड़िए के आस-पास बहुत चक्कर लगाने लगी है और दोनों सारे समय कुछ खुसर-पुसर किया करते हैं। हो न हो, लोमड़ी ने असली भेद भेड़िए को बता दिया है और दोनों उसे मारकर खुद राजा-रानी बन बैठने की साजिश कर रहे हैं। ऐसे में अपनी बिरादरी के कुछ लोग मदद कर सकते थे, लेकिन उनसे डर था कि कोई दिलजला सबसे पहले ही भंडा भी फोड़ सकता था।

आखिर बहुत दिमागी उठा-पटक के बाद उसने तय किया कि क्यों न भेड़िए

को राज्य की स्थिति देखने के लिए कुछ दिनों को बाहर भेज दिया जाए इससे लोमड़ी से भी उसका मिलना-जुलना कम हो जाएगा और वह खुद भी आँखों से दूर रहेगा। उसने एक दिन लोमड़ी को बुलाकर राज्य की बुरी स्थिति का बखान किया और समझाया कि इस समय बहुत जरूरी है कि घरेलू मंत्री सारे राज्य का दौड़ा लगाकर असली हालत बताएँ। लोमड़ी राजा के पास ही रहती थी, सारे उतार-चढ़ाव वह समझ गई कि मामला कुछ और है। उसने जाकर सारी बात भेड़िए को बताई, उसे कुछ समझाया। थोड़ी ही देर में गुर्राता हुआ भेड़िया सीधा राजा के सामने जा पहुँचा।

'धूर्त, बदमाश गीदड़, मेरे सामने चालाकी करने की कोशिश की तो एक पल में ठिकाने लगा दूंगा। मैं तेरी असलियत जानता हूँ। तुझे शर्म नहीं आती कि बूढ़ों को आराम से बैठने देने के बजाय इधर-उधर दौड़ाता है। डर और डाह से तेरा दिमाग खराब हो गया है।' भेड़िए ने झपटने के लिए तैयार होकर राजा को सुनाया। लोमड़ी खिसक गई थी।

भय और घबराहट से राजा को पसीना छूटने लगा। उसकी घिग्घी बँध गई और मुँह से बोल निकलना मुश्किल हो गया। हकलाकर कहा, 'भेड़िए बाबा, मेरी बात तो सुनिए, मेरी असलियत आपके सामने खुल ही गई है, अब मारिए या जिलाइए। सब कुछ आपके हाथ में ही है, मैं तो आपकी दया पर ही हूँ। सब कुछ होते हुए भी आप ही मेरे पास पड़ते हैं। शेर और हाथी तो हमारी बिरादरी के भी नहीं हैं। आप इस गद्दी पर बैठिए, मैं आपकी सेवा करूँगा।' कहकर वह भेड़िए के चरणों पर गिर पड़ा।

भेड़िया अनुभवी था। उसने सोचा, कुछ भी हो, जंगल के सारे जानवर तो इसे राजा मानते हैं, वे इसे भगवान की तरफ़ से भेजा हुआ समझते हैं। मेरे राजा बनने से नया बखेड़ा खड़ा हो जाएगा। उसने ठंडे होकर कहा, 'मुझे गद्दी लेकर क्या करना है। गद्दी पर तू ही बैठ, लेकिन यह समझ ले कि हम इज्ज़तदार जानवर हैं और इज्ज़त से

हो रहेंगे। तू अपनी हैसियत में रह और बूढ़ों को इधर-उधर दौड़ाकर परेशान मत कर···।'

राजा खुशामद से उसके पाँव चाटता और पूंछ सहलाता रहा। तभी कहीं से लोमड़ी भी आ गई और तीनों ने सलाह की कि राज्य की सरहदों की देख-भाल के लिए शेर को दौरे पर भेज दिया जाए।

लोमड़ी और भेड़िए ने लगातार बाहरी हमलों और खतरों की बातें कह-कह-कर, राजा की आज्ञा का हवाला देकर शेर को दौरे पर भेज दिया। शेर बड़े बेमन से चला तो गया, लेकिन भीतर बहुत ही भुनभुनाया। सारे दिन लोमड़ी और भेड़िए को "महल" में आते-जाते देखकर उसे किसी गहरी साज़िश की गंध भी आ रही थी। बुढ़ापे में आराम की जगह यह भाग-दौड़ उसे बिल्कुल भी पसंद नहीं आई।

इधर एक तरह भेड़िया ही राज्य करने लगा था। वह राजा की आज्ञा के नाम पर चाहे जिसे मरवा देता, चाहे जिसे इधर से बदलकर उधर फेंक देता। सारे खास-खास ओहदों पर वह अपने और लोमड़ी के भाई-भतीजों को ले आया। उसके नाम से जंगल के सारे जानवर काँपते थे और अब जब महल में आता तो शान से गद्दी पर बैठता। राजा अपने दोनों पंजों से उसकी पूंछ दबाता और जीभ से उसका शरीर चाटता रहता। उसके सामने ही लोमड़ी और भेड़िया इश्क लड़ाते रहते, आपस में किल्लोलें करते और वह मन-ही-मन कुढ़ता हुआ इनकी सेवा करता। उसकी इज़्ज़त और जान भेड़िए के हाथ में थी। कभी-कभी उसका मन होता कि बाहर जाकर अपनी सारी प्रजा को बता दे—भाइयो, मैं राजा-वाजा कुछ नहीं, एक छोटा और डरपोक गीदड़ हूँ और मेरा नाम ले-लेकर जो कुछ किया जाता है उसमें न मेरा हाथ है, न मेरी जानकारी। लेकिन जानता था कि ऐसा वह नहीं कर सकता। इतने दिनों धोखा दिया है, इस आधार पर सारे जानवर उसे मार डालेंगे। और, अगर वे न भी मारें तो यह भेड़िया तो छोड़ेगा नहीं। लोमड़ी भी उससे जा मिली है। वह भी कहीं मुझे नीचा सम-

झती है। बस एक ही उम्मीद थी कि शेर लौट आए तो किसी तरह उस तक अपनी बात पहुँचाई जाए। तब तक तो पूँछ से भेड़िए का चँवर डुलाते हुए सब कुछ बरदाश्त करना ही होगा।

शेर खुद ही गुस्से में दहाड़ता हुआ लौटा था। कहीं भी कुछ नहीं था और उसे बेकार ही इन लोगों ने दौड़ा दिया था। वह सीधा महल में घुसा चला गया। भेड़िया नहीं चाहता था कि शेर और राजा मिलें, लेकिन शेर का मिजाज देखकर भीतर जाने और भेद लेने की हिम्मत नहीं पड़ी। उधर राजा भी अचानक शेर को सामने देखकर सकपका गया, उसकी बोली बंद हो गई। वह सीधा उसके चरणों पर लेट गया, 'महाराज, आपको परेशान करने में मेरी कोई गलती नहीं है। मुझे तो इन लोगों ने किसी लायक नहीं रखा और मेरी कोई पूछ नहीं है। जो मन होता है, करते हैं। मैं तो एक तरह से यहाँ कैद हूँ। आप खुद सोचिए, मेरी हिम्मत आपको परेशान करने की हो ही कैसे सकती है? मैं क्या जानता नहीं हूँ कि आप ही जंगल के असली राजा हैं, आपके खून में शासन करना है। मैं तो सच्चे दिल से चाहता हूँ कि आप जैसे अनुभवी और रोबीले हाथों में सारा राज-काज रहे और मुझे छुट्टी मिले। आपके साथ जो ज्यादती हुई है, उसका मुझे सचमुच बहुत अफसोस है।'

यह सब सुनकर शेर दया से पिघल गया। उसकी समझ में सारा खेल आ गया। वह एकदम बाहर निकला और सीधा भेड़िए पर टूट पड़ा। जब तक कोई कुछ समझे, उसने भेड़िए के टुकड़े-टुकड़े कर डाले। फिर उसी तरह लौटकर राजा को बताया कि उस बदमाश का सफाया कर दिया है। तुम राजा हो, राजा ही बने रहो। मैं इज्जत के साथ कहीं आराम करना चाहता हूँ। मुझे छुट्टी मिलनी चाहिए। राजा ने सोचा कि अगर ऐसा दयालु और शक्तिशाली शेर अपने पास बना रहे तो किसी का डर नहीं रहेगा। उसने फिर उसके पाँव चाटे, पूँछ दबाई, शरीर चाटा, 'महाराज, आप इस उम्र में कहाँ जंगल-जंगल मारे फिरेंगे? आप यहीं रहिए, आप को सारी सुख-सुविधाएँ देने का जिम्मा मेरा है। हम लोग आप की सेवा करेंगे।' खैर किसी तरह

शेर मान गया। उधर लोमड़ी भी पलट गई थी और राजा के पास आकर इस तरह शेर से रुकने का आग्रह करने लगी थी, जैसे कभी भेड़िए से उसका परिचय ही न रहा हो।

अब शेर मजे में अच्छे-से-अच्छा खाना खाता। जब तक मन होता रहता, और बहुत थक जाता तो बाहर घूम आता। जब तक वह महल में रहता, लोमड़ी और स्यार दोनों उसकी सेवा करते रहते। राजा उसकी पूँछ दबाया करता और लोमड़ी शरीर चाटती रहती। लोमड़ी ने पहले भेड़िए की तरह शेर को भी पटाने की कोशिश की, लेकिन शेर ने उसकी तरफ देखा भी नहीं। उसे भी लगा कि उसका उद्धार राजा की रानी बने रहने में है। वह रानी बनकर सारा राज-काज देखती, राजा के नाम पर तरह-तरह की आज्ञाएँ जारी करती। इस तरह राजा का यश दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता चला गया। उसके योग्य शासन की चारों तरफ धाक जम गई। राजा बिना शेर की सलाह के कुछ न करता। शेर भी बड़ा सुखी था।

शेर बूढ़ा तो था ही। एक दिन योंही बाहर चहल-कदमी करने गया तो लौटा नहीं। या तो कहीं मर गया या किसी और ने उसे मार दिया। जैसे ही महल में खबर पहुँची तो चारों तरफ मातम छा गया। पूरे जंगल में सरकारी शोक मनाया गया, झंडे झुका दिए गए। दफ्तरों की छुट्टियाँ हो गईं और चारों तरफ शोक-संगीत गूँजने लगा। राजा को सचमुच ही दुख हुआ था। एक तो उसकी समझ में ही नहीं आ रहा था कि सारा राज्य कैसे चलेगा, वह किससे सलाह लेगा। भेड़िया अपनी तेज बुद्धि के कारण और शेर अपने अभ्यास के कारण जिन मसलों को चुटकी में हल कर देते थे उनमें स्यार राजा के हाथ-पाँव फूल जाते थे, दिमाग ही काम नहीं करता था। दूसरे, सारे दिन उसके हाथ-पाँव दर्द करते रहते, जीभ ऐंठती रहती, पूँछ दबाने और शरीर चाटने की ऐसी आदत पड़ गई थी कि समझ में ही नहीं आता था कि अपने पंजों और जीभ का क्या करे। वह सुस्त और उदास रहने लगा।

एक दिन सारे जंगल में तहलका मच गया कि राजा बीमार हो गया है और उसकी तबियत दिन-ब-दिन बिगड़ती चली जा रही है। राजा को हालत सचमुच बहुत ही खराब हो गई थी और सारे सरकारी अफ़सर, मातहत इधर से उधर दौड़-धूप कर रहे थे कि अब क्या होगा। ईश्वर का भेजा हुआ राजा अगर बीमार हो गया है तो जरूर कोई भारी मुसीबत राज्य पर आने वाली है। लोमड़ी बेचारी रात-दिन सेवा कर रही थी। राजा सूखकर काँटा हो गया था और कोशिश करने पर भी उसकी आवाज़ नहीं निकलती थी, बस आँखें फाड़े इस छटते वैभव और राजसी ठाठ-बाट को देखा करता था। सबको लग गया कि अब राजा कुछ ही दिनों का मेहमान है। लोमड़ी सबसे कहती कि राजा को अपने दोनों प्रिय मंत्रियों के जाने का ऐसा सदमा बैठा है कि अब शायद ही उठ सके। वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगती, अब पता नहीं कौन राजा हो? उसे अपने सुख-आराम छिन जाने की चिन्ता हो रही थी। उधर यह भी समाचार उसे मिल रहे थे कि राजा बनने के लिए बड़ी-बड़ी उठा-पटक जंगल के जानवरों में चल रही है। किसी का कहना था कि फ़ौजें विद्रोह कर देंगी और कोई सेनापति ही राजा बन बैठेगा, किसी का अंदाज़ था कि भेड़िए के लाए हुए भाई-भतीजों में से कोई राजा बनेगा। उधर राज्य-भर के हकीम-वैद्य रात-दिन एक करके राजा की जान वापस लाने में लगे हुए थे।

तभी किसी ने खबर दी कि बहुत दूर जंगल के किसी कोने की माँद में कोई बहुत ही बूढ़ा स्यार-वैद्य रहता है और आस-पास उसकी बड़ी शोहरत है। वह किसी से कुछ लेता-देता भी नहीं है। फ़ौरन राजा के चर दौड़े गए और उस वैद्य को ले आए। बड़ी गंभीरता से नाक पर चश्मा खिसकाकर वैद्य ने राजा की हालत देखी। वह देखते ही राजा की असलियत समझ गया। लोमड़ी को एक तरफ़ ले जाकर उसने कुछ समझाया। लोमड़ी की समझ में कुछ भी नहीं आया, लेकिन उसने फ़ौरन ही सेवक दौड़ाए कि जैसे भी और जहाँ से भी हो, कोई मरा हुआ शेर या भेड़िया लाया जाए। लोगों ने समझा कि शायद उसके किसी हिस्से की दवा बनाकर राजा को खिलाई

जाएगी। सारा राज-काज ठप्प हो गया था और लोग जल्दी-से-जल्दी राजा की समस्या को हल कर डालना चाहते थे।

बड़ी मुश्किल से किसी झाड़ी में फँसकर भूख-प्यास से मरा हुआ एक सूखा-सा बाघ मिला। शेर या भेड़िया मिला ही नहीं उस समय। खैर, बाघ की ठठरी अंदर भेज दी गई और जनता भीड़ लगाकर महलों के बाहर नए सूचना-पत्र की राह देखने लगी। वैद्य ने सबको महलों से बाहर निकाल दिया। सिर्फ़ लोमड़ी ही वहाँ रही। आज्ञा दे दी गई कि कोई भीतर न आने पाए। अब वैद्य ने राजा को उठाकर बाघ के पैरों पर डाला और उसके पंजे अपने हाथ में पकड़कर बाघ की पूँछ सहलाने लगा। और कुदरत का कमाल देखिए, जैसे-जैसे उसके पंजों से बाघ की पूँछ सहलाई जाती रही, बीमार और बेहोश राजा में उसी-उसी तरह शक्ति का संचार होता रहा। सारे शरीर में चेतना आई, आँखें खोलीं और राजा खुद ही जीभ से बाघ के पाँव और शरीर चाटने लगा।

सारे जंगल में खुशी की लहर दौड़ गई कि वैद्य के इलाज़ से राजा की हालत सुधर गई है। प्रार्थनाएँ और मंगल-गान होने लगे, वैद्य का जय-जयकार होने लगा। और कुछ ही दिनों में राजा स्वस्थ हो गया। वह और लोमड़ी मिलकर निहायत ही योग्यता और कुशलता से राज करने लगे। वैद्य के सिवा इस रहस्य की किसी को भी जानकारी नहीं हो पाई कि यह चमत्कार कैसे हुआ। आज भी राजा जब बाघ की पूँछ पर हाथ फेरता है या उसके पाँव चाटता है तो जादू की तरह उसके भीतर आत्म-विश्वास की लहरें आने लगती हैं। जटिल-से-जटिल समस्या के हल उसके दिमाग के सामने खुद ही खुलने लगते हैं। इस तरह वह दिन-रात अपनी साधना में लगा, योग्यता-पूर्वक राज-काज चला रहा है।

—राजेन्द्र यादव

प्रश्न-अभ्यास

१. लेखक ने यह कहानी किस उद्देश्य से लिखी है ?

   (क) पशुओं की सामान्य मनोभावनाओं का वर्णन करने के लिए।

   (ख) लोमड़ी की चालाकी के बारे में जानकारी देने के लिए।

   (ग) समाज के कुछ विशेष लोगों पर व्यंग्य करने के लिए।

   (घ) राजा और प्रजा के संबंधों पर प्रकाश डालने के लिए।

   (ङ) सियार की शासन-व्यवस्था के बारे में जानकारी देने के लिए।

२. राज्य मिल जाने के बाद रँगे सियार के सामने कौन-कौन-सी समस्याएँ आईं और उसने उनका समाधान किस प्रकार किया ?

३. प्रस्तुत कहानी के पात्रों के प्रतीकार्थ स्पष्ट कीजिए।

४. रँगे सियार की उन विवशताओं का वर्णन कीजिए जिनके कारण सब कुछ समझते हुए भी वह लोमड़ी पर निर्भर रहा।

५. इस कहानी में समाज के किस-किस वर्ग पर और उनकी किन-किन कमजोरियों पर व्यंग्य किया गया है और किस-किस प्रकार ?

६. इस कहानी के शीर्षक की उपयुक्तता पर टिप्पणी करते हुए बताइये कि इसमें गुलाम कौन है ? इस कहानी की शैली पर 'पंचतंत्र' की किसी कहानी को आगे बढ़ाकर लिखिए।

७. किसी भी कहानी को पढ़ते समय उसके किसी-न-किसी पात्र के प्रति पाठक के मन में सहानुभूति जग जाती है। 'गुलाम' कहानी के किस पात्र के प्रति आपके मन में सहानुभूति पैदा होती है और क्यों ?

८. यह कहानी 'बूढ़ी काकी' या 'ममता' से किस प्रकार भिन्न है ?

हजारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का जन्म सन् १९०७ ई० में जिला बलिया (उत्तर प्रदेश) के एक छोटे-से ग्राम ओझौलिया में हुआ। इन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से ज्योतिष एवं संस्कृत की उच्च शिक्षा प्राप्त की। सन् १९३० से १९५० ई० तक ये शांतिनिकेतन के हिन्दी-भवन के अध्यक्ष के रूप में कार्य करते रहे। सन् १९५० से १९६० ई० तक ये हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे। तत्पश्चात् पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ में अध्यक्ष एवं प्रोफ़ेसर के पद पर प्रतिष्ठित किए गए। आजकल अवकाश ग्रहण कर आप अपना पूरा समय साहित्य-सेवा को दे रहे हैं। लखनऊ विश्वविद्यालय ने इन्हें डी० लिट० उपाधि से और भारत सरकार ने पद्मभूषण अलंकार से सम्मानित किया है।

द्विवेदी जी के अध्ययन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, बंगला आदि भाषाओं एवं इतिहास, दर्शन, संस्कृति, धर्मशास्त्र आदि विषयों का इन्हें गहरा ज्ञान है।

हजारीप्रसाद जी का पांडित्य इनके निबंधों में अत्यंत सरस बनकर प्रकट हुआ है। निबंधकला की दृष्टि से हिन्दी-निबंधकारों में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। आपकी भाषा में भाषण-शैली का प्रवाह एवं ओज है तथा संस्कृत, अँगरेजी, उर्दू आदि शब्दों का भी आपने निस्संकोच प्रयोग किया है।

'सूर-साहित्य', 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका', 'कबीर', 'नाथसंप्रदाय' और 'हिन्दी-साहित्य का 'आदिकाल' इनके प्रसिद्ध आलोचना-ग्रंथ हैं। 'विचार और वितर्क', 'अशोक के फूल', 'विचार प्रवाह' 'कुटज' आदि निबंधों के संकलन हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारु चंद्रलेख' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं।

'परंपरा बनाम आधुनिकता' विचारात्मक निबंध है जिसमें लेखक ने बड़ी तार्किक दृष्टि से दोनों का विवेचन करके अपना निष्कर्ष दिया है। लेखक का निष्कर्ष पाठकों को ग्राह्य होगा, इसमें संदेह नहीं। वर्तमान भारत के लिए यह एक चुनौती भरा प्रश्न है कि वह अपनी परंपराओं को ढोता चले अथवा उनको सर्वथा त्याग करके आधुनिकता को अपना ले। ऐसी स्थिति कदाचित् दुर्भाग्यपूर्ण होगी। लेखक ने बड़े कौशल और युक्ति से यह साफ़-साफ़ बता दिया है कि परंपरा की बुनियाद पर ही आधुनिकता टिक सकती है। अपने कथन के समर्थन में लेखक ने भाषा और साहित्य दोनों से ठोस उदाहरण दिए हैं। 'खड़ा पैर परंपरा है और चलता पैर आधुनिकता' यह वाक्य हृदयंगम करने योग्य है। लेखक ने परंपरा एवं आधुनिकता दोनों को ही गतिशील प्रक्रिया बताया है।

परंपरा बनाम आधुनिकता

ऊपर-ऊपर से ऐसा लगता है कि परंपरा, अब तक के सभी आचार-विचारों का जमाव है। सभी पुरानी बातें परंपरा कह दी जाती हैं। जब कि सत्य यह है कि परंपरा भी एक गतिशील प्रक्रिया की देन है।

हमने अपनी पिछली पीढ़ी से जो कुछ प्राप्त किया है, वह समूचे अतीत की पुंजीभूत विचार-राशि नहीं है। सदा नए परिवेश में कुछ पुरानी बातें छोड़ दी जाती हैं और नई बातें जोड़ दी जाती हैं। एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को हूबहू वही नहीं देती, जो अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ी से प्राप्त करती है। कुछ-न-कुछ छँटता रहता है, बदलता रहता है, जुड़ता रहता है। यह निरंतर चलती रहने वाली प्रक्रिया ही परंपरा है

'परंपरा' का शब्दार्थ है, एक दूसरे को, दूसरे से तीसरे को दिया जानेवाला क्रम। कभी-कभी गलत ढंग से इसे अतीत के सभी आचार-विचारों का बोधक मान लिया जाता है। पर परंपरा से हमें समूचा अतीत नहीं प्राप्त होता। उसका निरंतर निखरता, छँटता, बदलता रूप प्राप्त होता है। उसके आधार पर हम आगे की जीवन पद्धति को रूप देते हैं।

एक उदाहरण लें। भाषा हमें परंपरा से प्राप्त हुई है। वह वैदिक युग की भाषा नहीं है, अपभ्रंश युग की नहीं है, यहाँ तक कि वह आज से पच्चीस वर्ष पूर्व की भी नहीं है। काल-प्रवाह में बहती हुई, समकालीन संदर्भ से बिखरती हुई, अनावश्यक बातों की छँटनी करती हुई, नए उपादानों से बढ़ती और बदलती हुई वह जिस रूप में इस पीढ़ी को प्राप्त हुई है, वही आज का परंपरा-प्राप्त रूप है।

वह समूचे अतीत के शब्दों को लिए-लिए यहाँ तक नहीं पहुँची है। शब्द बदल

गए हैं, ऐसे भी शब्द उसमें आ गए हैं, जो पहले नहीं थे, ऐसे बहुत से छूट गए हैं, जो पहले प्रचलित थे, ऐसे भी बहुत हैं, जो लगते तो पुराने हैं, पर जिनके अर्थ में परिवर्तन हो गया है। और तो और, वाक्य-विधान और व्याकरण में भी परिवर्तन हुए हैं। फिर भी वह अतीत से एकदम असंयुक्त भी नहीं है। वही स्थिति समस्त आचार-विचारों के क्षेत्र में है।

इस प्रकार परंपरा का अर्थ विशुद्ध अतीत नहीं है, बल्कि एक निरंतर गतिशील जीवंत प्रक्रिया है। उसमें हमें जो कुछ मिलता है, उसपर खड़े होकर आगे के लिए कदम उठाते हैं। नीति-वाक्य में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है—'चलत्येकेम पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान्', बुद्धिमान् आदमी एक पैर से खड़ा रहता है, दूसरे से चलता है।

यह केवल व्यक्ति-सत्य नहीं है, सामाजिक संदर्भ में भी यही सत्य है। खड़ा पैर परंपरा है, और चलता पैर आधुनिकता। दोनों का पारस्परिक संबंध खोजना बहुत कठिन नहीं, एक के बिना दूसरी की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

परंतु न तो परंपरा और न आधुनिकता ही काल-वाचक शब्द रह गए हैं। ये दोनों मनोभाव-वाचक अधिक हो गए हैं—वर्तमान परिस्थिति में तो कहीं अधिक मात्रा में।

'आधुनिकता' क्या है ? शब्दार्थ पर विचार करें, तो 'अधुना' या इस समय जो कुछ है, वह आधुनिक है। पर 'आधुनिक' का यही अर्थ नहीं है। हम बराबर देखते हैं कि कुछ बातें इस समय भी ऐसी हैं, जो आधुनिक नहीं हैं, बल्कि मध्यकालीन हैं। सभी भावों के मूल में कुछ पुराने संस्कार और नए अनुभव होते हैं।

यह समझना गलत है कि किसी देश के मनुष्य सर्वदा किसी विचार या आचार को एक ही समान मूल्य देते आए हैं। पिछली शताब्दी में हमारे देशवासियों ने अपने अनेक पुराने संस्कारों को भुला दिया है और बचे संस्कारों के साथ नए अनुभवों को मिलाकर नवीन मूल्यों की कल्पना की है।

उदाहरण के लिए साहित्य को लें। आज से दो सौ वर्ष पहले के सहृदय को

उस प्रकार के दुखांत नाटकों की रचना अनुचित जान पड़ती थी, जिनके कारण यवन-साहित्य इतना महिमामंडित समझा जाता है और जिन्हें लिखकर शेक्सपियर संसार के अप्रतिम नाटककार बन गए हैं। उन दिनों कर्मफल प्राप्ति की आवश्यंभाविता और पुनर्जन्म में विश्वास इतने दृढ़ भाव से बद्धमूल थे कि संसार की समंजस व्यवस्था में किसी असामंजस्य की बात सोचना एकदम अनुचित जान पड़ता था।

परंतु अब वह विश्वास शिथिल होता जा रहा है और मनुष्य के इसी जीवन को सुखी और सफल बनाने की अभिलाषा प्रबल हो गई है। समाज के निचले स्तर में जन्म होना अब किसी पुराने पाप का फल अतएव घृणास्पद नहीं माना जाता; बल्कि मनुष्य की विकृत समाज-व्यवस्था का परिणाम है; अतएव सहानुभूति योग्य है; ऐसा माना जाने लगा है।

साहित्य के जिज्ञासु को इन परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी नहीं हो, तो वह बहुत-सी बातों के समझने में गलती कर सकता है। और फिर परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करके ही हम यह सोच सकते हैं कि परिस्थितियों के दबाव से जो परिवर्तन हुए हैं, उनमें कितना अपरिहार्य है कितना अवांछनीय है और कितना ऐसा है, जिसे प्रयत्न करके वांछनीय बनाया जा सकता है।

यह गलत धारणा है कि मनुष्य कभी पीछे लौटकर हूबहू उन्हीं विचारों को अपनाएगा जो पहले थे। जो लोग मध्ययुग की भाँति सोचने की आदत को एक भयंकर वात्याचक्र की उलझन से निकलने का साधन समझते हैं, वे गलती करते हैं। इतिहास चाहे और किसी क्षेत्र में अपने को दोहरा लेता हो, विचारों के क्षेत्र में जो गया, सो गया। उसके लिए अफसोस करना बेकार है। पर इतिहास हमारी मदद अवश्य करता है। रह-रह कर प्राचीन काल के मानवीय अनुभव हमारे साहित्यकारों के चित्त को चंचल और वाणी को मुखर बनाते अवश्य हैं, पर वे व्यक्ति साहित्यकार की विशेषता के रूप में ही जी सकते हैं।

आधुनिक समाज ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है। अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है—सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास-अनुभव इसी की सिद्धि के साधन बनकर कल्याणकर और जीवनप्रद हो सकते हैं।

इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है—व्यष्टि-मानव के स्थान पर समष्टि-मानव का प्राधान्य। परंतु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब-जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है, तब-तब साहित्य नए काव्य-रूपों की उद्भावना करता है। इस बार भी ऐसा ही हुआ।

कभी-कभी मनुष्य किसी विशेष प्रकार के आचार या विचार को ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखने का प्रयास करता है। कितना कर पाता है, यह विवादास्पद विषय है। मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के मोह हैं। यह भी एक है। जब प्रयत्नपूर्वक किसी आचार या विचार को पीढ़ियों तक सुरक्षित रखने का प्रयत्न होता है, तो उसे 'संप्रदाय' कहा जाता है। संप्रदाय, परंपरा नहीं है। 'संप्रदाय' शब्द आजकल थोड़े भिन्न अर्थ में लिया जाने लगा है, पर उसका मूल अर्थ गुरु-परंपरा से प्राप्त विशुद्ध आचार-विचारों का संरक्षण ही है। इसमें प्रयत्नपूर्वक अविकृत रखने की भावना मुख्य रूप से काम करती है। परंपरा सहज है, संप्रदाय प्रयत्नसिद्ध।

आधुनिकता 'संप्रदाय' का विरोध करती है, क्योंकि आधुनिकता गतिशील प्रक्रिया है, 'संप्रदाय' स्थिति-संरक्षक। परंतु परंपरा से आधुनिकता का वैसा विरोध नहीं होता। दोनों ही गतिशील प्रक्रियाएँ हैं। दोनों में अंतर केवल यह है कि परंपरा यात्रा के बीच पड़ा हुआ अंतिम चरण है, जबकि आधुनिकता आगे बढ़ा हुआ गतिशील कदम है।

आधुनिकता अपने आप में कोई मूल्य नहीं है। मनुष्य ने अनुभवों द्वारा जिन

महनीय मूल्यों को उपलब्ध किया है, उन्हें नए संदर्भों में देखने की दृष्टि आधुनिकता है। यह एक गतिशील प्रक्रिया है। संदर्भ बदल रहे हैं, क्योंकि नई जानकारियों से नए साधन और नए उत्पादन सुलभ होते जा रहे हैं। बहुत-सी पुरानी बातें भुलाई जा रही हैं, नई सामग्रियाँ और नए कौशल नवीन संदर्भों की रचना कर रहे हैं। उनमें बहु-समादृत मानवीय मूल्यों का रूप कुछ बदला नजर आ रहा है। परंतु फिर भी उनका शाश्वत रूप बना रहता है। परंपरा से हमें इन मूल्यों का वह रूप प्राप्त होता है, जो अतीत के संदर्भ में बना था।

कोई भी आधुनिक विचार आसमान में नहीं पैदा होता है। सबकी जड़ परंपरा में गहराई तक गई हुई है। सुंदर-से-सुंदर फूल यह दावा नहीं कर सकता कि वह पेड़ से भिन्न होने के कारण उससे एकदम अलग है। कोई भी पेड़ दावा नहीं कर सकता कि वह मिट्टी से भिन्न होने के कारण उससे एकदम अलग है। इसी प्रकार कोई भी आधुनिक विचार यह दावा नहीं कर सकता कि वह परंपरा से कटा हुआ है। कार्य-कारण के रूप में, आधार-आधेय के रूप में परंपरा की एक अविच्छेद्य शृंखला अतीत में गहराई तक—बहुत गहराई तक गई हुई है।

आधुनिकता, ज्ञान की अत्याधुनिक उपलब्धियों के आलोक में रूप ग्रहण करने का प्रयास करती है, इसीलिए बौद्धिक है। परंपरा केवल मनुष्यों के प्रयोजनों से छँटती-कटती ही नहीं है, उसकी विनोदिनी और कुतूहली वृत्ति से अन्यथा रूप भी ग्रहण करके आती है। इसीलिए वह पूरी इतिहास-सम्मत नहीं होती। कई बार शब्द उसमें नया रस भरते हैं, कई बार सामयिक विश्वास उसे नए आकार-प्रकार देते हैं। इतिहास से वह भिन्न हो जाती है और कभी बाह्य यथार्थ के तर्कसम्मत रूप से भी अलग हो जाती है।

परंपरा इतिहास-सम्मत नहीं हो सकती, पर भूले इतिहास को खोज निकालने का सूत्र देती है। इस इतिहास से निखरी दृष्टि आधुनिकता की पहली शर्त है। जिसे इतिहास की नई दृष्टि प्राप्त नहीं है, वह हजारों वर्षों के मानवीय प्रयासों का रसास्वाद

नहीं कर सकता, भविष्य के मानव-चित्र को सरस-कोमल बनानेवाले प्रयासों की कल्पना नहीं कर सकता।

जो मनुष्य, मनुष्य को उसकी सरल वासनाओं और अद्भुत कल्पनाओं के राज्य से वंचित करके भविष्य में उसे सुखी बनाने के सपने देखता है, वह ठूंठ तर्क-परायण कठमुल्ला ही हो सकता है।

परंपरा आधुनिकता को आधार देती है, उसे शुष्क और नीरस बुद्धि-विलास बनने से बचाती है। उसके प्रयासों को अर्थ देती है, उसे असंयत और बिश्रृंखल उन्माद से बचाती है। परंपरा और आधुनिकता ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं, परस्पर पूरक हैं।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

प्रश्न-अभ्यास

१. परंपरा के संबंध में सामान्य धारणाएँ क्या हैं? लेखक ने उनका खंडन करके परंपरा का कौन-सा स्वरूप निर्धारित किया है?

२. परंपरा का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए लेखक ने भाषा का उदाहरण लिया है। इसी प्रकार आप किसी सामाजिक रीति-रिवाज या आचार-विचार का उदाहरण देकर परंपरा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

३. 'खड़ा पैर परंपरा है, और चलता पैर आधुनिकता।' इसमें निहित रूपक को स्पष्ट कीजिए।

४. "परंतु न तो परंपरा और न आधुनिकता ही काल-वाचक शब्द रह गए हैं। ये दोनों मनोभाव-वाचक अधिक हो गए हैं—वर्तमान परिस्थिति में तो कहीं अधिक मात्रा में।"
काल-वाचक और मनोभाव-वाचक शब्दों को स्पष्ट करते हुए इस कथन की व्याख्या कीजिए।

५. 'आधुनिकता' शब्द का अर्थ क्या है ? लेखक के अनुसार आधुनिकता का स्वरूप निर्धारित कीजिए।

६. "पिछली शताब्दी में हमारे देशवासियों ने अपने अनेक पुराने संस्कारों को भुला दिया है और बचे संस्कारों के साथ नए अनुभवों को मिलाकर नवीन मूल्यों की कल्पना की है।" कुछ ऐसे पुराने संस्कारों का उल्लेख कीजिए जिन्हें हमने भुला दिया है और कुछ ऐसे संस्कारों का वर्णन कीजिए जिनमें नए अनुभवों को मिलाकर नए मूल्यों की हमने कल्पना की है।

७. भारतीय समाज के कुछ परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों का उल्लेख कीजिए।

८. "परंपरा सहज है, संप्रदाय प्रयत्न-सिद्ध।" विवेचना कीजिए।

९. लेखक ने परंपरा और आधुनिकता दोनों को गतिशील प्रक्रियाएँ कहा है ? दोनों की गतिशीलता में उसने क्या अंतर दिखाया है ?

१० परंपरा और आधुनिकता में क्या अंतर है ? लेखक ने दोनों को परस्पर विरोधी सिद्ध न कर पूरक क्यों कहा है ?

११. वाक्य-विन्यास, उपवाक्य-विन्यास और पदबंध-विन्यास की दृष्टि से इस पाठ की भाषा-शैली की कोई तीन विशेषताएँ सोदाहरण उद्घाटित कीजिए।

जगदीशचंद्र माथुर

श्री जगदीशचंद्र माथुर का जन्म १६ जुलाई, सन् १६१७ ई० को खुरजा (उत्तर प्रदेश) में हुआ। आपके पिता अपने समय के लब्धप्रतिष्ठ शिक्षक थे। बाल्यकाल से ही श्री माथुर के हृदय और मस्तिष्क पर माता-पिता के त्याग एवं तपस्यामय जीवन के संस्कार जमते गए।

हाई स्कूल के छात्र जीवन में ही आपको नाटक और रंगमंच के संपर्क में आने का अवसर मिला। विद्यालय के विविध कार्यक्रमों एवं वार्षिकोत्सवों के लिए आप नाटक के लेखन व निर्देशन की व्यवस्था करते और प्रायः पात्रों की भूमिका में भी उतरा करते। हाई स्कूल के उपरांत जब आप प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए तो आपके प्रयास से विश्वविद्यालय के रंगमंच पर अभिनीत होने वाले हिन्दी नाटकों को गति मिली। इसके लिए आपने सामाजिक समस्याओं को लेकर नाटक लिखे।

एम० ए० परीक्षा के बाद आपने आई० सी० एस० की प्रतियोगिता परीक्षा उत्तीर्ण की। इंडियन सिविल सर्विस के सदस्य के रूप में आप बिहार राज्य के शिक्षा सचिव एवं आकाशवाणी के महानिदेशक, सूचना और प्रसारण मंत्रालय के संयुक्त सचिव, तिरहुत डिवीजन में कमिश्नर आदि उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर कार्य करते रहे। सरकारी दायित्व का पूर्ण निर्वाह करते हुए भी आप साहित्य-साधना में सदा संलग्न रहे। आप भारत सरकार के गृह विभाग में हिन्दी सलाहकार के पद पर भी कार्य कर चुके हैं।

आपका प्रथम एकांकी 'मेरी बाँसुरी' सन् १६३३ ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुआ। अब तक आपके दो नाटक-- 'कोणार्क' और 'शारदीया' तथा दो एकांकी-संग्रह 'भोर का तारा' और 'ओ मेरे सपने'—प्रकाशित हो चुके हैं। इनसे हिन्दी एकांकियों को एक नई दिशा मिली है। मध्य-वर्गीय जीवन की कहानी श्री माथुर के एकांकियों का आधार रही है। आपके व्यंग्यप्रधान एकांकी बड़े सरस बन पड़े हैं। 'दस तस्वीरें' और 'जिन्होंने जीना जाना' आपके सफल संस्मरणात्मक रेखाचित्र हैं।

संकलित पाठ 'कोणार्क' का प्रथम अंक है जिसमें कला का सौन्दर्य, कलाकारों की प्रतिभा एवं समस्याएँ और अधिकारियों के भीषण अत्याचार आदि का दिल दहला देनेवाला चित्रण हुआ है। धर्मपद का चरित्र, वास्तव में, विशेष आकर्षित करता है जिसके संपूर्ण विकास के लिए पूरे नाटक का अध्ययन अपेक्षित है।

८. कोणार्क

पात्र :

विशु : उत्कल राज्य का प्रधान शिल्पी और कोणार्क का निर्माता
धमपद : एक प्रतिभाशाली युवक शिल्पी
राजराज चालुक्य : उत्कल-नरेश नरसिंहदेव का महामात्य
मुकुंद : विशु का मित्र और प्रौढ़ शिल्पी
राजीव : प्रधान पाषाण-कोर्तक

प्रथम अंक

(ईसवी सन् १२६० के लगभग, कोणार्क मंदिर में विशु के कक्ष का भीतरी भाग। यह महाशिल्पी विशु का निवास-स्थान है। सामने तीन द्वार हैं, जिनमें से बीच वाले को छोड़ कर बाकी दोनों खिड़की जान पड़ती हैं। खिड़की के बराबर स्तंभ है। खिड़कियों और सामने वाले द्वार में से मुख्य मंदिर और जगमोहन की झलक दिखाई पडती है—पूरी झलक नहीं, सिर्फ मेधि से ऊपर और छप्र से नीचे का अंश जिस पर अंकित कुछ सुंदर मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। मंदिर की यह झलक जितनी सजावटपूर्ण है, उसकी अपेक्षा महाशिल्पी का निवास स्थान, यह कमरा अत्यंत सादा और अलंकारविहीन है। इधर-उधर कुछ आधी उत्कीर्ण मूर्तियाँ पड़ी हैं। कुछ पाषाण-खंड रखे हैं, जिन पर की गई खुदाई नज़र पड़ रही है। कुछ छेनियाँ और अन्य औज़ार भी पड़े हैं। बाईं खिड़की के पास एक लंबी चौकी रखी है जिसके सिरहाने की तरफ लकड़ी की ऊँची पीठ है, जैसी कि अक्सर प्राचीन सिंहासनों में हुआ करती थी। चौकी पर एक सादा कालीन बिछा है। चौकी पर भारी चिन्तित अवस्था में बैठे हैं महाशिल्पी विशु। उनके हाथ चौकी की पीठ पर हैं और हाथों पर ठुड्डी है। हमें उनका

पूरा मुख नहीं दीख पड़ता, क्योंकि उनकी दृष्टि बीच वाले द्वार में होती हुई मुख्य मंदिर पर पड़ी हुई है। कमरे में आने का एक द्वार दाहिनी तरफ़ भी है और इस दृश्य में अधिकतर अभिनेता इसी द्वार से आते-जाते हैं। इस समय इस द्वार के निकट कोणार्क के प्रधान पाषाण-कोर्तक राजीव खड़े हैं। ऐसा मालूम होता है कि अभी बाहर से आए हैं और उन्होंने कुछ कहना समाप्त किया है। दाहिनी खिड़की से सटा हुआ जो स्तंभ है, उसका सहारा लिए हुए खड़े हैं, विशु के पुराने और अंतरंग बंधु मुकुंद जो स्वयं मंदिर के प्रमुख शिल्पियों में से हैं।

बातचीत के बीच में कभी-कभी मंदिर की तरफ़ से पत्थर पर खुदाई की आवाज़ आती है जिससे मालूम होता है कि काम जारी है।)

विशु : कब? आखिर कब हम अम्ल के ऊपर त्रिपटधर को स्थापित कर पाएँगे? आज दस रोज़ हो गए, केवल इसी के कारण मूर्ति का प्रतिष्ठापन नहीं हो रहा है। राजीव, तुम कहते हो कि तुमने कलश के अधोअंश को और हल्का कर दिया?

राजीव हाँ, फिर भी कलश ठहर नहीं पाता। मैंने अम्ल के हरेक अनुपात को फिर से नापा। कहीं कमी नहीं।

विशु : छप्र के ऊपरवाली भूमि के जोड़ तो ठीक हैं न?

मुकुंद : वे सब जोड़ तो तुम्हीं ने अपने हाथों से स्थापित किए थे, विशु!

विशु : जानता हूँ। लेकिन मंदिर की महती कल्पना मेरी बुद्धि के परे हो चली है। मुझे न मालूम था कि सूर्यदेव के जिस विशाल वाहन का स्वप्न मैं देखा करता था, वह सच्चा होते-होते इस पार्थिव धरातल से उठकर भगवान् भास्कर के चरण छूने के लिए उतावला हो उठेगा।

राजीव : राजनगरी के ज्योतिषी भानुदत्त का कहना है……

मुकुंद : उँह, ऐसी सारहीन भविष्यवाणियाँ विश्वास के योग्य नहीं।

विशु : ज्योतिषी क्या कहता है, राजीव ?

मुकुंद : (बीच में ही) कहता है कोणार्क देवालय ज्यों ही पूरा होगा, त्यों ही इसके पत्थरों में पंख लग जाएँगे और सारा मंदिर आकाश में उड़ जाएगा···ह, ह, ह !

विशु : (विचारपूर्ण मुद्रा) ज्योतिषी के वचन निरर्थक नहीं हैं, बंधु ! जानते हो, हमने पत्थर में जान डाल दी है, उसे गति दे दी है । (सोत्साह) वह भूल रहा है कि वह धरती का पदार्थ है ; उसके पैर धरती पर नहीं टिकते । पत्थर का यह मंदिर आज कल्पना के स्पर्श से हवा की तरह गतिमान, किरण की तरह स्पर्शहीन, सुगंध की तरह सर्वव्यापी हो रहा है । लेकिन···लेकिन धरती उसे जकड़े हुए है, ईर्ष्या से ! मुझे लगता है जैसे अनजाने ही हम लोगों ने पृथ्वी और आकाश में भीषण संघर्ष खड़ा कर दिया है ।

मुकुंद : पृथ्वी और आकाश के संघर्ष की बात फिर सोचना विशु ! उत्कल के पृथ्वीपति की क्रोधाग्नि झेलने का भी कोई प्रबंध किया है ?

विशु : महाराज श्री नरसिंहदेव की क्रोधाग्नि ? उसे तो करुणा की फुहारें क्षण-भर में शांत कर देती हैं ।

मुकुंद : लेकिन वही फुहारें जब गर्म तवे पर पड़ती हैं, तब उसकी जलन और भी बढ़ जाती है और फुहारें छू-मंतर हो जाती हैं ।

विशु : तुम्हारा मतलब ?

मुकुंद : उत्कल-नरेश का क्रोध चाहे क्षणिक भले ही हो, लेकिन महामात्य राजराज चालुक्य उसे प्रज्ज्वलित रखते हैं और उन्होंने दया से पसीजना नहीं सीखा है ।

विशु : महामात्य चालुक्य राज्य के सब कुछ नहीं हैं । हमें उनसे इतने

भयभीत होने की आवश्यकता नहीं।

मुकुंद : तुम भ्रम में हो, बंधु ! तुम और हम लोग राजनगरी से दूर, यहाँ सागर के किनारे बारह बरस से एकांत में कला की साधना कर रहे हैं, लेकिन उत्कल की राजधानी में जो उलट-फेर हो रहे हैं, उनके विषय में हम कोरे हैं। महाराज नरसिंहदेव तो बंगप्रदेश में यवनों को पराजित करने में लगे हैं, किन्तु उत्कल का शासन तो महामात्य के हाथ में है।

राजीव : तात, दूर-दूर से आने वाले शिल्पी, महामात्य द्वारा किए गए अत्याचारों के समाचार लाते हैं। उनमें से कितनों के ही कुटुंबों पर महामात्य के अन्याय का हथौड़ा पड़ चुका है। दिन-प्रति-दिन तरह-तरह की आशंकाजनक खबरें आ रही हैं।

मुकुंद : सुना है, अब तो महादंडपाशिक के सब अधिकार भी उन्होंने हथिया लिए हैं।

राजीव : तब तो सारे दंडपाशिक सैनिक उनके अधीन होंगे।

मुकुंद : वही तो, राज्यसेना तो बंगप्रदेश में यवनों से लड़ रही है और इधर दंडपाशिक सैनिकों के बल पर महामात्य की शक्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ती ही जा रही है।

विशु : अरे भाई, हम शिल्पियों की तो दुनिया ही अलग है।

राजीव : धर्मपद तो यह बात नहीं मानता। आज ही वह विराम के पहले मुझसे कह रहा था...

मुकुंद : धर्मपद कौन ?

राजीव : एक किशोर शिल्पी। हाल ही में आया है। आयु शायद १८ वर्ष भी नहीं, किन्तु बुद्धि तीक्ष्ण है। आप से मिलना भी चाहता है।

विशु : क्यों ?

राजीव : साफ नहीं बताता। विचित्र जीव है। कभी तो मौन हो मंदिर के कलश की ओर निर्निमेष देखता रहता है और कभी अल्प समय में ही चमत्कारपूर्ण मूर्तियाँ तैयार कर देता है। कीर्तिस्तंभ पर गायकों के रूप उसी ने उत्कीर्ण किए हैं।

विशु : एक १८ वर्ष के किशोर ने ? राजीव, मैं उससे मिलूँगा।

राजीव : कहिए तो अभी बुला लाऊँ ? तात, उसकी ओजमयी वाणी में आपको विस्मृत विद्रोह का ताप मिलेगा।

विशु : मेरी कला में जीवन का प्रतिबिम्ब और उसके विरुद्ध विद्रोह दोनों सन्निहित हैं। तुम उस किशोर को बुला लाओ। मेरी दृष्टि के स्पर्श से उसकी प्रतिभा की गंध जागृत होकर उसकी वाणी को मौन कर देगी। मुझे उसकी कला चाहिए। (राजीव का प्रस्थान)

विशु : तुम चुप हो मुकुंद ?

मुकुंद : हाँ, उस किशोर के लिए तुम्हारी आतुरता ने मुझे उद्विग्न क दिया है।

विशु : बंधु, नए शिल्पी की प्रतिभा ही तो मेरी प्रेरणा है।

मुकुंद : किन्तु आज तुम्हारी आतुरता के पीछे विवशता दीख रही है।

विशु : (कुछ रुककर) सच है, मुकुंद ! मेरे हाथों की बेबसी मुझे अक्षम बना रही है और पूँजीहीन व्यापारी की भाँति मैं दूसरे का मुँह ताक रहा हूँ।......क्या मेरी कला मेरे सपनों को अधूरा ही रखेगी, मुकुंद ?

मुकुंद : असंभव ! महाशिल्पी विशु अपने को भूल रहा है। भूल रहा है, कैसे उसने भुवनेश्वर में मंदिर के जगमोहन को पूरा किया था, भूल रहा है, कैसे स्वर्गीय महाराज अनंतवर्मन देव के दरबार में विद्युत की भाँति उसके हस्त-कौशल ने सबको चकाचौंध कर दिया था।

विशु : (स्मृति की रज्जु पकड़ते हुए) वे पुरानी बातें हैं।

मुकुंद : उन्नीस-बीस वर्ष पहले की चर्चा को मैं पुरानी नहीं मानता। मुझे तो आज की-सी बात याद है, तुम्हारा महाराज के राज दरबार में भीत हृदय और मौन लालसा का भार लिए आना—

विशु : (सावेश) ठहरो !

मुकुंद : (निकट जाकर उसके कंधे पर हाथ रखता हुआ) तुम बहुत उद्विग्न हो विशु !

विशु : तुमने अचानक ही एक भूली अँधेरी कोठरी में प्रकाश की किरण डाल दी।

मुकुंद : वही मैं चाहता हूँ तुम्हारे भूले यौवन, भूले उत्साह, भूली प्रेरणा को ज्योतित करना, जिससे कोणार्क अधूरा न रहे।

विशु : भूले यौवन की वह ज्योति एक झुलसा देनेवाली लपट का परिणाम थी मुकुंद ! उस आग को पुनः प्रज्ज्वलित कर सकोगे ?

मुकुंद : आग ?

विशु : हाँ ? उद्दाम और उच्छृंखल प्रेम की आग जो एक दिन मेरा परिधान बन गई थी, उसी परिधान का वियोग मेरी कला का उद्गम हुआ, और मेरे हाथों का पत्थर उसी ताप से मुलायम होकर सौंदर्य हो चला। आज वह गर्मी कहाँ पत्थर को पिघला दे।

मुकुंद : कोणार्क की सिद्धि के लिए हम तुम्हारी प्रेयसी को यहीं ले आएँगे।

विशु : चंद्रलेखा को ? असंभव।

मुकुंद : चंद्रलेखा ! कितना सुंदर नाम है।

विशु : यही नाम मैंने उसे दिया था, क्योंकि उसका जंगली नाम मुझे भाता ही नहीं था।

मुकुंद : जंगली ?

विशु : हाँ, मुकुंद, वह एक जंगली युवती थी। शवर-किशोरी। हमारे नगर में हाट के दिन अपने गाँव वालों के संग जंगली छाल, जड़ियाँ इत्यादि बेचने आती।

मुकुंद : और तुम, आर्य नागरिक के पुत्र, उस पर मुग्ध हो गए। खूब !

विशु : वह वन की कली थी, चट्टान को फोड़कर बहनेवाली निर्द्वन्द्व, निष्कलुष जलधारा, मदभरे पावस-सी उन्मत्त, पुष्पावृत्ता, कामिनी-सी संपन्न।

मुकुंद : (किंचित् मुस्कराहट) हूँ।

विशु : उसके प्रेमपाश में मेरे सपनों के लिए घोंसला मिल गया और हम दोनों स्वर और ताल की भाँति एक दूसरे पर रीझ गए।

मुकुंद : जब वह रागिनी टूटी तभी तुम्हारी कला प्रस्फुटित हुई विशु !

विशु : हाँ, उस भग्न रागिनी का विषाद मेरी कला का वैभव था। यदि चंद्रलेखा से वियोग न होता, तो शायद मेरी कला सोई पड़ी रहती। किन्तु अब लगता है, उस वियोग के पंथ से भटक गया हूँ।

मुकुंद : शायद बीस वर्ष बाद मिलन की घड़ी में तुम्हारी गुप्त व्यथा जगे।

विशु : मिलन ? वह मेरा मुँह भी देखना नहीं चाहेगी।

मुकुंद : क्यों ?

विशु : बीस बरस हुए जब मैं उसे छोड़कर भागा, तब वह माँ बननेवाली थी।

मुकुंद : विवाह से पहले ही ?

विशु : हाँ, मुकुंद ! वह मेरे कायरपन की कथा है। जब मैंने यह सुना, तो उसे अपनाना तो दूर रहा, मैं उससे दूर भागा। नदी पर बढ़ते साँझ

के अँधेरे की तरह मेरी बुद्धि पर तंद्रा छा गई और मैं चला आया —बहुत दूर—भुवनेश्वर में, देवमंदिरों की छाया में, कला के आँचल में, अपना मुँह छिपाने।

मुकुंद : विशु महाराना की संतान शवरों के बीच में ?

विशु : देखते हो यह भुजबंध (भुजा पर बँधे काले पत्थरों के बंध को दिखाता है)। उसी ने दिया था और मैंने भी उसे गले में बाँधने के लिए अपने हाथों से लकड़ी पर गढ़कर कामदेव की प्रतिमा दी थी।

मुकुंद : विशु, कोणार्क को पूरा करके तुम चलो शवर अटीविका और चंद्रलेखा और अपनी संतान को खोज निकालो। वही तुम्हारा प्रायश्चित होगा।

विशु : मुकुंद, यदि कोणार्क पूरा न हुआ, तो मैं उसे तोड़ दूँगा।

मुकुंद : इस विशाल भवन को तो भूकंप ही गिरा सकता है, या काल।

विशु : नहीं मुकुंद। एक रहस्य तुम नहीं जानते। सूर्य भगवान् की मूर्ति निराधार स्थित है, चुंबक के आकर्षण से। यदि मैं चुंबक को हटा दूँ, तो यह विशाल मूर्ति धराशायी होगी और……

(राजीव का प्रवेश। साथ में एक और युवक। आयु लगभग १८ वर्ष। साँवला रंग। उसके दृढ़ कपोल, तेजोमयि आँखें, घुँघराले बाल घोषित करते हैं कि वह असाधारण वृत्ति का व्यक्ति है। तंग अँगरखा और ऊँची धोती पहने है। राजीव के पीछे-पीछे आकर द्वार के निकट खड़ा होता है। जब विशु से बातें करता है, तब उसकी दृष्टि मानो विशु की काया के नीचे अंतर्हित किसी पुरातन विशु को खोजती है।)

राजीव : आचार्य, यही वह युवक है—धर्मपद ।

विशु : तुम । (धर्मपद प्रणाम करता है) सुना है तुम आशु-शिल्पी हो। इतनी छोटी आयु में तुम्हें किस गुरु ने दीक्षा दी ?

धर्मपद : किसी ने नहीं आचार्य । मैं शिल्पी बना, क्योंकि मुझे जीवित रहना था ।

विशु : कला तुम्हारा जीवन है, यही न ?

धर्मपद : कला मेरे जीवन का साधन है। मैं उससे अपना पेट भरता हूँ, भरण-पोषण करता हूँ।

विशु : वह सारे जीवन का प्रतिबिम्ब है । देखो, हमारे कोणार्क देवालय को आँखें भरकर देखो। यह मंदिर नहीं, सारे जीवन की गति का रूपक है।

धर्मपद : अपराध क्षमा हो आचार्य, आपकी कला संघर्ष को भूल गई है । जब मैं इन मूर्तियों में बँधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ तो मुझे याद आती है पसीने में नहाते हुए किसान की, कोसों तक धारा के विरुद्ध नौका को खेनेवाले मल्लाह की, दिन-दिन भर कुल्हाड़ी लेकर खटनेवाले लकड़हारे की···इनके बिना जीवन अधूरा है, आचार्य !

विशु : लेकिन कला नहीं। कला की पूर्ति चयन में है—छाँटने में। जंगल में तरह-तरह के फूल, पौधे, वृक्ष चाहे जहाँ उगे रहते हैं, लेकिन उपवन में माली छाँट-छाँटकर सुंदर और मनमोहक पौधों और वृक्षों को ही रखता है।

धर्मपद : छाँटनेवाली आँखों का खेल है आचार्य ! आज के शिल्पी की आँखें वहाँ नहीं पड़तीं, जहाँ धूल में हीरे छिपे पड़े हैं ।

राजीव : मैं ठीक कहता था न, तात, धर्मपद तर्क-निपुण है ?

धर्मपद : मैं तर्क करने नहीं आया हूँ। इस मंदिर में बरसों से १२०० से ऊपर शिल्पी काम कर रहे हैं। इनमें से कितनों की पीड़ा से आप परिचित हैं ? जानते हैं आप कि महामात्य के भृत्यों ने इनमें से बहुतों की जमीन छीन ली है, और उधर सारे उत्कल में अकाल पड़ रहा है ? (बाहर हलचल मानो अश्वारोही आ रहे हों)।

विशु : राज्य की बातों में पड़ना शिल्पियों के लिए अनुचित है।

धर्मपद : यह भी तो उचित नहीं कि जब चारों ओर अत्याचार की लपटें बढ़ रही हों तो शिल्पी विलास की मूर्तियाँ ही बनाता रहे। यदि मुझे महाशिल्पी के अधिकार मिले होते तो···

मुकुंद : तो तुम कोणार्क को अब तक कभी का पूरा कर चुके होते। हँ···हँ ···हँ···(अविश्वास का हास्य)

धर्मपद : पूरा करना अब भी कठिन नहीं। (बाहर कोलाहल बढ़ रहा है)

मुकुंद : क्या ? धर्मपद तुम भूल रहे हो कि तुम महाशिल्पी आचार्य विशु के सामने खड़े हो। पिछले दस दिन से निरंतर चेष्टा करने पर भी ये मंदिर पर कलश को स्थापित नहीं कर सके और तुम—शास्त्रीय अध्ययन और अनुभव से शून्य तुम कहते हो इसे पूरा करना कठिन नहीं। अपनी शक्ति से बाहर की बात न करो युवक !

विशु : (जो अब तक मौन हो इस वार्तालाप को सुनता रहा है) नहीं मुकुंद, उसे अपनी बात पूरी कहने दो। बोलो युवक, क्या तुम अम्ल के ऊपर शिखर को स्थापित कर सकते हो ? ·· सोच-समझकर उत्तर दो। यह साधारण समस्या नहीं है। (इतने में कोलाहल बहुत बढ़ जाता है। तेजी के साथ राजीव का प्रवेश)

राजीव : (हाँफते हुए) आचार्य ! महामात्य चालुक्य आ रहे हैं।

सब एक साथ : चालुक्य ! !

विशु : चालुक्य ? यहाँ आ रहे हैं, बिना पूर्व सूचना दिए ?

राजीव : जी हाँ, कई अश्वारोही साथ हैं। (बाहर तुरही की आवाज़) सुनिए ! (दूर से उच्च स्वर में प्रतिहारी बोलता है—"सावधान, सावधान श्री महामात्य मापदंडपाशिक राजराज चालुक्य पधारते हैं, सावधान।")

मुकुंद : महादंडपाशिक ! सुना तुमने, विशु ? (खिड़की से झाँकता है)

विशु : ऐसी जल्दी में महामात्य का हम यथोचित स्वागत कैसे कर सकते हैं ? राजीव, अंदर से वेत्रासन तो ले आओ ! (राजीव बाईं तरफ जाता है और एक वेत्रासन लेकर लौटता है)—युवक, तनिक इस तोशक और चादर को भली भाँति रख दो (धर्मपद चौकी के तोशक इत्यादि को ठीक करता है)—मुकुंद, महामात्य प्राचीर के अंदर आ गए !

मुकुंद : (खिड़की से मुँह हटाते हुए) वे यहीं सीधे आ रहे हैं, विशु ! (रुककर) महामात्य का इस तरह सहसा आना मुझे अच्छा नहीं लगता, विशु ! (नेपथ्य में निकट आता हुए स्वर "सावधान, सावधान")

राजीव : आचार्य ! वे आगे आ गए—

(दो प्रतिहारियों का प्रवेश। प्राचीन भटों का वेश, कंधों पर गदा या खड्ग। अंदर आकर द्वार के दोनों ओर खड़े हो जाते हैं। उसके बाद महामंत्री चालुक्य आते हैं। पुष्ट काय, आयु लगभग ४५, मुख पर क्रूर मुद्रा, बड़ी-बड़ी मूँछें। नेत्र छोटे हैं और बातें करते वक्त और संकुचित लगते हैं। बातचीत के वक्त भौंहें सिकुड़ जाती हैं और बाएँ हाथ से ठुड्डी को सहलाते भी हैं। पोशाक—पुराने ढंग से बाँधी हुई धोती, रेशमी उत्तरीय, सुवर्णपट मस्तक पर, बाजू पर एक बाजूबंद, कमर में कटार। उत्तरीय कुछ लटक रहा है और एक

हाथ से उसे पकड़ते हुए वेग से अंदर आते हैं और पूछे जाने से पहले ही बैठ जाते हैं। धर्मपद बीचवाले दरवाज़े के पास खड़ा है, मुकुंद खिड़की के पास, राजीव दरवाज़े के निकट और विशु सबके बीच में कुछ आगे। सभी लोग झुककर महामात्य को प्रणाम करते हैं। कुछ क्षण के लिए स्तब्धता।)

चालुक्य : (कमरे के सभी व्यक्तियों पर सरसरी निगाह डालकर फिर विशु पर आँखें ठहरा देते हैं) तुम जानते हो विशु, मैं क्यों इस तरह सहसा आया हूँ ?

विशु : आर्य के आने की कोई पूर्व सूचना नहीं मिली—

चालुक्य : सूचना देता तो तुम लोगों का भंडाफोड़ कैसे होता ?

विशु : जी ?

चालुक्य : राजनगरी में मैंने ठीक सुना था कि कोणार्क में राजकोष का धन नष्ट हो रहा है। न शिल्पी लोग ठीक काम कर रहे हैं, न मजदूर। दस दिन हो गए कलश तक स्थापित न हो सका।

विशु : हम लोग बराबर उसी की चेष्टा में लगे हुए हैं।

चालुक्य : (मुँह बनाते हुए) चेष्टा में लगे हुए हैं।...यहाँ तो मैं देखता हूँ गप्पें हो रही हैं। (सहसा धर्मपद पर दृष्टि पड़ जाती है, इशारा करते हुए) और यह युवक यहाँ क्यों खड़ा है ?

धर्मपद : मैं ? मैं आचार्य के सामने शिल्पियों की दुख-गाथा कह रहा था।

चालुक्य : शिल्पियों की दुख-गाथा ? प्रतिहारी, इसे धक्का देकर बाहर निकालो। मुफ्तखोर कहीं का।

धर्मपद : मैं आप ही जाता हूँ। (बीचवाले दरवाज़े से प्रस्थान। अपमानित अभिमान की मुद्रा)।

विशु : महामंत्री, आपके शब्द बहुत कटु हैं। उसे तो मैंने ही—

चालुक्य : कटु शब्द ! (पैशाचिक हास्य) अब कटु शब्दों से काम नहीं चलेगा विशु ! मैंने सुना है कि शिल्पी लोग राज्य के विरुद्ध सिर उठा रहे हैं, सुवर्ण मुद्राओं में वेतन माँगते हैं, और—

मुकुंद : महामात्य, आप को किसी ने बढ़ाकर खबर दी है। सुवर्ण मुद्रा भला ये बेचारे क्या माँगेंगे ? हाँ, यह अवश्य है कि इस अकाल के समय में उनके कुटुंबों पर महान् कष्ट आ पड़ा है।

चालुक्य : देखता हूँ तुम लोग भी इन्हीं में मिले हुए हो। मंदिर पूरा होना तो अलग रहा, यहाँ तुम लोग मिलकर राज्य पर दबाव डालने के लिए अभिसंधि कर रहे हो। इसे—

विशु : महामंत्री, मेरी भी सुनिए—

चालुक्य : चुप रहो। मैं तुम-जैसे लोगों को राह पर लाने की युक्ति भली भाँति जानता हूँ। (खड़ा हो जाता है) विशु, बरसों से बिनमाँगी प्रशंसा सुनते-सुनते तुम अपने को दंडविधान से परे समझने लगे हो। आज मैं तुम्हारे इस घमंड को चूर करने ही आया हूँ ...सुन लो और कान खोल कर सुन लो ! आज से एक सप्ताह के अंदर यदि कोणार्क देवालय पूरा न हुआ, तो (कुछ रुककर, शब्दों पर ज़ोर देते हुए) तुम लोगों के हाथ काट दिए जाएँगे।

(भयाक्रांत नीरवता)

विशु : (अविश्वासपूर्ण स्वर में) शिल्पियों के हाथ काट लिए जाएँगे ?

राजीव : (सरोष) हाँ, शिल्पियों के हाथ काट लिए जाएँगे। आज से आठवें रोज़ या तो मंदिर में सूर्यदेव की मूर्ति का प्रतिष्ठान होगा या बारह सौ व्यक्तियों की भुजाओं पर प्रहार।

(द्वार की ओर बढ़ता है, प्रतिहारी भी प्रस्थानोन्मुख होते हैं।)

मुकुंद : इतना भीषण दंड ?···क्या यही उत्कल-नरेश की आज्ञा है ?

चालुक्य : (रुकता हुआ) हाँ, हाँ। महाराज नरसिंहदेव की आज्ञा है।···और मेरी, महादंडपाशिक की आज्ञा है। (चलते समय सब लोगों पर क्रूर दृष्टि डालते हुए) उत्कल नरेश···हूँ! (प्रस्थान। पदचाप। थोड़ी देर बाद नेपथ्य से दूर होता हुआ स्वर "सावधान, सावधान, महामात्य महादंडपाशिक राजराज चालुक्य पधारते हैं—सावधान महामात्य"···स्वर मंद हो जाता है। इधर मंच पर सब लोग चुप खड़े हैं—चिन्तित)

राजीव : (नीरवता तोड़ते हुए भीत स्वर में) अब क्या होगा ?

मुकुंद : राजनगरी में अपराधियों के हाथ कटते मैंने देखे हैं। बड़ी पीड़ा होती है।

विशु : (मानो सपने में) उत्कल-नरेश की आज्ञा ? महाराज मेरी बरसों की सेवाओं पर इतना भीषण कुठाराघात करेंगे !

मुकुंद : क्या मालूम उत्कल-नरेश की आज्ञा है या महामात्य का अपना उत्पात। हमारे पास साधन भी नहीं, समय भी तो नहीं कि महाराज के मन की बात जान सकें। वे अभी तक बंगविजय के उपरांत लौटे भी नहीं हैं।

राजीव : सात दिन !—केवल सात दिवस के बाद हम सबों के हाथ काट लिए जाएँगे ?

मुकुंद : ये हाथ···(काँप कर हाथों को देखता हुआ) ये हाथ ? (सूखी हँसी)

राजीव : क्या कोई उपाय नहीं, आचार्य ? (पीछेवाले द्वार से धर्मपद आता हुआ दिखता है।)

धर्मपद : (आते-आते) एक उपाय है। (सब लोग उसकी ओर देखने लगते हैं)

राजीव : तुम फिर आ गए ? तुमको तो...

विशु : (क्षुब्ध स्वर) युवक, वह तुम्हारा अपमान नहीं, मेरी प्रतारणा थी।

धर्मपद : आचार्य, ठोकर खाकर धूल सिर पर चढ़ती है।

मुकुंद : सिर पर चढ़ने के सपने छोड़ दो युवक! कोणार्क के प्रांगण में सात रोज बाद उत्कल के समस्त शिल्पियों का रक्त बहेगा।

धर्मपद : मैंने सुना है। मैं बाहर पास ही खड़ा था।

विशु : युवक, विनाश का वह संदेश अपने साथियों को भी सुना दो, मुझमें साहस नहीं कि उस विकराल घड़ी के लिए उन्हें तैयार कर सकूँ।

धर्मपद : निर्दय अत्याचार की छाया में ही जो विकसते और मुझाते हैं, उनको एकाध विपत की घड़ी के लिए तैयार होने की जरूरत नहीं आर्य! ...लेकिन मैं कहता हूँ इसकी नौबत ही क्यों आए ?

विशु : मेरी बुद्धि साथ नहीं दे रही है।

धर्मपद : मुझे अवसर दें आचार्य।

विशु : तुम्हें ?

धर्मपद : महामंत्री के आने से पहले आपने मुझसे पूछा था—"क्या, तुम अम्ल के ऊपर शिखर को स्थापित कर सकोगे ?" मेरा उत्तर है आचार्य कि मुझे अवसर दिया जाए।

मुकुंद : तुम कर क्या सकोगे धर्मपद ? हम लोगों ने हर तरह से चेष्टा करके देख ली। पहले कलश कितना बड़ा था। अब उसे छोटा करके भी स्थित किया गया, लेकिन ठहरता ही नहीं। हरेक अनुपात सही है। आखिर करने को रह क्या गया है ?

धर्मपद : आर्य, शिल्पकला का शास्त्रीय अध्ययन तो मैंने नहीं किया, पर मुझे लगता है कि मंदिर के ऊपरी भाग में जो कमल की आकृति है—

मुकुंद : तुम्हारा मतलब अम्ल से है ?

धर्मपद : जी हाँ, उसी के केन्द्र में कलश स्थापित करना है। मुझे लगता है कि कोणार्क के इस कमल की पंखुड़ियाँ उल्टी हैं। उन्हें उलट देने पर कलश शायद ठहर सकेगा।

मुकुंद : पंखुड़ियाँ उलट दी जाएँ ?

धर्मपद : मेरा मतलब है कि हरेक पटल को फिर से इस तरह रखा जाए कि जो बाहरी हिस्सा है वह अंदर के केन्द्र पर हो और जो नुकीला भाग है वह बाहर निकले। इस तरह उसकी आकृति खिले कमल की-सी हो जाएगी, कली की-सी नहीं, लेकिन कलश स्थिर रहेगा। मेरे मन में जो चित्र है, उसे यों पूरी तरह तो नहीं समझा सकता, किन्तु यदि अवसर दिया जाए तो करके दिखाऊँ।

विशु : (मानो अंधे को टिमटिमाता प्रकाश दीखा हो) युवक ! तुम्हारी बात सारहीन नहीं जान पड़ती। अम्ल के केन्द्र पर शायद अधिक भार देने से कलश की यष्टि को सहारा मिले। (विचार-मग्न मुद्रा) हाँ, युवक मुझे पहले यह सूझा न था। अम्ल के बाहरी भाग पर इस समय जान पड़ता है अनुपात से अधिक भार है।...अगर...अगर हम उस भार को हल्का कर सकें। तुम ठीक तो कहते हो युवक (खड़े होते हुए), तुम ठीक कहते हो।...भार को हल्का करने के लिए अगर पटल को अंतर्मुखी कर दिया जाए तो संभव है, संभव है... संभव ! ! (कलाकार की भावना चरम बिन्दु पर पहुँच गई है।) धर्मपद, चलो मेरे साथ। अभी चलो। हम छप्र के ऊपर चढ़कर अभी तैयारी करेंगे—पटल बदलने की। अभी ! (मध्य-द्वार की ओर बढ़ता है।)

धर्मपद : ठहरिए !

विशु : (मानो स्वप्नभ्रष्ट हुआ हो) एं !

धर्मपद : ठहरिए ! ...यदि मेरी युक्ति सफल हो जाए और कोणार्क के शिखर को हम स्थापित कर सकें, तो मुझे क्या मिलेगा ?

विशु : तुम क्या चाहते हो ? जो कुछ मेरे हाथ है, तुम्हें दूंगा।

धर्मपद : मैं चाहता हूँ कि यदि शिखर पूरा हो जाए, तो एक दिन के लिए, सिर्फ एक दिन के लिए—मंदिर प्रतिष्ठापन के दिन—आप अपने सब अधिकार मुझे दे दें।

विशु : अगर कोणार्क पूरा हो जाता है, तो एक दिन क्या सभी दिनों के लिए वे अधिकार तुम्हारे हो जाएँगे। मैं तुम्हें अपने स्थान पर प्रधान शिल्पी बना दूंगा।

राजीव : यह आप क्या कह रहे हैं, महाशिल्पी ?

मुकुंद : (साश्चर्य) विशु ?

विशु : मैं ठीक कह रहा हूँ। इस युवक की प्रतिभा ने मुझे मुग्ध कर लिया है। मुझे प्रधान के पद से कोई मोह नहीं। मोह है तो यही कि कोणार्क पूरा हो जाए ! ...आज इस युवक ने ठंडी होती हुई राख को फूंक मारकर प्रज्ज्वलित कर दिया है। मेरे हाथ, मेरी भावनाएँ इसी क्षण कोणार्क को पूरा करने के लिए आतुर हैं। ...चलो युवक ! (धर्मपद का हाथ पकड़कर मध्य द्वार से सवेग प्रस्थान)

राजीव : आर्य, यह आशा की किरण है या...

मुकुंद : या दामिनी का क्रूर हास ! राजीव, कोणार्क के क्षितिज पर बादल उमड़ रहे हैं, उमड रहे हैं।

(पटाक्षेप)

—जगदीशचंद्र माथुर

प्रश्न-अभ्यास

१. धर्मपद के प्रति विशु के अतिशय स्नेह का मुख्य कारण क्या था ?
   (क) धर्मपद का आशु-शिल्पी होना।
   (ख) धर्मपद का निश्छल और व्यवहार-कुशल होना।
   (ग) धर्मपद की आकृति और कला में अपनी झलक देखना।
   (घ) घोर विपत्ति और असहायता की स्थिति में आशाकिरण बनकर धर्मपद का आना।
   (ङ) धर्मपद का निडर और विद्रोही स्वभाव का होना।

२. कला के संबंध में आचार्य विशु और धर्मपद के दृष्टिकोणों के अंतर को स्पष्ट कीजिए। साथ ही यह भी बताइए कि आपको किसका दृष्टिकोण सही प्रतीत होता है और क्यों ?

३. इस नाटक में कला के संबंध में क्या-क्या बातें कही गई हैं ?

४. राजराज चालुक्य के अत्याचारों और मनमानी का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए। साथ ही इनके आधार पर उनके भावी क्रिया-कलापों का भी संकेत दीजिए।

५. 'कोणार्क' के इस अंक में आचार्य विशु की कौन-कौन-सी विशेषताएँ चित्रित की गई हैं ? उपयुक्त कथा-प्रसंगों का उल्लेख करते हुए वर्णन कीजिए।

६. "तात, उसकी (धर्मपद की) ओजमयी वाणी में आपको विस्मृत विद्रोह का ताप मिलेगा।" राजीव के इस कथन से धर्मपद के चरित्र की कौन-सी विशेषता प्रकट होती है ?

७. इस नाटकांश में प्रयुक्त विशेषणों के कलात्मक प्रयोग पर टिप्पणी कीजिए।

८. "नाटकों के संवाद के लिए लंबे-लंबे मिश्र वाक्य उपयुक्त नहीं होते। किन्तु भावावेश की स्थिति में लंबे वाक्य बोले जाते हैं जिनमें विस्तारी पदबंधों का प्रयोग खूब होता है विपर्यय करके।" इस पाठ से कम से कम पाँच ऐसे वाक्य चुनिए।

९. रंगमंच, वेष-भूषा, अभिनय और निर्देशन के लिए इस नाटक में लेखक ने क्या-क्या संकेत दिए हैं ? इनकी सहायता से अपने विद्यालय के किसी समारोह में इसका अभिनय कीजिए।

१०. निम्नलिखित अंशों की व्याख्या कीजिए—
   (क) पत्थर का यह मंदिर.........खड़ा कर दिया है।
   (ख) निर्दय अत्याचार की छाया में.........जरूरत नहीं आर्य !

जैनेन्द्रकुमार

जैनेन्द्र जी का जन्म अलीगढ़ जिले के कौड़ियागंज में सन् १६०५ ई० में हुआ था। आपने मैट्रिक तक की शिक्षा हस्तिनापुर के जैन गुरुकुल में प्राप्त की। तत्पश्चात् उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिए आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया। उस समय देश में गांधीजी के असहयोग आंदोलन की बड़ी धूम थी। जैनेन्द्रजी भी अध्ययन छोड़कर उसमें सम्मिलित हो गए। वस्तुतः राजनीति की अपेक्षा आपकी रुचि गांधीजी के अहिंसात्मक जीवन-दर्शन में अधिक थी। गांधीजी के सिद्धांतों से आप इतने प्रभावित थे कि बाद में सत्य और अहिंसा के सिद्धांत आपके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग बन गए।

जैनेन्द्रजी हिन्दी-साहित्य में अपने कथा-साहित्य के कारण प्रसिद्ध हैं। उनके 'एक रात', 'वातायन', 'दो चिड़ियाँ', 'नीलम देश की राजकन्या' आदि अनेक कहानी-संग्रह और 'कल्याणी', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'परख', 'जयवर्धन' आदि अनेक प्रसिद्ध उपन्यास हैं। आपने अनेक उत्कृष्ट निबंधों की भी रचना की है जो 'जैनेन्द्र के विचार', 'प्रस्तुत प्रश्न', 'संस्मरण' आदि विविध निबंध-संग्रहों में संगृहीत हैं। 'समय और हम' तथा इतस्ततः' आपकी नवीन रचनाएँ हैं जिनमें, अन्य कृतियों की भाँति जीवन की समस्याओं का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मिलता है। कथाकार जैनेन्द्र संप्रति विचारक बन गए हैं। सामयिक समस्याओं पर आपके सुलभ विचार 'नवभारत टाइम्स' के माध्यम से नियमित रूप से पढ़ने को मिलते हैं।

'भाग्य और पुरुषार्थ' जैनेन्द्र जी का विचारात्मक निबंध है जिसमें आपने दोनों को अलग-अलग इकाइयाँ न मानकर एक ही सत्य के दो पहलू सिद्ध करने के लिए अकाट्य तर्क दिए हैं। तर्कों और स्थापनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने में प्रांजल भाषा का भरपूर सहयोग मिला है। गंभीर एवं सूक्ष्म विचार की अभिव्यक्ति के लिए भाषा कितनी गहराई तक क्षमतापूर्वक उतर सकती है, इसका अनुभव इस पाठ के बार-बार अनुशीलन से ही संभव है।

९. भाग्य और पुरुषार्थ

भाग्य और पुरुषार्थ विपरीत नहीं तो अलग तो समझे ही जाते हैं। मैं ऐसा नहीं समझ पाता।

भाग्य का उदय मेरे निकट निरर्थक शब्द नहीं है। स्पष्ट ही भाग्योदय शब्द में आशय है कि मैं प्रधान नहीं हूँ, भाग्य प्रधान है। पुरुषार्थ मैं कर सकता हूँ, लेकिन भाग्योदय उससे स्वतंत्र तत्त्व है। हो सकता है कि लोगों को यह मानने में कठिनाई हो, मुझे इसे स्वीकार करने में उल्टे अपनी धन्यता मालूम होती है।

एक शब्द है सूर्योदय। हम जान गए हैं कि उदय सूरज का नहीं होता। सूरज तो अपेक्षतया अपनी जगह रहता है, चलती-घूमती धरती ही है। फिर भी सूर्योदय शब्द हमको बहुत शुभ और सार्थक मालूम होता है।

भाग्य को भी मैं इसी तरह मानता हूँ। वह तो विधाता का ही दूसरा नाम है। वे सर्वांतर्यामी और सार्वकालिक रूप में हैं, उनका अस्त ही कब है कि उदय हो। यानी भाग्य के उदय का प्रश्न सदा हमारी अपनी अपेक्षा से है। धरती का रुख सूरज की तरफ़ हो जाए, यही उसके लिए सूर्योदय है। ऐसे ही मैं मानता हूँ कि हमारा मुख सही भाग्य की तरफ़ हो जाए तो इसी को भाग्योदय कहना चाहिए।

लेकिन ऐसा हुआ नहीं करता। पुरुषार्थ की इसी जगह संगति है। अर्थात् भाग्य को कहीं से खींचकर उदय में लाना नहीं है, न अपने साथ ही ज्यादा खींचतान करनी है। सिर्फ़ मुँह को मोड़ लेना है। मुख हम हमेशा अपनी तरफ़ रखा करते हैं। अपने से प्यार करते हैं, अपने को ही चाहते हैं। अपने को आराम देते हैं, अपनी सेवा करते हैं। दूसरों को अपने लिए मानते हैं, सब कुछ को अपने अनुकूल चाहते हैं। चाहते यह हैं कि

हम पूजा और प्रशंसा के केन्द्र हों और दूसरे आस-पास हमारे इसी भाव में मँडराया करें। इस वासना से हमें छुट्टी नहीं मिल पाती। तब कभी होता है कि ऊपर से गहरा दुख आ पड़ता है। वह हमें भीतर तक विदीर्ण कर जाता है। कुछ क्षण के लिए जैसे हमारी अहंता को शून्य कर डालता है। यह शून्यावस्था भगवत् कृपा से ही प्राप्त होती है। इसलिए मैं मानता हूँ कि दुख भगवान का वरदान है। अहं और किसी औषध से गलता नहीं। दुख ही भगवान का अमृत है। वह क्षण सचमुच ही भाग्योदय का हो जाता है, अगर हम उसमें भगवान की कृपा को पहचान लें। उस क्षण सरल होता है कि हम अपने से मुड़ें और भाग्य के सम्मुख हों। बस इस सम्मुखता की देर है कि भाग्योदय हुआ रखा है। असल में उदय उसका क्या होना है, उसका आलोक तो कण-कण में व्याप्त सदा-सर्वदा है ही। उस आलोक के प्रति खुलना हमारी आँखों का हो जाए बस उसी की प्रतीक्षा है। साधना और प्रयत्न सब उतने मात्र के लिए हैं। प्रयत्न और पुरुषार्थ का कोई दूसरा लक्ष्य मानना बहुत बड़ी भूल करना होगा; ऐसी चेष्टा व्यर्थ सिद्ध होगी।

दुनिया में हम देखते तो हैं। लोग हैं कि बहुत हाथ-पैर पटक रहे हैं, दिन-रात जोड़-तोड़ में लगे रहते हैं। कोशिश में तो कमी नहीं है, पर सिद्धि कुछ नहीं मिल पाती। तो आखिर ऐसा क्यों है ? कोशिश की पुरुषार्थ में सिद्धि मानें तो यह दृश्य नहीं दीखना चाहिए कि हाथ-पैर पटकनेवाले लोग व्यर्थ और निष्फल रह जाएँ। अगर वे व्यर्थ-प्रयास करते रहते हैं तो अंत में यह कह उठें कि क्या करें, भाग्य ही उल्टा है, तो इसमें गलती नहीं मानी जाएगी। सच ही अधिकांश यह होता है कि उनका और भाग्य का संबंध उल्टा होता है। भाग्य के स्वयं उल्टे-सीधे होने का तो प्रश्न ही क्या है ? कारण, उसकी सत्ता सर्वत्र व्याप्त है। वहाँ दिशाएँ तक समाप्त हैं। विमुख और सम्मुख जैसा वहाँ कुछ संभव ही नहीं है। तब होता यह है कि ऐसे निष्फल प्रयत्नों वाले स्वयं उससे उल्टे बने रहते हैं; अर्थात् अपने को ज्यादा गिनने लग जाते हैं, शेष दूसरों के प्रति अवज्ञा और उपेक्षाशील हो जाते हैं। कर्म में अधिकांश यह दोष रहता है, उसमें एक नशा

होता है। नशा चढ़ने पर आदमी भाग्य और ईश्वर को भूल जाता है और विनय की आवश्यकता को भी भूल जाता है। यों कहिए कि जान-बूझकर भाग्य से अपना मुँह फेर लेता है। तब, उसे सहयोग न मिले तो उसमें विस्मय ही क्या है ?

ऊपर के शब्दों में आप कृपया कर्म की अवज्ञा न देखें, उसके साथ अकर्म के महत्त्व को भी पहचानें। अकर्म का आशय कर्म का अभाव नहीं, कर्तृत्व का क्षय है। 'मैं यह कह रहा हूँ, मैं वह करने वाला हूँ, मैं यह सब कुछ करके छोड़ूँगा', आदि-आदि अहंकारों से किया गया कर्म, यदि सिद्धि और सफलता न लाए बल्कि बंधन और क्लेश उपजाए, तो इसमें तर्क की कोई असंगति नहीं है। पुरुषार्थ का अर्थ मेहनत ही नहीं है, सहयोग भी है। अहं के बल पर चलने से यह सहयोग क्षीण होता है। तब उसको पुरुषार्थ भी क्या कहना ?

पुरुषार्थ वह है जो पुरुष को सप्रयास रखे, साथ ही सहयुक्त भी रखे। यह जो सहयोग है, सच में पुरुष और भाग्य का ही है। पुरुष अपने अहं से वियुक्त होता है, तभी भाग्य से संयुक्त होता है। लोग जब पुरुषार्थ को भाग्य से अलग और विपरीत करते हैं तो कहना चाहिए कि वे पुरुष को ही उसके अर्थ से विलग और विमुख कर देते हैं। पुरुष का अर्थ क्या पशु का ही अर्थ है ? बल-विक्रम तो पशु में ज्यादा होता है। दौड़-धूप निश्चय ही पशु अधिक करता है। लेकिन यदि पुरुषार्थ पशु-चेष्टा के अर्थ से कुछ भिन्न और श्रेष्ठ है तो इस अर्थ में कि वह केवल हाथ-पैर चलाना नहीं है, न क्रिया का वेग और कौशल है, बल्कि वह स्नेह और सहयोग भावना है। सूक्ष्म भाषा में कहें तो उसकी अकर्तृत्व-भावना है। वासना से पीड़ित होकर पशु में अद्भुत पराक्रम दीख जा सकता है। किन्तु, यह पुरुष के लिए ही संभव है कि वह आत्मविसर्जन में पराक्रम कर दिखाए।

भाग्योदय शब्द में हम इसी सार को पहचानें। भाग्यवादी बनना दूसरी चीज है, उसमें हम भाग्य को अपने ऊपर मानते हैं। भाग्य का यह मानना बहुत ओछा और अधूरा होता है। सचमुच ही इसे मानने से पुरुषार्थ की हानि होती है। पर भाग्य से

अपने को अलग मानने का हमें अधिकार ही कहाँ है ? भाग्य के यदि हम आत्मीय बनें तो हमारी उसके साथ लड़ाई ही समाप्त हो जाए। तब भाग्योदय का क्षण हमारे लिए नहीं आता, क्योंकि क्षण-क्षण और प्रतिक्षण हमें भाग्योदय अनुभव होता है। भाग्य यहाँ से वहाँ तक हमारे जीवन को उदित और आलोकित करता है। ऐसा व्यक्ति विरोधी यत्न या श्रम नहीं करता। उसकी कुछ अपनी आकांक्षा अथवा वासना नहीं रहती। उसका कर्म इसलिए उसे थकाता नहीं, अकर्म की प्रेरणा रहने से उसके कर्म में प्रतिक्रिया नहीं होती, न बंधन रह जाता है। मानो, कर्म उससे भाग्य ही कराता है, इसलिए प्रत्येक कर्म उसके भाग्य को प्रशस्त और विस्तृत ही करता जाता है।

भाग्य के प्रति अभ्यंतर में अर्पित होकर पुरुष जो भी पुरुषार्थ करता है, वह उसे उत्तरोत्तर मुक्त और समग्र ही करता जाता है। भाग्य के प्रति अवज्ञा रखना अपने से शेष के प्रति अवज्ञाशील होने के बराबर है। इसे बुद्धि के प्रमाद का ही लक्षण मानना चाहिए। हमारी हस्ती क्या है ? आखिर गिनती के कुछ साल हम जीते हैं, फिर सदा के लिए मर जाते हैं। चाहे फिर-फिर भी पैदा होते हों, लेकिन हमारी यह अहंता तो यहीं-की-यहीं रह जाती है। पर हमारे मर जाने से क्या अस्तित्व कुछ भी घटता है ? जगत् और इतिहास तो चलता ही रहता है। तब इससे बड़ी मूर्खता दूसरी क्या होगी कि हम अपने कतिपय वर्षों के साढ़े-तीन हाथ के सीमित अस्तित्व को सब कुछ मान लें और उस कारण बाकी त्रिकाल-त्रिलोक को अमान्य ठहरा दें। भाग्य को न मानना इस तरह उस सब कुछ को न मानना है जो सचमुच सीमाहीन भाव से है। सच पूछिए तो उदय उसी का है और हमारे पुरुषार्थ के भीतर से उसी का निहित अर्थ पूरा हो रहा है। उस भाग्य को प्रणत भाव से स्वीकार करने में मैं अपने पुरुषार्थ के परमार्थ को ही स्वीकार करता हूँ, उस अर्थ को किसी भी अर्थ में और तनिक भी मंद नहीं करता।

अर्थ हमारा स्वार्थ बन जाएगा, पुरुषार्थ वह नहीं कहलाएगा, अगर भाग्य के परमार्थ से उसे हम नहीं जोड़ सकेंगे। उस स्वार्थ के जो चक्र में हैं, वे भाग्योदय की

प्रतीक्षा में रहे ही चले जा सकते हैं। क्योंकि जिसके उदय की वे राह देखते हैं वह तो उदित है ही, केवल उनकी पीठ उस तरफ़ है। इसलिए उन्हें मालूम नहीं है कि जिसको वे सामने देख रहे हैं वह भी उसी के प्रकाश से प्रकाशित है और कमनीय जान पड़ रहा है। इच्छाएँ नाना हैं और नाना विधि हैं और वे उसे प्रवृत्त रखती हैं। उस प्रवृत्ति से वह रह-रहकर थक जाता है और निवृत्ति चाहता है। यह प्रवृत्ति और निवृत्ति का चक्र उसको द्वंद्व से थका मारता है। इस संसार को अभी राग-भाव से वह चाहता है कि अगले क्षण उतने ही विराम भाव से वह उसका विनाश चाहता है। पर राग-द्वेष की वासनाओं से अंत में झुँझलाहट और छटपटाहट ही उसे हाथ आती है। ऐसी अवस्था में उसका यह सच्चा भाग्योदय कहलाएगा अगर वह नत-नम्र होकर भाग्य को सिर-आँखों लेगा और प्राप्त कर्तव्य में ही अपने पुरुषार्थ की इति मानेगा।

—जैनेन्द्र कुमार

प्रश्न-अभ्यास

१. भाग्य और पुरुषार्थ को आम तौर पर लोग एक-दूसरे का विरोधी मानते हैं, किन्तु लेखक ऐसा क्यों नहीं मानता?

२. लेखक जीवन की सार्थकता किस बात में मानता है?

३. सूर्योदय का उदाहरण लेखक ने अपनी किस बात को स्पष्ट करने के लिए दिया है? इस उदाहरण की उपयुक्तता पर टिप्पणी कीजिए।

४. लेखक भाग्योदय को आकस्मिक संयोग मानता है या पुरुषार्थ का परिणाम? लेखक के कथन से उपयुक्त उद्धरण देते हुए अपने उत्तर की पुष्टि कीजिए।

५. भाग्योदय के लिए किन अनुकूल परिस्थितियों की आयोजना करने के लिए लेखक ने परामर्श

दिया है ? भाग्योदय में पुरुषार्थ का क्या योगदान लेखक ने बताया है ?

६. अहं से आप क्या समझते हैं ? इसके विनाश के लिए लेखक ने कौन-सी औषध बताई है ?

७. भाग्योदय के संबंध में लेखक ने ईश्वरीय कृपा का क्या महत्त्व बताया है ?

८. कैसे लोग भरपूर कर्तव्य करने पर भी अपना भाग्योदय नहीं कर पाते ? लेखक ने उनकी कर्तव्यशीलता में क्या दोष बताया है ? आपकी दृष्टि से यह निष्कर्ष कहाँ तक ठीक है ?

९. भाग्यवादी बनने से लेखक ने मना किया है, किन्तु भाग्य का अनादर करने से भी मना क्यों किया है ? भाग्यवादी न बनकर लेखक ने व्यक्तियों को क्या बनने की प्रेरणा दी है ?

१०. भाग्य और पुरुषार्थ में लेखक ने जो संबंध स्थापित किया है, उसे अपने शब्दों में लिखिए।

११. निम्नलिखित अंशों की व्याख्या कीजिए—

(क) भाग्य के प्रति अभ्यंतर·········के बराबर है।

(ख) इच्छाएँ नाना हैं·········धक्का मारता है।

१२. इस पाठ की भाषा-शैली की किन्हीं तीन विशेषताओं का सोदाहरण उल्लेख कीजिए।

टिप्पणियाँ

१. कबीर साहब से भेंट

समाराधना : श्रेष्ठ पूजा, उपासना।

वर्ग-भावना : धनी-निर्धन की भावना, स्वजातीय या समान-धर्मी लोगों की सामूहिक भावना।

एकात्मकता : अभिन्नता, 'सभी एक हैं' की भावना।

अंत्यज : शूद्र, अछूत।

धनतंत्र : पूंजीवादी व्यवस्था।

संभ्रांत : कुलीन, आदरणीय।

अनुष्ठान : धार्मिक कार्य, देवताओं की पूजा।

२. निन्दा रस

साइक्लोन : चक्रवात, वह तेज और धूलभरी आंधी जो गोल चक्कर काटती हुई बहे।

'धृतराष्ट्र की···' : धृतराष्ट्र जन्मांध थे, किन्तु उनकी भुजाओं में बड़ी शक्ति थी। ऐसा प्रसिद्ध है कि महाभारत युद्ध के उपरांत जब उन्हें मालूम हुआ कि उनका ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन भीम के हाथों मारा गया है तो उनके मन में भीम से प्रतिशोध लेने की इच्छा जागी। उन्होंने व्यक्त रूप में भीम की प्रशंसा की और उनसे मिलने की इच्छा प्रकट की। श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र के मंतव्य को भाँप गए और उन्होंने भीम के लोहे के पुतले को आगे बढ़ाकर कहा कि भीम खड़े हैं। कहते हैं कि धृतराष्ट्र के दबाने से लोहे का पुतला चूर-चूर हो गया।

नागफनी : एक विशेष प्रकार का कैक्टस का पौधा जिसमें टहनियों की जगह केवल साँप के फण के आकार के काँटेदार दल होते हैं जो चुभकर बड़ी पीड़ा देते हैं।

कैटलॉग : सूची।

आँगन कुटी छवाय : निन्दकों के संबंध में कबीर का प्रसिद्ध दोहा—

निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय ।
बिन साबुन पानी बिना, निरमल करे सुभाय ।

मिशनरी : पादरियों की संस्था जो बड़ी लगन एवं तत्परता से अपना कार्य करती है, लगन एवं तत्परता से काम करने की भावना ।

ट्रेड यूनियन : मजदूरों का संघ जो उनकी भलाई, वेतन-वृद्धि आदि के लिए संघर्ष करता है ।

बहुजन हिताय : बौद्ध धर्म का एक लक्ष्य जिसके अंतर्गत अधिकाधिक लोगों की भलाई एवं सुख के लिए कार्य करना होता है : 'बहुजन हिताय : बहुजन सुखाय ।'

इंद्र : देवताओं के राजा जो वर्षा के देवता रूप में भी प्रसिद्ध हैं और जिन्होंने वज्र से वृत्रासुर का नाश किया था ।

सत्य-कल्पित कलंक-कथा : दूसरों को बदनाम करने के लिए गढ़ी गई कहानी जो सत्य जैसी लगे ।

चेखव : अंतोव पाव्लोविच चेखव (१८६०-१९०४), रूसी कथा-साहित्यकार । प्रेमचंद के मत से 'चेखव संसार के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखक हैं ।'

पिलपिले अहं : दुर्बल चित्त ।

३. महामानव

बंद : छंद, कविता का एक अंश जिसकी तुक आदि मिलती हो, पाँच या छह मिसरों के उर्दू-फारसी पद्य का टुकड़ा ।

सॉनेट : अँगरेज़ी कविता में चौदह पंक्तियों का एक लोकप्रिय छंद ।

चमरौधा : चमड़े का बना जूता जिसे प्रायः ग्रामीण लोग पहनते हैं ।

साम, दाम, दंड, भेद : शत्रु को वश में करने के चार उपाय, जिनका उल्लेख चाणक्य के 'कौटिल्य शास्त्र' में मिलता है । साम—विनम्रता । दाम—धन या घूस । दंड—ताड़ना, सज़ा । भेद—फूट ।

छत्रसाल : (१६४९-१७३१ ई०) शिवाजी के समकालीन, प्रसिद्ध बुंदेल योद्धा और पन्ना राज्य के संस्थापक । भूषण ने छत्रसाल की वीरता से प्रभावित होकर लिखा है—'सिवा को सराहौं कि सराहौं छत्रसाल को ।'

अवधी : हिन्दी की एक बोली जो लखनऊ के आस-पास के अवध के जिलों में बोली जाती है।

बारो : उबारो, उद्धार करो।

गामा : विभाजन पूर्व के भारत का एक प्रसिद्ध पहलवान जिसने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की थी।

ध्यानचंद : हाकी के प्रसिद्ध खिलाड़ी, १९३६ के ओलपिक में भारत ने इनके नेतृत्व में स्वर्ण-पदक जीता था।

४. विज्ञापन-युग

चस्पाँ : चिपकाना।

एलोरा : महाराष्ट्र के औरंगाबाद स्टेशन से २४ कि०मी० उत्तर-पश्चिम में स्थित। अजंता की भाँति एलोरा की गुफाएँ अपनी मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। ठोस शिलाखंडों में निर्मित मंदिरों के लिए विश्व-विख्यात हैं। अजंता चित्र-प्रधान है जबकि एलोरा मूर्ति-प्रधान।

मीनाक्षी : तमिलनाडु के मदुरै नगर में स्थित दक्षिण भारत का एक प्रसिद्ध मंदिर।

खजुराहो : मध्य प्रदेश के छतरपुर नगर से ४० कि०मी० दूर एक गाँव जो अपने मंदिरों के लिए प्रसिद्ध है। आज यहाँ २५ मंदिर विभिन्न दशाओं में विद्यमान हैं जिनमें चौंसठ योगिनीसाक्त प्रसिद्ध हैं। इसका समय नौवीं सदी के मध्य से बारहवीं सदी के मध्य तक है। यह मिथुन मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध है।

बर्नार्ड शा : जार्ज बर्नार्ड शा (१८५६-१९५०) सुप्रसिद्ध आयरिश नाटककार जो अपनी चुभती उक्तियों के लिए तथा कपटाचार का भंडाफोड़ करने के कारण प्रसिद्ध थे।

प्रशांत सागर : एशिया और अमरीका के बीच का एक महासागर जो सभी महासागरों से विशाल और गहरा है।

क्लोरोफिल : पत्तों के अंदर का हरा पदार्थ जिसका उपयोग किसी किसी टूथपेस्ट में भी होता है।

मिलियन : दस लाख।

स्वनामधन्य : जो व्यक्ति या वस्तु अपनी उपयोगिता एवं महत्त्व के कारण अपने नाम को अमर कर दे।

कोको : उष्ण कटिबंध के देशों में (विशेषकर अफ्रीका के विषुवत् रेखा के आस-पास के देशों में) पाया जानेवाला एक प्रकार का ताड़ जिसके फल से कोको बनाया जाता है।

ईथर : अलकोहल पर गंधक के या दूसरे तेजाबों की प्रक्रिया से उत्पन्न एक वर्णहीन द्रव जिसका इस्तेमाल टीका देने के पहले और बाद में किया जाता है।

लिवर-इमल्शन : एक प्रकार की औषधि जो जिगर को ठीक रखती है।

विटामिन कंप्लेक्स : विभिन्न विटामिनों का मिश्रण।

लिवर-साल्ट : यकृत को ठीक करने के लिए निर्मित एक विशेष प्रकार का लवण।

५. लोभ और प्रीति

व्यभिचार : स्थिर न रहना, दुश्चरित्रता।

सामान्योन्मुख : जिस व्यक्ति की दृष्टि सामान्य वस्तु, व्यक्ति आदि की ओर हो।

विशेषोन्मुख : वस्तु विशेष की ओर दृष्टि रखने वाला।

संवेदात्मक : अनुभूतिसंबंधी, ज्ञानसंबंधी।

अनन्य : दृढ़ निष्ठा वाला, एक के सिवा किसी दूसरे की ओर न जानेवाला।

बाबू हरिश्चंद्र : भारतेन्दु हरिश्चंद (सन् १८५०-१८८४ ई०)। वर्तमान हिन्दी गद्य के प्रवर्तक जो हिन्दी-साहित्य को नए मार्ग पर लाए।

मनस्तत्त्व : चित्त, मनसंबंधी ज्ञान।

अंतर्योग : भीतरी संबंध, आंतरिक गठबंधन।

ढब : तरीका, ढंग।

आश्रय : जिसके मन में भाव उठे।

आलंबन : जिसके कारण मन में भाव उठे।

अंतर्वृत्ति : हृदय, अंतःकरण।

६. परंपरा बनाम आधुनिकता

उपादान : जिस सामग्री से कोई वस्तु बनाई जाए।

वैदिक : जिस काल में वेदों की रचना हुई और जब वैदिक धर्म प्रचलित था; आज से लग-

भग पाँच-छह हजार वर्ष पहले।

अपभ्रंश युग : लगभग छठी से बारहवीं शताब्दी, व्याकरण के नियमों में जब प्राकृत भाषा बँध गई तो जनभाषा के रूप में चार बोलियाँ व्यवहृत होने लगीं जिन्हें अपभ्रंश (बिगड़ी हुई) भाषा कहते हैं।

मनोभाव : वृत्ति, मन का भाव।

यवन : यूनान का निवासी, मुसलमान।

समंजस : संगति, उपयुक्तता, समीचीनता।

परिवर्तमान : जो बदल रहा हो, जो परिवर्तन की स्थिति से गुजर रहा हो।

वात्याचक्र : उथल-पुथल, बवंडर, चक्रवात।

महनीय : मूल्यवान, बहुमूल्य, श्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण।

स्थिति-संरक्षक : यथावत् स्थिति बनाए रखनेवाला।

असंपृक्त : अलग।

आधार-आधेय : (आधाराधेय), आश्रय और आश्रयी।

कठमुल्ला : कट्टर, मूर्ख, कम पढ़ा हुआ।

८. कोणार्क

कोणार्क : ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर तेरहवीं शताब्दी तक उड़ीसा में एक के बाद एक विशाल, भव्य एवं कलापूर्ण मंदिरों का निर्माण हुआ जिनमें कोणार्क का सूर्य-मंदिर सर्वोत्कृष्ट और सबसे अंतिम है। इस परंपरा के मंदिरों में स्थापत्य, कल्पना और कला की विविधता की दृष्टि से यह मंदिर सर्वश्रेष्ठ है जिसका निर्माण उड़ीसा के तत्कालीन सम्राट नरसिंहदेव ने कराया था। यह पुरी और भुवनेश्वर से लगभग तीस कि०मी० दूर समुद्रतट पर स्थित है। इस मंदिर के उपपीठ पर अंकित युगल मूर्तियाँ कलापूर्ण साथ ही रहस्यपूर्ण हैं। यद्यपि यह सभी मंदिरों के बाद में बना तथापि यह भग्नावस्था में है। केवल इसका जगमोहन सुरक्षित है जो भीतर से सादा पर बाहर से अलंकृत है। इसका शिखर-स्तूप कोणाकार है और तीन तलों में विभक्त है। मंदिर का मुख्य भाग इस समय पत्थरों का ढेर है। उसका नट-मंदिर भी धराशायी है। केवल बाकी है विमान से सटा हुआ मंडप जो

एक विस्तीर्ण मेधि पर दीपक की अकेली लौ की भाँति खड़ा है।

उत्कल : उड़ीसा का पुराना नाम।

नरसिंहदेव : गंगवंशीय महाप्रतापी राजा, जिसका राज्यकाल ई० सन् १२३८-१२६४ तक माना जाता है।

पाषाण-कोर्तक : पत्थर को काटने वाला, मूर्तिकार, तक्षक।

प्रतिहारी : द्वारपाल, चपरासी।

भोग-मंदिर : प्रसाद रखने एवं बाँटने के लिए निर्मित भवन।

जगमोहन : मंदिर के गर्भ-गृह के बाहरवाला भाग, मंडप जहाँ दर्शक एवं श्रोता बैठें।

मेधि : जुआ, कोणार्क मंदिर का आकार रथ का है जिसमें सात घोड़े जुते हैं जो सात दिन के प्रतीक हैं। इन्हीं अश्वों को बाँधनेवाला भाग।

छप्र : छप्पर, छत।

अम्ल : मंडप का ऊपरी खाली भाग जिसपर अम्लशिला और कलश रखकर उसे आच्छादित किया जाए।

त्रिपटधर : मंडप के आकार का पत्थर-खंड जो अम्ल पर आधृत हो तथा मंदिर को आच्छादित करे।

अधोअंश : निचला हिस्सा।

महामात्य : मुख्य मंत्री।

महादंड पाशिक : पुलिस विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी। वर्तमान आरक्षी महानिरीक्षक (आई० जी०) के समकक्ष-सा।

महाराना : उड़ीसा में यह शब्द शिल्पी के लिए व्यवहृत होता है।

कीर्तिस्तंभ : स्मारक रूप में बनाया गया स्तंभ, जैसे चित्तौड़गढ़ का विजय-स्तंभ आदि।

उद्दाम : निरंकुश।

शबर : भारत की एक आदिम जाति। कोल, भील आदि की तरह की एक आदिवासी जाति।

रागिनी : संगीत में छत्तीस रागिनियाँ होती हैं। ये राग की अपेक्षा विशेष कोमल एवं श्रुति-मधुर होती हैं।

अँगरखा : एक लंबा कुर्ता जो शेरवानी से मिलता-जुलता है किन्तु जिसमें बटन की जगह बंद

लगे होते हैं।

आशु-शिल्पी : जन्मजात शिल्पकार, जन्मजात कारीगर।

तुरही : फूँककर बजाने का एक पतले मुँह का बाजा जो दूसरे सिरे की ओर बराबर चौड़ा होता जाता है।

वेत्रासन : बेंत का आसन, बेंत की बनी चटाई।

भट : सैनिक, योद्धा, वीर।

उत्तरीय : कंधे पर रखी जानेवाली चादर, दुपट्टा, ओढ़नी।

पैशाचिक : राक्षसी, राक्षस की भाँति।

बाजूबंद : बाजू में पहनने के लिए एक गहना भुजबंद।

अभिसंधि : षड्यंत्र, समझौता।

दंडविधान : वह कानून जिसके अनुसार अपराधी को उचित दंड दिया जा सके।

प्रतारणा : ठगी, वंचना, लताड़।

यष्टि : आधार, लाठी।

पटल : छत।

६. भाग्य और पुरुषार्थ

सार्वकालिक : भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों का, सभी समयों के लिए उपयुक्त।

अहंता : गर्व, घमंड, अहंकार।

शून्यावस्था : आत्मा की वह अवस्था जिसमें पहुँचकर वह सभी सांसारिक चिन्ताओं से मुक्ति पा जाती है।

सहयुक्त : संलग्न।

अकर्तृत्व : 'मैं ही काम करता हूँ' के अभिमान का अभाव, कर्तृत्व का अभाव।

अभ्यंतर : अंतःकरण।

प्रमाद : लापरवाही, गफलत, कर्तव्य को अकर्तव्य समझकर उससे अलग होना तथा अकर्तव्य को कर्तव्य समझकर उसमें लगना।

त्रिकाल : तीन काल—भूत, वर्तमान एव भविष्य।

प्रणत : विनीत, विनम्र।

❀ समाप्त ❀